प्रस्तावना

प्रातःस्मरणीय महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी निर्विवाद-रूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनका 'रामचरितमानस' न केवल एक अमर काव्य है वरन् वह अपने ढंग का अद्वितीय भी है। "गहरे अध्ययन के लिए वह गीता के समान ही मूल्यवान् ग्रन्थ है।"[1] फिर भी "यद्यपि रामायण विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबिले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता।"[2] आश्चर्य है कि मानस के इस भक्तिरस पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की अब तक किसी ने कोई चेष्टा न की। कारपेन्टर महोदय ने अंग्रेजी में 'थियोलोजी आफ़ तुलसीदास' लिखा, परन्तु वह एकाङ्गी निबंध मात्र है। अन्य सज्जनों ने मानस के अन्य-अन्य अङ्गों पर प्रकाश डालते हुये गोस्वामीजी के तत्त्व सिद्धान्तों और मानस के भक्तिरस पर भी कुछ-कुछ कह दिया है। परन्तु इस प्रकार की चर्चा से न तो मानस का प्रकृत उद्देश्य ही भली-भाँति स्पष्ट होता है और न मानस की अद्भुत लोकप्रियता का रहस्य ही भली भाँति विदित होने पाता है। मानस का अध्ययन करके हमने जिस साङ्गोपाङ्ग 'तुलसीमत" का अन्वेषण किया है उसे विद्वन्मण्डली के समक्ष उपस्थित करने के अभिप्राय से ही हमने यह निबंध लिखा है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि 'रामचरितमानस' न तो काव्यकला की प्रेरणा-

[1] गांधी-विचार दोहन पृष्ठ, ३०

[2] महात्मा गांधी का धर्मपंथ' पृष्ठ १२१

से तैयार हुआ है न इतिहास प्रेम की प्रेरणा से। वह यथार्थतः लोकहित की भावना से प्रेरित होकर निर्मित हुआ है। रामकथा और काव्यकला तो उस लोकहित की भावना के आवरण रूप हैं। इसी लोकहित की भावना के कारण गोस्वामीजी ऐसी बातें कह गये हैं जो एकत्र की जाने पर अनायास ही भक्तिशास्त्र का रूप धारण कर लेती हैं। वह भक्ति-शास्त्र भी ऐसा-वैसा नहीं। उसमें न केवल बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर सामञ्जस्य है, न केवल सनातन हिन्दूधर्म—और सनातन हिन्दू धर्म ही क्यों समग्र मानव धर्म—के विशुद्ध रूप का पूर्ण परिचय है, वरन् वह एकदम नकद धर्म है जो हिन्दू-अहिन्दू सभी को समान रूप से सम्मान्य हो सकता है। ऐसा अच्छा शास्त्र अनोखे काव्य-कौशल के साथ कहा जाने के कारण आज न केवल उत्तरीय भारत में घर-घर गूँज रहा है वरन् समग्र भारत में और भारत के बाहर भी अपना विलक्षण गौरव स्थापित किए हुए है।

हमारा निबन्ध आठ परिच्छेदों मे विभक्त हुआ है। पहिले परिच्छेद में हमने गोस्वामी जी और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध मे कुछ विचार प्रकट किये हैं। इसी परिच्छेद में मानस की महत्ता, उसकी प्रामाणिक प्रतियाँ, उसके टीकाकार और आलोचक, उसकी षडङ्ग परीक्षा आदि के विषय हैं। दूसरे परिच्छेद में हमने भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास, भक्ति की परिभाषा और भक्ति-मार्ग के गुण-दोषों की चर्चा की है। तुलसीमत को भली भाँति समझाने के लिये, हमारे विचार में, भूमिका रूप से इन दोनों परिच्छेदों की आवश्यकता थी। प्रथम परिच्छेद में हमने लक्ष्मण जी के प्रति कही गई भगवद्गीता का संक्षिप्त विवेचन करके तुलसीमत का सारांश दे दिया है और द्वितीय परिच्छेद मे हमने यह बता दिया है कि तुलसीमत किस प्रकार अखिल भारतीय भक्तिमार्ग का निर्दोष प्रतिनिधि बना हुआ है। तृतीय परिच्छेद में हमने आराधक (जीव) की चर्चा की है और चतुर्थ में आराध्य (राम) की। तृतीय परिच्छेद

में जीवों की चर्चा के साथ ही साथ साधुमत और लोकमत के सामञ्जस्य का भी कुछ दिग्दर्शन है तथा "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु" के ऐक्य का भी कुछ रहस्योद्घाटन। चतुर्थ परिच्छेद में राम के इष्टदेवत्व और उनके त्रैविध्य का—निराकार भाव, सुराकार भाव और नराकार भाव का—विस्तृत विवेचन है। साथ ही वैज्ञानिक ढङ्ग पर राजनीतिक दृष्टिकोण से रामकथा का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा भी की गई है। शेष परिच्छेदों में आराधना के सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। पञ्चम परिच्छेद में पहिले तो उस "माया" पर विचार किया गया है जो आराधक (जीव) को आराध्य (ब्रह्म) से अलग रखती है। फिर कर्म, ज्ञान और भक्ति के मार्गों की चर्चा करके धर्म और ज्ञान-वैराग्य का कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है। षष्ट परिच्छेद में 'भक्ति की परिभाषा, उसका महत्त्व, उसमे श्रद्धा के साथ विवेक और आसक्ति के साथ वैराग्य का समन्वय, ज्ञानमार्ग के साथ उसकी तुलना आदि विषय है। सप्तम परिच्छेद में भक्ति के साधनों की चर्चा है जिसमें कृपा और क्रिया का सामञ्जस्य बताते हुए तीसरे प्रकार की नवधा भक्ति का कुछ विस्तृत उल्लेख है। अष्टम परिच्छेद में वर्ण्य विषय का उपसंहार है। इसमें तुलसीमत की विशेषता और इस विशेषता के कारणों की चर्चा है। वर्णित विषय के विशेष विवरण के लिये पाठकों को विषय सूची देखनी चाहिए।

यह निबन्ध एक 'थेसिस' के रूप में लिखा गया है, इसलिये इसकी मौलिकता के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। जिस प्रकार का विषय हमने चुना है उसमें या तो सामग्री की परख के सम्बन्ध में मौलिकता होगी या उस सामग्री के संकलन में मौलिकता होगी या उस सामग्री के उपयोग मे मौलिकता होगी। गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ के पात्र मे भरकर जो सामग्री हम लोगों के सामने रख दी है उसका पूरा-पूरा मूल्य आंक ले जाना—उसकी पूरी-पूरी परख कर लेना—आसान

नहीं है। कई पंक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये है। हमने भी मौलिक अर्थो की बानगी अपने इस निबंध में, विशेष-कर अन्तिम परिच्छेद मे, दी है। साथ ही चार घाटों की आलोचना, साधुमत और लोकमत के, तर्क और श्रद्धा के तथा आसक्ति और विरक्ति के सम्बन्ध की चर्चा, सीता, भरत राम, और शंकर के निर्दोष चरित में "सक्ति सक्त भगवन्त गुरु" की झलक, आराध्य के त्रैविध्य का विवेचन, गोस्वामी जी की नयी नवधा भक्ति का रहस्योद्घाटन आदि ऐसे विषय हैं जो मौलिक कहे जा सकते हैं। "'क' ने इस पंक्ति अथवा प्रसङ्ग का ऐसा भाव लिया है 'ख' ने वैसा भाव लिया है परन्तु वास्तव में इसका रहस्य दोनों से भिन्न है जो इस प्रकार है।" इस ढङ्ग की आलोचना मौलिक ही कहाती है और इस ग्रन्थ में ऐसी मौलिकता का अभाव नहीं है। यह सब तो हुई सामग्री की परख के सम्बन्ध की मौलिकता। द्वितीय प्रकार की मौलिकता मे प्रस्तुत सामग्री के सङ्कलन की बात आती है। इस सङ्कलन की प्रक्रिया मे किस वस्तु अथवा पंक्ति का संग्रह करना और किसका त्याग करना तथा संग्रहीत विषयों और पंक्तियों का किस प्रकार वर्गीकरण करना यही मौलिकता का विषय है। हमे तो अपने निबन्ध के सम्बन्ध मे इसी अंश पर बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा है। अपनी समझ से हमने मानस की ऐसी एक भी पंक्ति नहीं छोड़ी जो किसी न किसी रूप से हमारे वर्ण्य विषय पर प्रकाश डाल रही हो। ऐसी लगभग ३५०० पंक्तियों को स्वतंत्र क्रम से जमा कर प्रकाशित कर देना ही किसी भी अनुसंधानकारी लेखक के लिये पर्याप्त समझा जा सकता है। अपने निबन्ध की कलेवर वृद्धि के भय से ही हमने अपने इस संग्रह को 'मानसमन्थन' नाम से एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया है। इस संग्रह के कारण हमें इस बात का संतोष है कि हमने इस निबन्ध में जो कुछ लिखा है वह मानस के किसी आंशिक आधार को लेकर नहीं वरन् उसकी समूची उक्तियों का

सामञ्जस्य करते हुए लिखा है। हाथी न तो सूँड़ के आकार का है न पूँछ के आकार का न पैर के आकार का। हाथी का प्रकृत आकार वही बता सकता है जिसने सभी अवयवों से परिपूर्ण समूचे हाथी को एक स्थान पर देखा है। तुलसी-सिद्धान्त का भी यही हाल है। वह वृहत्काय मानस में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। उसे एकत्र कर के सुन्दर क्रम से जमाया जाय तब पता चलेगा कि वह क्या है और कितना मूल्यवान् है। अन्यथा कोई लेखक गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी, कोई किसान, कोई चाँदी का रोजगारी आदि कहता रहेगा; कोई उनके आराध्य को शरीरी, कोई अशरीरी, कोई साकेतविहारी, कोई मर्यादा—पुरुषोत्तम आदि, कहता रहेगा; कोई उनके भक्तिपथ को साधुओं की सम्पत्ति कोई जनता की सम्पत्ति, कोई उसे ज्ञानमार्ग से हीन, कोई श्रेष्ठ कोई सहायक और कोई विरोधी आदि कहता रहेगा; और प्रमाण में अपने-अपने ढङ्ग की पत्तियाँ भी पेश करता जायगा। अब रही सामग्री के उपयोग की मौलिकता। सो हमने गोस्वामी जी द्वारा प्रदान की हुई सामग्री से भक्तिशास्त्र का—जिसे हम तुलसीमत भी कह रहे हैं—जैसा भवन तैयार किया है वह विवेचकों के समक्ष उपस्थित ही है। इस मकान का मलमा तो गोस्वामी जी महाराज ने दिया है परन्तु नक्शा हमारा निज का है। सन्तोष की बात तो यह है कि मानस द्वारा गोस्वामी जी की दी हुई समूची सामग्री इस नक्शे में इस प्रकार ठीक बैठ गई है कि शास्त्र का कोई भी अङ्ग न तो न्यून होने पाया और न विकृत ही होने पाया है। इस नक्शे की खूबी यह है कि इसमें गीता से लेकर गाधीवाद तक के सभी भारतीय साम्प्रदायिक तत्त्वों का समावेश हो गया है और यह भारतीय हिन्दूधर्म के साथ ही साथ अखिल जगत् के मानवधर्म का आश्रयस्थल-सा बन गया है। हमें तो विश्वास है कि तुलसीमत का यह धर्ममन्दिर भारतीय साहित्य में अपना विशेष स्थान रखेगा क्योंकि यह निबन्ध केवल एक कवि के कुछ विचारों अथवा

सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डालने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया है वरन् अखिल विद्वन्मण्डली की धर्म-सम्बन्धिनी विचारधारा की प्रगति में विशिष्ट सहयोग देने के उद्देश्य से लिखा गया है। हम अपने उद्देश्य और प्रयत्न में सफल हुए हैं अथवा असफल यह दूसरी बात है। इसका निर्णय हम पर नहीं वरन् सुविज्ञ विवेचक महोदयों पर निर्भर है।

प्रमुख पुस्तकें जिनसे उद्धरण लिये गये हैं और जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है।

(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद और उपनिषदें।

(२) गीता और महाभारत।

(३) श्रीमद्भागवत आदि पुराणग्रन्थ, भक्तिसूत्र (नारद और शाण्डिल्य कृत) तथा नारदपञ्चरात्र।

(४) आचार्य शंकर के अनेक ग्रन्थ।

(५) हरिभक्तिरसामृतसिंधु, भगवद्भक्तिरसायन, वैष्णवमताब्ज-भास्कर, श्रीरामपटल, रामार्चनचन्द्रिका आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थ।

(६) आह्निकसूत्रावली, सुरार्चनचन्द्रिका आदि वैधी पूजापद्धति के द्योतक ग्रन्थ।

(७) कुलार्णवतन्त्र आदि कुछ तन्त्रग्रन्थ।

(८) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।
इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन एंड एथिक्स।
वसुमहोदयकृत हिन्दीविश्वकोष।

(९) (क) शैविज़्म, वैष्णविज़्म इत्यादि—भांडारकर कृत।
(ख) अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव सेक्ट—रायचौधरी कृत।
(ग) अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णविज़्म इन साउथ इंडिया—के० ऐयंगार कृत।
(घ) रामानन्द टू रामतीर्थ—जी० ए० नटेसन कृत।

(१०) (क) कबीर आदि सन्त कवियों की रचनाएँ।
(ख) जायसी आदि सूफी कवियों की रचनाएँ।

(ग) सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ।

(११) संस्कृत के रामायणों (वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि)।

(१२) गोस्वामी जी के द्वादश ग्रन्थ तथा रामचरितमानस की अनेकानेक प्रतियाँ और मानसपीयूष आदि अनेकानेक टीकाएँ।

(१३) गोस्वामीजी की जीवनी के सम्बन्ध में भक्तमाल, मूलगोसाईं चरित आदि अनेक ग्रन्थ।

(१४) तुलसीदास जी की रचनाओं पर डाक्टर सर ग्रियर्सन, मेकफी, कारपेण्टर, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा डाक्टर बड़थ्वाल, रामदास गौड़, मिश्रबन्धु, सद्गुरुशरण, माताप्रसाद जासदार, विजयानन्द त्रिपाठी, बाबूराम युक्तिविशारद आदि के लिखे हुए आलोचनात्मक ग्रन्थ।

(१५) अनेकानेक मानसप्रेमियों के प्रवचन तथा लेख आदि।

(१६) (अ) महात्मा गांधी, डाक्टर भगवानदास आदि प्रमुख विद्वानों के धर्मविषयक लेख और व्याख्यान तथा (आ) कल्याण आदि अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ।

वे ऐसे ही सज्जनों की सेवा और संगति में अखिल कल्याण के बीज पाते हैं। इसलिये संतसेवा और सत्संग की महिमा में वे कहते हैं :—

संतसंग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ।
कहहिं सन्त कवि कोविद स्रुति पुरान सद्ग्रंथ ॥४२६-४,५

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥४-१६,२०
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥४-२२

परोपकारी सज्जनों की सेवा और संगति पर गोस्वामी जी ने इतना अधिक जोर दिया है और इन विषयों को कुछ इस ढंग से लिखा है कि उससे न केवल साधुमत का समर्थन होता है वरन् लोकमत का पुष्टीकरण भी स्पष्ट हो जाता है[1]। व्यक्तिगत साधना के लिये ऐसे सिद्धों के सत्संग की आवश्यकता तो थी ही परन्तु उस समय के भारतीय वातावरण में राष्ट्र-उत्थान के लिये भी यह आवश्यक था कि आर्यभावना वाले सज्जनों का पारस्परिक संग और संगठन हो। इसी लिये गोस्वामी जी ने न केवल विभिन्न सम्प्रदायवालों को समेटने की चेष्टा की है वरन् संग्राह्य सज्जनों की श्रेणी में अधिक से अधिक लोगों को समाविष्ट का प्रयत्न भी किया है।

गोस्वामी जी का कहना है कि दुर्जनों की संगति से ज्ञान नष्ट होता है, कुमति उत्पन्न होती है और परिणाम में नाना प्रकार की विपत्तियाँ

---

१ "साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिए है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्मभावना के भीतर है"—अध्यापकप्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल (देखिये तुलसी ग्रंथावली खंड ३ पृ० १२७)

आती है[1]। इसलिये वे कहते हैं कि यदि हो सके तो इन दुर्जनों का ऐसा निग्रह कर दिया जाय जिससे इनकी दुष्टता ही का उन्मूलन हो जावे और यदि ऐसा न हो सके तो इनसे दूर हट जाया जाय।[2] वे इन्हें कुत्ते की तरह दूर रखने की सलाह देते हैं[3]। सत्सङ्ग की पुष्टि के लिये दुःसङ्ग के विरुद्ध ऐसे तीव्र शब्दों का व्यवहार सर्वथा उचित था।

कौन दुर्जन है कौन सज्जन है यह जाने बिना त्याग और संग्रह की बात ही कैसे बन सकती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने दुर्जनों और सज्जनों के विस्तृत लक्षण बताये हैं[4]। दुर्जनों की श्रेणी में उन्होंने विशेष रूप से दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया है। एक तो हैं खल और दूसरे राक्षस। "खल बिनु स्वारथ पर अपकारी" (५०४-१) यही खलों की बड़ी सुन्दर परिभाषा है। गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र इन खलों का विस्तृत वर्णन किया है। ये खल लोग जब अपनी खलता में इतने मँज जाते हैं कि फिर जीते जी उनका उद्धार प्रायः असंभव हो जाता है, तब ये ही लोग राक्षस कहाते हैं। राक्षसों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की परिभाषा देखिये—

---

[1] बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसङ्ग सुसङ्ग—३३५ १६
काहुसुमति कि खल सङ्ग जामी—४६६-२६
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥
—३६२-८

[2] सन्त संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न त चलिय पराई॥ ३५-१, २

[3] कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल सन प्रीती॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥
४६७-१४, १५

[4] तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥ ६-११॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा॥
मानहिं मातु-पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥[1]
—२७-७ से ९

परद्रोही परदार रत परधन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥ ४६१-१३,१४[1]

जो राक्षसी वृत्ति से (१) सुख (२) सम्पत्ति (३) सुत (कामोपभोग द्वारा वंशविस्तार) (४) सैन्य (शासनबल) (५) सहाय (प्रभुत्व के लिये सङ्गठन) (६) जय (७) प्रताप (८) बल (शक्ति) (९) बुद्धि (१०) बड़ाई (जयघोष कराने की आकांक्षा) इस तरह दशों दिशाओं में आधिपत्य का प्रयत्न करता है, वह राक्षसराज दशमुख रावण की तरह है[2]। यदि कहीं ऐसा मनुष्य अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ तो संसार में त्राहि त्राहि मच जाती है[3]। उस समय किसी ऐसी विभूति का (डिक्टेटर का, सिद्धान्त विशेष का, किसी क्रान्ति का अथवा किसी अवतार का) आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है जो इन राक्षसों का दमन करके आर्य सज्जनों का पुनः सङ्गठन कर दे।

---

[1] संभव है कि गोस्वामी जी ने राक्षसों की भिन्न योनि की अमान्यता न प्रकट होने देने के लिए 'निशिचर सम" और देह धरे मनुजाद" की बात कही है।

[2] सुख सम्पति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥
८५-५, ६

[3] रावण राज्य के ऐसे वर्णन में कई लोग गोस्वामी जी के समय के यावनी साम्राज्य की ओर इशारा पाते हैं (देखिये "मानसहंस")

जगत् में सुव्यवस्था की स्थापना ही स्वाभाविक नियम है। अव्यवस्थित जगत् बहुत दिन तक टिक ही नहीं सकता। लोगों को सुव्यवस्था की ओर झुकना ही पड़ता है। इसलिये दुर्जनों का प्राबल्य एक तो होता ही कम है और यदि हुआ भी तो वह चिरस्थायी नहीं होता। उनके सामूहिक प्राबल्य को तोड़ने का सबसे सीधा उपाय यह है कि उनसे "असहयोग" किया जाय—उनकी सगति से दूर रहा जाय—और सज्जनों का एक सुचारु सङ्गठन कर लिया जाय। सज्जनता की मनःशक्ति ही कुछ इतनी जबर्दस्त होती है कि दुर्जनों पर उनका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। और, यदि सब आर्य सज्जनों का सुचारु सङ्घ (सुन्दर सङ्गठन) हो गया तब फिर उस आर्यसमाज अथवा आर्य राष्ट्र की शक्ति और उसके प्रभाव का कहना ही क्या है। इस शक्ति का प्रभाव दुर्जनों पर पडे बिना रह ही नहीं सकता। अपना ऐसा सङ्गठन बनाये बिना प्रारम्भ से ही "बिनु स्वारथ पर अपकारी" लोगों से मिलकर चलने को रीति बरती जायगी तो न तो आर्यसङ्गठन ही हो सकेगा और न खल ही सुधर सकेंगे वरन् उन खलों का प्राबल्य और भी अधिक बढ़ता जायगा।

दुर्जनों के सामूहिक सुधार का रास्ता तो ऊपर बता दिया गया। अब यदि कोई दुर्जन के व्यक्तिगत कल्याण के सम्बन्ध में पूछे तो गोस्वामी जी इस विषय में और भी अधिक स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि यदि दुर्जन को सत्सङ्गति मिल जाय तो वह उसी प्रकार सुधर जाता है जैसे पारस का स्पर्श करके कुधातु[1]। परन्तु प्रश्न यह है कि सज्जन लोग दुर्जन को अपने पास फटकने ही क्यों देंगे? इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने दो सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। प्रथम तो वे कहते हैं—

---

[1] सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥—५१

"विधिवस सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनिसम निज गुन अनुसरहीं।"
(५-२)

फिर वे कहते हैं :—

"सुरसरि-जलकृत वारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे॥" ३६७-७,८

इन सूक्तियों का भाव यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समाज में सज्जनता का बल यदि उस दुर्जन की दुर्जनता के बल से अधिक प्रबल है तो निश्चय ही सज्जनता के प्रभाव से वह दुर्जन प्रभावित हो उठेगा और इस प्रकार उसका सुधार हो जायगा।

सज्जनों के विषय में गोस्वामी जी ने बहुत कुछ कहा है। पहिले सज्जन तो सन्त लोग हैं। उनकी गुणावली की पूर्ण सूची दी ही नहीं जा सकती। गोस्वामी जी स्वतः भगवान् रामचन्द्र के मुख से दो स्थानों पर यही विषय स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते॥"
(३२५-१८)

"सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित स्रुति पुरान विख्याता॥"
(४६०-१३)

इन दोनों ही स्थलों पर सन्तों के लक्षणों की सूचियाँ भी दी गई हैं जो साधकों के लिये भली भाँति मनन करने योग्य हैं। इन सूचियों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उन्होंने सन्तों के सम्बन्ध में सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। कहीं उन्हें वे कथारूपी अमृत निकालनेवाला देवता कहते हैं[1]। कहीं उन्हें संसार का सच्चा सेवक कहते हैं[2]। कहीं उनके उदय को वे जगत् के लिये सतत हितकारी बताते हैं[3]। कहीं उनके चरित्र को

[1] ५०१-५, ८
[2] ५०७-६
[3] ५०४४

कपास के समान अनासक्त, विशद, गुणमय और दुख सहकर भी परछिद्र दुरानेवाला बताते हैं[1]। और कहीं उनके हृदय का नवनीत से भी अधिक कोमल कहकर उनकी परोपकारवृत्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं[2]। गोस्वामी जी की सूक्तियों के अनुसार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सच्चरित्र व्यक्ति हैं वही सन्त है, जो भगवद्भक्त है वही सन्त है, जो तत्त्व का यथार्थवेत्ता है वही सन्त है और जो करुणार्त्त होकर परोपकार में रत रहता है वही सन्त है। जो वास्तविक सन्त है वह चाहे कुवेशधारी ही क्यों न हो उसका सम्मान होता ही है और होना उचित भी है। परन्तु जो केवल "भेख" धारी "सन्त" है—वैष्णव वैरागी साधू आदि का भेख धर कर ही घूम रहा है—वह भी सम्मान के योग्य है क्योंकि आखिर वह भी हिन्दूसमाज का एक अङ्ग ही तो है। न तो सब भेखधारी बुरे ही होते हैं और न सब अच्छे ही। दुर्जनता और सज्जनता की तो पहिचान ही अलग है। फिर "भेख"—जिसका प्रचार आत्मकल्याण और लोक सेवा की दृष्टि ही से किया गया था—क्यों निन्दनीय मान लिया जाय। जो ढोंगी लोग वेषधारी होंगे उनका भण्डाफोड़ करना अलग बात है और वेश के विरुद्ध ही क्रान्ति मचाना अलग बात है। गोस्वामी जी अपने समाज पुरुष के अङ्गों को अनावश्यक रूप से छिन्न-भिन्न कर देने के पक्षपाती नहीं थे इसलिये पहिले प्रकार के सज्जनों में उन्होंने सब साम्प्रदायिक साधु सन्तों को भी समेट लिया है[3]।

---

[1] ४-४,५

[2] ५०७-७, ८

[3] लखि सुवेषु जग बंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजियत तेऊ॥
उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥
किएहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू॥
७-५ से ७

तुलसी-दर्शन

प्रथम परिच्छेद

गोस्वामी जी और मानस

मानव समुदाय में सामान्यतः यही देखा जाता है कि लोग आम के फल खाते हैं उसकी जड़ों का निरीक्षण नहीं करते, मधुर झरने का शीतल जल पीकर प्रसन्न होते हैं उसके स्रोत की छानबीन नहीं किया करते। ठीक इसी तरह वे लोग किसी सत्कवि की रचनाओं का सुरस तो अवश्य चखना चाहते हैं परन्तु उसके व्यक्तित्व से अथवा उसकी जीवनी से वैसा वास्ता नहीं रखते। यही कारण है कि केवल तीन सौ वर्ष पूर्व इसी भारत में सुदीर्घ काल तक विद्यमान रहने वाले हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि का जीवनचरित्र अब तक रहस्यमय बना हुआ है।

कोई उन्हें कान्यकुब्ज कहते हैं कोई सरयूपारीण और कोई सनाढ्य। कोई उन्हें मिश्र कहते हैं, कोई दुबे और कोई शुक्ल। कोई उनके जन्मस्थान होने का गौरव राजापुर को देते हैं कोई तारी को और कोई सोरों (सूकर क्षेत्र) को। कोई उनका जन्म संवत् १५५४ मानते हैं कोई १५८३ कोई १५८९। कोई श्रावण शुक्ल सप्तमी को उनकी जन्म तिथि मानते हैं और कोई निधन तिथि। इसी प्रकार न जाने कितने मतभेद उनकी जीवनी के विषय में आज दिन तक विद्यमान हैं।

"कल्याण" भाग ११ संख्या ३ के पृष्ठ ७७३ में श्री बालकरामजी विनायक ने "श्रीगोस्वामी जी के नामराशि" शीर्षक एक लेख लिखकर

तृतीय परिच्छेद

जीवकोटियाँ

जीवों के लिये जीव से बढ़कर अध्ययन की वस्तु और दूसरी कोई नहीं हो सकती। यदि दूसरी वस्तुओं का—जगत् आदि का—अध्ययन किया भी जाता है तो अपने लिये—जीवों के लिये—उनकी उपयोगिता का दृष्टिकोण सामने रख कर ही किया जाता है। इसलिये भारतीय दार्शनिकों ने अपनी विचारधाराओं को 'जीव के कल्याण' पर ही विशेष रूप से केन्द्रित किया है। इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए हम गोस्वामी जी के तत्वसिद्धान्तों को पाँच परिच्छेदों में विभक्त कर रहे हैं। पहिला परिच्छेद है जीव के सम्बन्ध का। दूसरा है जीवों के आदर्श—जीवों की पूर्णता—जीवों के ध्येय—के सम्बन्ध का। तीसरा परिच्छेद है माया के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो जीव की अपूर्णता का कारण है अथवा यों कहिये कि जो जीव को अपने आदर्श से भिन्न रख रही है। चौथा परिच्छेद है भक्ति के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो माया से विपरीत कार्य करती है अर्थात् जो जीव को उसके ध्येय से मिला देती है।[1] और पाँचवाँ परिच्छेद है जीवों के लिये उपादेय इस भक्ति के साधनों का। इस प्रथम परिच्छेद में हम जीवकोटियों की चर्चा करेंगे।

---

[1] देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढी॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥
१५-१७, १८

गोस्वामी जी ने "विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने।" (२७७-१३) कहकर जीवों को तीन कोटियों में विभक्त किया है। पहिली कोटि है विषयी लोगों की, दूसरी साधकों का और तीसरी सिद्धों की। सिद्ध लोग तो सिद्ध ही हैं उनके लिये भक्तिशास्त्र का प्रयोजन ही क्या। साधक लोगों को ही गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस का अधिकारी माना है[1]। परन्तु इस कलिकाल में अधिक संख्या तो विषयी लोगों की ही है इसलिये गोस्वामी जी ने उनका खूब वर्णन किया है। वे यदि एक ओर, साधकों को इनसे सावधान रहने की बात कहते हैं तो दूसरी ओर विषयियों को भी कल्याणमार्ग बताने में नहीं चूक रहे हैं। अपने तत्त्वसिद्धान्त को सर्वजनरोचक काव्यचमत्कार में लपेट कर कहने का वही तो अभिप्राय है जो क्विनाइन की गोली को शक्कर में लपेट रखने का रहा करता है[2]।

गोस्वामी जी जिस युग मे उत्पन्न हुए उसमें विषयी जीवों की

---

[1]राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥
४६८-२

यह न कहिय सठहीं हठशीलहिं। जो मन लाइ न सुनि हरिलीलहिं॥
कहिय न लोभिहिं क्रोधहिं कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥
द्विजद्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥
रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसङ्गति अति प्यारी॥
गुरुपदप्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥
ताकहुँ यह विशेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥
५०८-११ से १६

[2]विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।
४६६-१६

भरमार थी। कलिवर्णन में मानो उन्होंने अपनी ही परिस्थिति का रूप खींचा है। वे कहते हैं—

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥४८८-५
गुनमंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहि नारि परपुरुष अभागी॥४८८-८
बहु दाम सँवारहि धाम जती। बिषया हरि लीन्ह रही बिरती॥४८६-६
कुलवन्ति निकारहिं नारि सती। गृह आनहि चेरि निबेरि गती॥४८९-८
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहि मानत कोउ अनुजा तनुजा॥४८९-३

उस समय धर्म कर्म का तो कोई हिसाब ही न था क्योंकि—

कलिमल ग्रसे धरम सब लुप्त भये सद्‌ग्रन्थ।
दंभिन्ह निजमत कल्पि करि प्रकट किये बहु ग्रन्थ॥४८७-१३, १४

स्वतः शासक भी—

"नृप पापपरायन धर्म नहीं। करिदंड बिडंब प्रजा नितही" ४८९-१० थे। तब सामान्य लोगों के लिये यदि कहा जाय कि "सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा" (४८८-२४) तो आश्चर्य ही क्या। ऐसी परिस्थिति में मातापिता लोग स्वाभाविक ही उसी शिक्षा और सभ्यता की ओर अपने बच्चों को झुकाना चाहते थे जिससे उन्हें चार पैसों की—सांसारिक सुविधाएँ संग्रह कर सकनेवाले साधनों की—प्राप्ति हो।

मातुपिता बालकन्ह बोलावहि। उदर भरइ सोइ धरमु सिखावहिं॥
४८८-११

यह उदरंभर धर्म था यावनी संस्कृतिवाला विलासितामय मुगल-दरबारी ठाट। जो लोग धर्म की ओर कुछ झुकते भी थे वे—

श्रुतिसम्मत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहि नर मोहबस कलपहि पंथ अनेक॥४८९-३, ४

इस तरह वे यावनी संस्कृतिपूर्ण नये नये पथ चलाकर भारतीयता पर

की महत्ता धक्का लगा रहे थे। इन्हीं लोगों के कारण सन्तप्रवर गोस्वामी जी का हृदय परोपकार की भावना से प्रेरित होकर सद्धर्म संस्थापन के लिये विचलित हो उठा और परिणाम में यह ग्रन्थरत्न तैयार हो गया।

ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित ही है कि इस ग्रन्थ में श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ की जितनी अधिक प्रशंसा होगी विषयवासना की उतनी ही अधिक निन्दा भी होगी। इस विषयवासना की निन्दा का भाव गोस्वामी जी में इतना अधिक है कि उन्होंने अपने भक्तिमार्ग में अथवा अपने आराध्य के चरित्र में विलासिता की बास तक भी कहीं नहीं आने दी है। उन्होंने पक्के विषयी लोगों को असन्तों की कोटि में रखकर सर्वथा त्याज्य बताया है। गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में देवताओं तक पर रियायत नहीं की। इन्द्रादि देव पुण्यकार्यों के फलभोग के लिए ही स्वर्गलोक तथा देवशरीर पानेवाले बताये गये हैं। तब फिर वे भी निःसन्देह विषयी हैं[1]। जब वे विषयी हैं तब गोस्वामी जी की श्रद्धा के पात्र वे कभी हो ही नहीं सकते। इसलिये—

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं॥
सूख हाड़ लेइ भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥६३-६ से ८
तिन्हहिं सुहाय न अवध बधावा। चोरहि चाँदिनि राति न भावा॥
१७४-१४

---

[1]इस सम्बन्ध मे गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखने योग्य हैं:—

देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला।
इन्हकी दसा न कहउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥४३-२३-४४-१
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी ३३७-२१
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई॥५०१-२२

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥१७४-२३
कपट कुचालि सींव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥२८६-२१, २१
आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥ ४२१-१२

ऐसी ऐसी पंक्तियाँ कहकर गोस्वामी ने इनकी अच्छी पूजा की है।

विषयों में सबसे प्रबल है कामोपभोग और पुरुषों के लिए इसका प्रधान साधन है प्रमदा अथवा नारी। इसलिए विषयवासना की निन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बनानेवाले गोस्वामी जी ने नारीनिन्दा में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। रामचरितमानस का यह प्रसंग ऐसा है जिसके संबन्ध में कई सज्जनों ने कई प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। जिन्हें स्त्रियों का नियंत्रण अभीष्ट है वे तो गोस्वामी जी की पंक्तियों की दुहाई देकर अब भी "ढोल गँवार सूद्र पसु नारी" पर दो चार हाथ चला दिया करते हैं। (कहना न होगा कि विचारशील सज्जनों में ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत कम है)। जो स्त्रियों के समानाधिकार अथवा स्वातन्त्र्य के पक्षपाती हैं (और ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत अधिक है) वे या तो गोस्वामी जी कृत "अपराध" (!) मार्जन के लिये लचर दलीलें पेश किया करते हैं या फिर उन्हें खुल्लमखुल्ला गालियाँ सुनाने लगते हैं।

ऐसी दलीलों में से एक यह है कि गोस्वामी जी ने गतानुगतिक मन्द की तरह रूढ़िवश नारीनिन्दा कर दी है। भागवत में लिखा है कि स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ हैं स्त्रियों का संग करनेवाले का भी संग एकदम त्याज्य है[1]। नारदपञ्चरात्र में तो नारीनिन्दा का एक अध्याय ही है। स्वयं

---

[1] अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ भा० ११/२७/२८

मनु महाराज ने भी स्त्रीस्वातंत्र्य के विरोध में अनेक श्लोक कहे हैं[1]। अनेकानेक आगम निगम पुराणों में ऐसी ही चर्चा मिल सकती है। तब फिर गोस्वामी जी ने भी लिख दिया तो क्या बुरा हुआ? इस दलील का उत्तर यह है कि यदि यह नारीनिन्दा वास्तव में बुरी है तो इसका अन्धानुकरण करके गोस्वामी जी ने सचमुच बुरा किया है। दस पचीस मनुष्यों ने जानबूझकर या भूल से ही यदि कोई असन्मार्ग ग्रहण कर लिया है तो उस पर चलनेवाला गोस्वामी जी सदृश विचारशील व्यक्ति आलोचना की सीमा के बाहर नहीं कहा जा सकता।

दूसरी दलील यह है कि गोस्वामी जी ने स्वतः नारीनिन्दा में कुछ भी नहीं कहा। जो कुछ कहा सो मानस के पात्रों ने कहा। इसीलिए वे इस हेतु दोषी नहीं। इस दलील का उत्तर यह है, जैसा कि पहले कहा गया है. कि मानस कोई नाटक नहीं जिसमे उक्तियों का दायित्व पात्रों के सिर पर रखा जाता है। फिर मानस के पात्र गोस्वामी जी की ही कल्पना के परिणाम तो हैं। सभी तरह के पात्रों की सभी तरह की उक्तियाँ रहते हुए भी हमे पुरुष जाति की निन्दा के सम्बन्ध में वैसे वाक्य नहीं मिलते जैसे स्त्री जाति की निन्दा के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष दोनों के मुँह से कहे हुए पाये जाते हैं। जातिभर की इस प्रकार की निन्दा चाहे प्रसंग हो चाहे न हो परन्तु गोस्वामी जी ने "सहज अपावनि नारि" (३०३-२), "नारि सहज जड़ अज्ञ" (३१-१२), "जदपि जोपिता अनअधिकारी" (५६-१८), 'अबला अबल सहज जड़ जाती' (४९९-१६), 'अधम ते अधम अधम अति नारी" (३२०-८) "नारि विस्वमाया प्रगट" (४९९-२०), 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा

---

[1] बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वातन्त्रताम्॥ मनु० ५। १४८

सब दुखखानि" (३२४-१५) आदि कह ही तो दिया है। इसलिये यह दूसरी दलील भी किसी काम की नहीं है।

महात्मा गान्धी ने कहा है कि "गोस्वामी जी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया।"—(धर्मपथ पृष्ठ ६५) हम प्रयत्न करने पर भी इस निर्णय से सहमत नहीं हो सकते। गोस्वामी जी के ग्रन्थप्रणयन का जो उद्देश्य था उसको देखते हुए जिस प्रकार नारीनिन्दा की गई है वह परम आवश्यक थी। और, नारीनिन्दा के उन अंशों को अलग कर देने पर नारी के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की जो विचारधारा मिलती है वह अत्यन्त उज्ज्वल है। उसे देखते हुए गोस्वामी जी का 'अन्याय' कहीं भी नहीं प्रगट होता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे—

(१) स्त्रियाँ परमगति की प्राप्ति के लिए पुरुषों के बराबर ही नहीं, वरन् उनसे भी अधिक उपयुक्त हैं। बराबरी के दावे के लिए तो—"रामभगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी" (४५३-१८) का उल्लेख पर्याप्त है और श्रेष्ठता के लिए उस सुगम पातिव्रत्य धर्म का संकेत ही बहुत है जिसको धारण करने में 'बिनु स्रम नारि परमगति लहई" (३०१-२८) की बात कही गई है।

(२) जिस तरह स्त्रियों के लिए "एकइ धरम एकु व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा" (३०१-२०) कहकर गोस्वामी जी ने पातिव्रत्य पर जोर दिया है उसी प्रकार अपने आदर्श रामराज्य में उन्होंने पुरुषों को भी एकपत्नीव्रती ही रखा है। देखिये :—

"एकनारिव्रतरत सब झारी। ते मन क्रम बच पतिहितकारी"

(४५४-१०)

गोस्वामी जी का यह धर्मशास्त्र सर्वसाधारण के लिए लिखा गया है इसलिए इसमें स्त्रियों का सामान्य धर्म ही विशेष रूप से कहा गया है। यह सामान्य धर्म पातिव्रत्य और गृहपरिचर्या से बढ़कर कोई दूसरा नहीं

हो सकता। इसीलिए उन्होंने इन विषयों पर बहुत जोर दिया है। असामान्य परिस्थिति की स्त्रियाँ असामान्य धर्म पालन कर सकती है। गोस्वामी जी को इससे विरोध नहीं। उमा ने जगद्‌हित के लिए रामचरितमानस का अवतार ही करा दिया। गिरा ने बुद्धियों की प्रेरणा का काम अपने ज़िम्मे लिया हैं। मन्दोदरी मे पातिव्रत्य से भी बढ़कर भगवद्भक्ति का ज़ोर था। गोस्वामी जीने इन सब बातों को मान्यता दी है।

(३) कालिदास ने स्त्री को जिस प्रकार "गृहणी सचिव सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" कहा है, उसी प्रकार गोस्वामी जी भी उसे नेक सलाह देने की अधिकारिणी मानते हैं तारा ने बालि को कितनी अच्छी सलाह दी थी; परन्तु जब बालि ने न माना तो स्वयं भगवान् ने उसे डाँटते हुए कहा थाः—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना"। ३३२-२३।

(४) जो नारी कुमार्गगामिनी होती है, वह चाहे सूर्पणखा की तरह नकटी बूची करके ही छोड़ दी जाय; परन्तु जो पुरुष नारी की ओर कुदृष्टि से देखता हैं, वह एकदम वधार्ह ही बताया गया है। देखिये :—"अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी।। इनहिं कुदिष्ट बिलोकइ जोई। ताहिं बधे कछु पाप न होई।।" (३३२-२१,२२)। यदि कहा जाय कि ये पंक्तियाँ विशिष्ट स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने के संबन्ध की हैं तो सामान्य स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने वाले के लिये भी गोस्वामी जी कहते हैं :—

कामी पुनि कि रहइ अकलंका—४९६-२४
सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी—४९६-२६

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुखनाना।।
सो परनारि लिलारु गोसाईं। तजइ चौथ के चन्द कि नाईं।।
२६१-१२,१३

(५) गोस्वामी जी ने अपना ग्रन्थ केवल लोकहितसाधकों के लिए तो लिखा नहीं है; (उस समय वातावरण भी कुछ ऐसा था कि राष्ट्र उत्थान का प्रत्यक्ष प्रयत्न करना—लोकहित साधना की बात को विशेष प्राधान्य देना—यवनशाकों को खटक सकता था। उन्होंने आत्महितसाधकों (व्यक्तिगत आत्मकल्याण की साधनावालों) की विचारधाराओं का भी अपने धर्मतत्त्व में सामञ्जस्य किया है और समय देखते हुए अपनी वर्णनपरिपाटी में व्यक्तिगत साधनावाली बातों को प्राधान्य दिया है। आत्महित की साधना में विषयनिन्दा, कामोपभोग-निन्दा और अतएव नारीनिन्दा पर अन्य आचार्यों द्वारा जितना अधिक कहा गया है, वह देखते हुए गोस्वामी जी की उक्तियाँ न केवल उचित ही हैं वरन् अनिवार्य भी हैं। लोकहित के साधक लोग इन उक्तियों को आत्महित के साधकों के लिए छोड़कर गोस्वामी जी की अन्य उक्तियों की ओर और गोस्वामी जी कृत स्त्रीपात्रों के चरित्रचित्रण की ओर क्यों नहीं ध्यान देते।

(६) गोस्वामी जी के स्त्रीपात्र बहुत उज्ज्वल चित्रित हुए हैं और पुरुषों की अपेक्षा उन्होंने भगवद्भक्ति को अधिक अपनाया है। इस सम्बन्ध में सीता, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा अनसूया आदि की तो बात ही क्या है, तारा सदृश वानर नारी और मन्दोदरी सदृश राक्षस नारी की ओर देखिये। उन दोनों के चरित्र कितने उज्ज्वल हैं और उन दोनों के विशुद्ध हृदयों ने किस प्रकार भगवद्तत्त्व के रहस्य को पहिले ही से प्राप्त कर लिया था। शबरी का हाल देखिये। सीता के रहते हुए भी भगवान् जिसे 'भामिनि'' कहकर "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-९) की घोषणा करें उसके परमोज्ज्वल सौभाग्य का क्या ठिकाना। रामवनवास के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जिस प्रकार कैकेयी मन्थरा और और सरस्वती तक को दोष से मुक्त किया है, वह देखते हुए कौन कह सकता है कि वे स्त्री जाति से चिढ़े हुए थे।

कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामी जी ने न तो माता का प्यार पाया (क्योंकि पैदा होते ही ये त्याग दिये गये थे) और न पत्नी का (क्योंकि उसी की फटकार पर ये विरक्त हुए थे) तथा उन्हें बड़े घर की स्त्रियों से मिलने जुलने का सौभाग्य भी नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने नारी के सम्बन्ध में अपने बड़े संकीर्ण विचार प्रकट किये हैं हमारी समझ में नहीं आता कि नारीनिन्दा-विषयक प्रसंगों का कारण स्पष्ट रहते हुए भी गोस्वामी जी की इन रचनाओं पर ऐसे ऐसे तर्क ढूँढ़कर क्यों लीपापोती की जा रही है।

सीता जी भी तो एक नारी हैं। परन्तु वे ऐसी नारी हैं जिनके नाम का स्मरण ही पातिव्रत्य धर्म की रक्षा का अमोघ मन्त्र कहा गया है[1]। गोस्वामी जी ने ऐसी नारियों की निन्दा कदापि नहीं की है। उन्होंने "नारी" शब्द से जिन व्यक्तियों की निन्दा की है वे कामोपभोग साधन के अतिरिक्त और कोई दूसरे व्यक्ति नहीं। "स्रक् चन्दन वनितादिक भोगा" (२५३-२९) पंक्ति ही बता रही है कि वनिता अथवा नारी स्रक् (माला) चन्दन आदि भोग्य पदार्थों की श्रेणी में समझी जाने लगी थी। गोस्वामी जी की जो परिस्थिति थी उसमें भी "नारी" विलासिता का एक प्रधान साधन बन गई थी। विषय विलास और आत्मकल्याण में आग पानी का सा विरोध है। इसीलिये अखिल जीव कोटि के आत्मकल्याण में संलग्न गोस्वामी जी विषयविलास की प्रधान साधन-रूप उस "नारी" की भरपेट निन्दा न करते तो क्या करते? ऐसी निन्दा से—ऐसी दोषदृष्टि से—हो तो उस ओर वैराग्य उत्पन्न होगा और उस ओर वैराग्य होने से फिर राम की ओर अनुराग उत्पन्न होने लगेगा। यही गोस्वामी जी की विचारशैली है। उनकी "नारी" और

---

[1] सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
जोहि प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित ॥ ३०२-४,५

"प्रमदा" में कोई अन्तर नहीं। उन्होंने अपना मानस विशेष कर उन पुरुषों के लिए लिखा था, जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में करा दिया है। इसीलिए विलासिता के इस हेय प्रतीक को उन्होंने "नारी" कहकर पुकारा। अध्यात्मपथ की स्वतंत्रताप्रेमिणी असाधारण स्त्रियाँ—वे स्त्रियाँ जिन्होंने विरतिविवेकमय हरिभक्तिरथ अपनाकर गार्हस्थ्य से अपना पीछा छुड़ा लिया है—यदि चाहें तो "नारी" शब्द से कामान्ध पुरुष का भाव ग्रहण कर सकती हैं।

गोस्वामी जी सुधारक होते हुए भी क्रान्तिकारी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने पुरुषकृत अत्याचारों के विरुद्ध स्त्री को भड़काने का कोई चित्र अपनी रचना में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने मर्यादा की रक्षा के लिए स्त्रीस्वातंत्र्य के विरोधी वाक्य ही कहे हैं[1]। परन्तु स्त्री की परतंत्रता से उनका साधु हृदय अवश्य द्रवित रहा करता था। इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति कि—"कत विधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥ (५३-५०) देखने ही योग्य है।

यह अवश्य है कि कथाभाग में भी उन्होंने जहाँ कहीं नारीनिन्दा का उपयुक्त अवसर पाया वहाँ उसका पूरा उपयोग करते हुए—
"बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥"

२३३-३

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी"॥

३०७-२२,२३

[1]महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र भये बिगरहि नारी॥

३३३ २०

[2]ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ ३२६-२६

आदि वाक्य कह दिये हैं। परन्तु इन सब उक्तियों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि—

"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।—
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसंग॥" ३२५-२५,२६

स्त्री की और पुरुष का आकर्षण तो स्वाभाविक है इसलिये इस आकर्षण के उज्ज्वल पक्ष के पोषण में कविकल्पना का उपयोग करना अपने उद्देश्य के अनुकूल न समझकर गोस्वामी जी ने इसके श्यामपक्ष ही पर बहुत ज़ोर दिया है। सती स्त्री के हृदय की शुचिता और दृढ़ता पर तो उनको वैसा ही विश्वास है जैसा किसी विचारशील व्यक्ति को होना चाहिये[1]।

विषय जीव प्रभुता पाकर उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं[2]। उनकी उच्छृङ्खलता से समाज का सदैव हानि है। इसलिये उन्हें सदैव मर्यादित रहना ही—ताडन के अधिकारी बने रहना ही—उचित है। यदि वे जड़ होते हुए भी विवेकाभिमानी बनकर किसी समर्थ से "हिसिषा" करने लगे तो निश्चय ही नारकी बनेंगे; क्योंकि वे जीव ईश की समता के लायक नहीं हैं। समर्थ और विषय में—ईश और अनीश में - वही अन्तर है जो विशाल और क्षुद्र में रहा करता है स्वल्प गंगाजल से यदि वारुणी तैयार हुई हो तो उसमें वारुणी का अंश विशिष्ट होने के कारण वह त्याज्य है परन्तु वही वारुणी यदि गङ्गा जी की विशाल धारा में डाल दी जाय तो गङ्गाजल की विशिष्टता हो जाने के कारण वह ग्राह्य बन जाती है[3]। जिस जीव में विषयवासना का आधिक्य है वह इसी प्रकार अनीश अतः मर्यादा-

---

[1]डगइ न संभु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥ ११०-८
[2]विषय जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहि जनाई॥ २५८,१७
[3]देखिये पृष्ठ ३७ प० १ से ८

से बद्ध रह जाता है और जिसमें सद्भावना का आधिक्य है वह ईश्वर अथवा समर्थ और इस प्रकार विधिनिषेध की मर्यादा से परे हो जाता है। ऐसे लोग परमात्मा ही की काटि के हैं। इस संसार में ऐसे लोगों का अभिवाञ्छित आधिक्य हो ही नहीं सकता क्योंकि भगवान् जब स्वयं "श्रुतिपथपालक धरमधुरधर" (४५४-२२) हैं तब वे अपनी रची मर्यादा मे उच्छृङ्खलता कभी पसन्द ही नहीं कर सकते। तब ऐसी स्थिति में सभी लोगों का मर्यादित रहना—लोक-व्यवस्था के प्रबन्ध से आबद्ध रहना—वाञ्छनीय है। जब समर्थ लोगों का भी यह हाल है तब गोस्वामी जी ने जिस नारी को विषयोपभोग का साधन बताकर विषयी जीवों की कोटि मे रखा है उसके ताड़न अथवा नियंत्रण अथवा मर्यादा में चलते रहने की बात लिखकर उन्होंने समग्र नारी जाति पर कोई भीषण अत्याचार नहीं कर दिया।

यह बात नहीं है कि विषयी लोग सदासर्वदा विषयी ही बने रहें। उनमें से अनेकों को साधक होना ही पड़ता है। बात यह है कि प्रत्येक जीव आखिर अपने आदर्शपूर्णत्व का—ईश्वर का—अंश ही तो है। केवल अंश ही नहीं वह उसका "सहज सँघाती" और सहज स्नेही भी है।[1] इसलिये महात्वाकांक्षा—स्वतः पूर्ण बनने की अभिलाषा—उसमें स्वाभाविक है। इस अभिलाषा को वह अपनी अज्ञता के कारण बहुधा उलटे ही मार्ग से पूर्ण करना चाहता है। अपने शरीर को ही अपना वास्तविक रूप समझ कर इन्द्रियों की तृप्ति के लिये विषय वासनाओं की पूर्ति में ही वह अपनी पूर्णता मानने लगता है और इसी ओर दत्तचित्त हो जाता है। परन्तु जब वह ययाति की तरह देखता है कि—

---

[1] ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती। १२-२

ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू। १०२-२०

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते ।। मनु०

तब वह अपनी भूल को समझकर सीधे रास्ते पर आ जाता है और इस शरीर से विषयों की साधना के बदले तत्त्व की साधना, रोगों की साधना के बदले रोगमुक्ति की साधना, कुपथ्य की साधना के बदले सुपथ्य की साधना करने लगता है। ऐसी साधना से वह परम शान्ति और परम आनन्द का अधिकारी बनकर निःसन्देह पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है। जिन जीवों मे इतना विवेक नही है वे भी किसी न किसी प्रकार साधक हो ही जाते हैं। जब कभी विषम परिस्थिति के आघात प्रत्याघात से दुःख और संकटों की प्रबल आँधी उठकर जीवन को चंचल बना देती है उस समय जीव को बरबस साधक बनना पड़ता है। जब वह किसी वस्तु, विभव अथवा परिस्थिति की इच्छा करता है और उसे प्राप्त करना अपनी शक्ति के बाहर की बात समझता है वह साधक बन उठता है। जब उसे भले आदमियों के बीच उठना बैठना अथवा कीर्तिमान् कहलाना पसन्द आने लगता है तब वह साधक बन जाता है। जब मृत्यु अथवा अज्ञात परलोक का भय किसी के मन पर अपना आतंक जमाने लगे तब वह साधना की ओर झुक पड़ता है। इसी प्रकार के अपने प्रसंग है जो मनुष्यो को साधक बना देते हैं। जो विवेको और दृढ़निश्चयी हैं वे तो साधना मे पक्के होकर सिद्ध भी हो जाते हैं। जो सामान्य साधक हैं वे हृदय की दुर्बलता के कारण विषयी रहा करते हैं और येनकेन प्रकारेण कुछ न कुछ साधना भी करते जाते हैं। ऐसे जीवों की संख्या बहुत अधिक है और जैसा कि पहिले कहा गया है इन्हीं की ओर—सर्वसाधारण की ओर—विशेष लक्ष्य रखते हुए गोस्वामी जी ने यह ग्रन्थ लिखा है।

सच्चा साधक विषयवासना को मानस रोग मानता है। शरीर-रोगग्रस्त—सन्निपातग्रस्त—मनुष्य शीतल जल पान करने की ओर बड़ा आग्रह

दिखाता है, वह यह नहीं समझता कि जल पीने से उसकी बीमारी और बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार मानसरोगग्रस्त मनुष्य विषयोपार्जन में दत्तचित्त रहता है, वह यह नहीं समझता कि विषयोपार्जन से उसकी अशान्ति और बढ़ जायगी। मानस रोगों को पहचानना बड़ा कठिन है। नारदादि महर्षियों से भी भूल हुई है! और उन्होंने कुपथ्य ही को सुपथ्य समझकर भगवान् तक से वर माँगने का साहस किया है। परन्तु साधक यदि मानस रोगों की ओर से निरन्तर सावधान रहने की चेष्टा करे तो इनके चक्कर से वह अपने को बहुत कुछ बचा सकता है।

गोस्वामी जी ने मानस रोगों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका कहना है कि जीवों के दुःख के प्रधान कारण यही मानस रोग हैं। वे मोह (शरीराभिमान) ही को सब व्याधियों का मूल समझते हैं। इसी से अनेक प्रकार के विषयमनोरथरूपी शूल उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शरीर की व्याधियाँ अनेक हैं उसी प्रकार मानस के रोग भी अपरिमित हैं। जब तक जीवों का जीवत्व—अपूर्णत्व—है तब तक इन रोगों का निवास भी बीजरूप से उनमें रहता ही है। हाँ, जो इन्हें पहिचान लेता है उसके ऊपर ये अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखाते हैं। फिर भी यदि उन्हें विषय का कुपथ्य मिल जाय तो अवश्य अंकुरित पल्लवित हो उठते हैं। इन रोगों के समूल उन्मूलन की रामबाण औषधि है श्रद्धापूर्ण हरिभक्ति, जिसे गोस्वामी जी ने अपने मानस द्वारा इस प्रकार सबसुलभ कर दिया है।[1]

---

[1] मानस रोग का पूरा प्रसंग ही यहाँ पर लिख देना अनुचित न होगा :—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जेहि ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई॥

सिद्ध की श्रेणी में गोस्वामी जी ने संत, भक्त आदि सभी पहुँचे हुए जीवों को रखा है। जो पहुँचा हुआ जीव रहता है--ब्रह्मसादृश्य प्राप्त कर चुकता है—वह काम क्रोध लोभ आदि मनोविकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ही चुकता है।

विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कदु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई ॥
परदुख देखि जरनि सोइ छुई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई ॥
अहङ्कार अति दुखद डँहरुआ। दंभ कपट मद मान मेहरुआ ॥
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुव तिजारी ॥
जगविधि ज्वर मतसर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥

एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीडहिं सन्तत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।
नेम धरम आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाइ हरिजान।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी ॥
मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्हि पाये ॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भीति बसइ संजोगा ॥
सदगुरु बैद वचन विश्वासा। संजम यह न विषय कै आशा ॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुरबलता गई ॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥

४०५—११ से २६, ५०५—१ से ६

"नारि नयनसर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥"
३३७-२२, २३

साथ ही वह 'हेतु रहित जग उपकारी" भी हो जाता है।

"हेतु रहित जुग जग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥"
४६४-१०

इसलिये यदि संसारी जीवों का किसी से वास्तविक कल्याण होता है तो वह इन सिद्ध जीवों से ही। ये लोग विकारहीन शुद्ध हृदय से जब बिना किसी स्वार्थ भावना को अथवा राजसी तामसी प्रकृति को लिये हुए लोककल्याण में दत्तचित्त होते हैं, तब फिर जनता का इनसे वास्तविक कल्याण न होगा तो किनसे होगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि ब्रह्म तो समुद्र की तरह विशाल, गंभीर, अगम्य और अग्राह्य है। भक्त हृदय उसे कैसे अपना सकता है। असल में इन सिद्ध पुरुषों ने ही अपने ज्ञानरूपी मन्दिर पर्वत से ऐसे समुद्र को मथकर वह भगवत्कथा-रूपी अमृत निकाला है, जिसमें भावुक-हृदय-संग्राह्य भक्तिरस का माधुर्य ओतप्रोत भरा हुआ है[1]। इस दृष्टि से वे इन सिद्धों को भगवान् से भी अधिक बताते हुए कहते हैं—

"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चन्दनतरु हरि सन्त समीरा॥"
५०३-२, ४

बात भी सच है। यद्यपि बादल अपना जल समुद्र से ही लाते हैं और मलयानिल अपनी सुगन्धि चन्दन वृक्ष से ही लाता है तथापि

[1]ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हि भगति मधुरता जाहि॥ ५०३-७, ८।

लोगों का प्रत्यक्ष उपकार तो बादलों से और मलयानिल से ही होता है। समुद्र और[1] चन्दनतरु तक पहुँच कर ऐसे कितने हैं कि जो लाभ उठा सकते हैं। इसीलिये प्रत्यक्ष में तो राम की अपेक्षा रामदास का ही महत्त्व अधिक होना चाहिये।

रामदास अथवा हरिजन के इस महत्त्व पर गोस्वामी जी ने बहुत सुन्दर उक्तियाँ कही हैं।

"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥"
२४४-२२, २३

"मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥"
२५५-२

आदि पंक्तियाँ लिखकर गोस्वामी जी ने स्पष्ट बता दिया है कि चाहे कोई भगवान् की ओर उपेक्षाभाव ही रख ले—नास्तिक ही बना रहे—परन्तु सिद्धों की ओर —सात्विक बुद्धिवाले निर्हेतुक परोपकारी सज्जनों की ओर - तो उसे श्रद्धा रखनी ही चाहिये। ऐसे सन्तों का तिरस्कार उन्हें किसी प्रकार सह्य नहीं।[2] इतना ही नहीं उन्होंने ऐसे सिद्धभक्तों की सेवा को भगवान् की सेवा से किसी प्रकार कम नहीं बताया है। वे कहते हैं—

"सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनुसत सरिस सोहाई॥

---

[1] कवि सम्प्रदाय का चन्दनतरु मलयाचल के किसी दुर्गम स्थान में रहता है।

[2] सन्त सम्भु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥
३५-१' २

वे ऐसे ही सज्जनों की सेवा और संगति में अखिल कल्याण के बीज पाते हैं। इसलिये संतसेवा और सत्संग की महिमा में वे कहते हैं :—

संतसंग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ।
कहहिं सन्त कवि कोविद स्रुति पुरान सद्ग्रंथ ॥४५६-४.५

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥४-१९,२०
सतसंगति मुद मंगलमूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥४-२२

परोपकारी सज्जनों की सेवा और संगति पर गोस्वामी जी ने इतना अधिक जोर दिया है और इन विषयों को कुछ इस ढंग से लिखा है कि उससे न केवल साधुमत का समर्थन होता है वरन् लोकमत का पुष्टीकरण भी स्पष्ट हो जाता है[1]। व्यक्तिगत साधना के लिये ऐसे सिद्धों के सत्संग की आवश्यकता तो थी ही परन्तु उस समय के भारतीय वातावरण में राष्ट्र-उत्थान के लिये भी यह आवश्यक था कि आर्यभावना वाले सज्जनों का पारस्परिक संग और सगठन हो। इसी लिये गोस्वामी जी ने न केवल विभिन्न सम्प्रदायवालों को समेटने की चेष्टा की है वरन् संग्राह्य सज्जनों की श्रेणी में अधिक से अधिक लोगों को समाविष्ट का प्रयत्न भी किया है।

गोस्वामी जी का कहना है कि दुर्जनों की संगति से ज्ञान नष्ट होता है, कुमति उत्पन्न होती है और परिणाम में नाना प्रकार की विपत्तियाँ

---

१ "साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधने है, लोकमत लोकशासन के लिए है। इन दोनों का सामजस्य गोस्वामी जी की धर्मभावना के भीतर है"—अध्यापकप्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल (देखिये तुलसी ग्रंथावली खंड ३ पृ० १२७)

आती है[१]। इसलिये वे कहते हैं कि यदि हो सके तो इन दुर्जनों का ऐसा निग्रह कर दिया जाय जिससे इनकी दुष्टता ही का उन्मूलन हो जावे और यदि ऐसा न हो सके तो इनसे दूर हट जाया जाय।[२] वे इन्हें कुत्ते की तरह दूर रखने की सलाह देते हैं[३]। सत्सङ्ग की पुष्टि के लिये दुःसङ्ग के विरुद्ध ऐसे तीव्र शब्दों का व्यवहार सर्वथा उचित था।

कौन दुर्जन है कौन सज्जन है यह जाने बिना त्याग और संग्रह की बात ही कैसे बन सकती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने दुर्जनों और सज्जनों के विस्तृत लक्षण बताये हैं[४]। दुर्जनों की श्रेणी में उन्होंने विशेष रूप से दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया है। एक तो हैं खल और दूसरे राक्षस। "खल बिनु स्वारथ पर अपकारी" (५०४-१) यही खलों की बड़ी सुन्दर परिभाषा है। गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र इन खलों का विस्तृत वर्णन किया है। ये खल लोग जब अपनी खलता में इतने मँज जाते हैं कि फिर जीते जी उनका उद्धार प्रायः असंभव हो जाता है, तब ये ही लोग राक्षस कहाते हैं। राक्षसों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की परिभाषा देखिये—

---

[१] बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसङ्ग सुसङ्ग—३३५ १६
काहूसुमति कि खल सङ्ग जामी—४६६-२६
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥
—३६२-८

[२] सन्त संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न त चलिय पराई॥३५ १, २

[३] कबि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल सन प्रीती॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥
४६२-१४, १५

[४] तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥६-११॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा॥
मानहि मातु-पिता नहि देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥
—२७-७ से ९

परद्रोही परदार रत परधन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥ ४६१-१३,१४[१]

जो राक्षसी वृत्ति से (१) सुख (२) सम्पत्ति (३) सुत (कामोपभोग द्वारा वंशविस्तार) (४) सैन्य (शासनबल) (५) सहाय (प्रभुत्व के लिये सङ्गठन) (६) जय (७) प्रताप (८) बल (शक्ति) (९) बुद्धि (१०) बड़ाई (जयघोष कराने की आकांक्षा) इस तरह दशों दिशाओं में आधिपत्य का प्रयत्न करता है, वह राक्षसराज दशमुख रावण की तरह है[२]। यदि कहीं ऐसा मनुष्य अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ तो संसार मे त्राहि त्राहि मच जाती है[३]। उस समय किसी ऐसी विभूति का (डिक्टेटर का, सिद्धान्त विशेष का, किसी क्रान्ति का अथवा किसी अवतार का) आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है जो इन राक्षसों का दमन करके आर्य सज्जनों का पुनः सङ्गठन कर दे।

---

[१]संभव है कि गोस्वामी जी ने राक्षसों की भिन्न योनि की अमान्यता न प्रकट होने देने के लिए 'निसिचर सम" और देह धरे मनुजाद" की बात कही है।

[२]सुख सम्पति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥
८५-५, ६

[३]रावण राज्य के ऐसे वर्णन में कई लोग गोस्वामी जी के समय के यावनी साम्राज्य की ओर इशारा पाते हैं (देखिये "मानसहंस")

जगत् में सुव्यवस्था की स्थापना ही स्वाभाविक नियम है। अव्य-वस्थित जगत् बहुत दिन तक टिक ही नहीं सकता। लोगों को सुव्यवस्था की ओर झुकना ही पड़ता है। इसलिये दुर्जनों का प्राबल्य एक तो होता ही कम है और यदि हुआ भी तो वह चिरस्थायी नहीं होता। उनके सामूहिक प्राबल्य को तोड़ने का सबसे सीधा उपाय यह है कि उनसे "असहयोग" किया जाय—उनकी सगति से दूर रहा जाय—और सज्जनों का एक सुचारु सङ्गठन कर लिया जाय। सज्जनता की मनःशक्ति ही कुछ इतनी जबर्दस्त होती है कि दुर्जनों पर उनका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। और, यदि सब आर्य सज्जनों का सुचारु सङ्घ (सुन्दर सङ्गठन) हो गया तब फिर उस आर्यसमाज अथवा आर्य राष्ट्र की शक्ति और उसके प्रभाव का कहना ही क्या है। इस शक्ति का प्रभाव दुर्जनों पर पडे बिना रह ही नहीं सकता। अपना ऐसा सङ्गठन बनाये बिना प्रारम्भ से ही "बिनु स्वारथ पर अपकारी" लोगों से मिलकर चलने की रीति बरती जायगी तो न तो आर्यसङ्गठन ही हो सकेगा और न खल ही सुधर सकेंगे वरन् उन खलों का प्राबल्य और भी अधिक बढ़ता जायगा।

दुर्जनों के सामूहिक सुधार का रास्ता तो ऊपर बता दिया गया। अब यदि कोई दुर्जन के व्यक्तिगत कल्याण के सम्बन्ध में पूछे तो गोस्वामी जी इस विषय में और भी अधिक स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि यदि दुर्जन को सत्सङ्गति मिल जाय तो वह उसी प्रकार सुधर जाता है जैसे पारस का स्पर्श करके कुधातु[1]। परन्तु प्रश्न यह है कि सज्जन लोग दुर्जन को अपने पास फटकने ही क्यों देंगे? इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने दो सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। प्रथम तो वे कहते हैं—

---

[1] सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥—५१

"विधिवस सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनिसम निज गुन अनुसरहीं।"
(५-२)

फिर वे कहते हैं :—

"सुरसरि-जलकृत वारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे॥" ३८-७,८

इन सूक्तियों का भाव यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समाज में सज्जनता का बल यदि उस दुर्जन की दुर्जनता के बल से अधिक प्रबल है तो निश्चय ही सज्जनता के प्रभाव से वह दुर्जन प्रभावित हो उठेगा और इस प्रकार उसका सुधार हो जायगा।

सज्जनों के विषय में गोस्वामी जी ने बहुत कुछ कहा है। पहिले सज्जन तो सन्त लोग हैं। उनकी गुणावली की पूरी सूची दी ही नहीं जा सकती। गोस्वामी जी स्वतः भगवान् रामचन्द्र के मुख से दो स्थानों पर यही विषय स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते॥"
(३२५-१८)

"सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगिनित स्रुति पुरान बिख्याता॥"
(४६०-१६)

इन दोनों ही स्थलों पर सन्तों के लक्षणों की सूचियाँ भी दी गई है जो साधकों के लिये भली भाँति मनन करने योग्य हैं। इन सूचियों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उन्होंने सन्तों के सम्बन्ध में सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। कहीं उन्हें वे कथारूपी अमृत निकालनेवाला देवता कहते हैं[1]। कहीं उन्हें संसार का सच्चा सेवक कहते हैं[2]। कहीं उनके उदय को वे जगत् के लिये सतत हितकारी बताते हैं[3]। कहीं उनके चरित्र को

---

१ ५०२-८, ८
२ ५०७-६
३ ५०४४

कपास के समान अनासक्त, विशद, गुणमय और दुख सहकर भी परछिद्र दुरानेवाला बताते हैं[१]। और कहीं उनके हृदय को नवनीत से भी अधिक कोमल कहकर उनकी परोपकारवृत्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं[२]। गोस्वामी जी की सूक्तियों के अनुसार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सच्चरित्र व्यक्ति हैं वही सन्त है, जो भगवद्भक्त है वही सन्त है, जो तत्त्व का यथार्थवेत्ता है वही सन्त है और जो करुणार्त्त होकर परोपकार में रत रहता है वही सन्त है। जो वास्तविक सन्त है वह चाहे कुवेशधारी ही क्यों न हो उसका सम्मान होता ही है और होना उचित भी है। परन्तु जो केवल "भेख" धारी "सन्त" है—वैष्णव वैरागी साधू आदि का भेख धर कर ही घूम रहा है—वह भी सम्मान के योग्य है क्योंकि आखिर वह भी हिन्दूसमाज का एक अङ्ग ही तो है। न तो सब भेखधारी बुरे हो होते हैं और न सब अच्छे ही। दुर्जनता और सज्जनता की तो पहिचान ही अलग है। फिर "भेख"—जिसका प्रचार आत्मकल्याण और लोक सेवा की दृष्टि ही से किया गया था—क्यों निन्दनीय मान लिया जाय। जो ढोंगी लोग वेषधारी होंगे उनका भण्डाफोड़ करना अलग बात है और वेश के विरुद्ध ही क्रान्ति मचाना अलग बात है। गोस्वामी जी अपने समाज पुरुष के अङ्गों को अनावश्यक रूप से छिन्न-भिन्न कर देने के पक्षपाती नहीं थे इसलिये पहिले प्रकार के सज्जनों में उन्होंने सब साम्प्रदायिक साधु सन्तों को भी समेट लिया है[३]।

---

[१] ४-४,५

[२] ५०७-७,८

[३] लखि सुवेषु जग बंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजियत तेऊ॥
उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥
किएहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू॥
७-५ से ७

दूसरे प्रकार के सज्जन हैं ब्राह्मण लोग। गोस्वामी जी ने इन्हें केवल सन्त ही नहीं वरन् अनन्त के समान कहा है और इनके अपमान को सर्वथा निन्दनीय माना है[१]। गोस्वामी जी ने ब्राह्मणों को जो यह महत्त्व दिया है उसके कई कारण हैं। पहिली बात तो यह है कि ब्राह्मण ही आर्य संस्कृति के प्रकृत संरक्षक थे। इसीलिये गोस्वामी जी ने "द्विज-पदप्रीति" को "धर्मजनयित्री" बताया है[२]। दूसरी बात यह है कि वे संस्कारजन्य तपोबल के कारण "बरियार" समझे जाते थे[३]। इस तपस्या के कारण उनका सात्विक मनोबल अवश्य प्रभावोत्पादक होना ही चाहिये। तीसरी बात यह है कि ब्राह्मणों की ओर सनातनी हिन्दुओं में संस्कारजन्य श्रद्धा रहती चली आई है इसलिये कल्याण मार्ग में अग्रसर होने के लिये वह श्रद्धा बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है।

मैकफ़ी सदृश कई विद्वानों ने गोस्वामी जी के ब्राह्मण सम्मान को पक्षपातपूर्ण अतएव दूषित माना है[४]। इसलिये गोस्वामी जी की विप्र-पूजा के समर्थन में कुछ विस्तृत विवेचन कर देना उचित जान पड़ता है।

जिस समय गोस्वामी जी इस संसार में वर्तमान थे उस समय वैरागी और सन्त तो मनमाने पन्थ निकालते चले जा रहे थे और श्रुतिरीति का सम्यक् ज्ञान न रखने के कारण या तो कट्टरता के या यावनी संस्कृति के प्रवाह में बहते चले जा रहे थे। इधर श्रुतिसम्मत धर्म वंशपरम्परागत संस्कारों के कारण विप्रकुल में (ब्राह्मण कुटुम्बों में)

---

[१] अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु सन्त अनन्त समाना॥
४४-१७

[२] द्विजपद प्रीति धरमजनयित्र—४६०-२६

[३] तपबल विप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोपन कोउ रखवारा॥७०-५

[४] देखिये 'दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दर्न इण्डिया।"

ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से परिपालित होता चला आ रहा था। इसी लिये "ब्राह्मण" और 'वैष्णव" (पन्थवाले) लोगों के बीच एक विरोध सा उपस्थित हो गया था। "सन्त" लोग 'विप्रों" का अनादर करते थे और "विप्र" लोग "सन्तों" का। गोस्वामी जी अपने संगठन के लिये दोनों को आवश्यक अङ्ग मानते थे। इसलिये जहाँ उन्होंने सन्तसेवा को इतना महत्त्व दिया वहाँ ब्राह्मण-सेवा को भी सन्तसेवा के बराबर गौरव दिया।

जिस समय गोस्वामी जी वर्तमान थे उस समय मुद्रणकला के न होने के कारण एक तो पुस्तकें ही बहुत कम रहा करती थीं और फिर जो थीं भी वे पाखण्ड विवाद के भय से ब्राह्मणों के पास छिपी पड़ी रहती थीं[1]। यदि मिलती भी थी तो संस्कृत में होने के कारण दुरूह हो गई थीं और यदि कोई संस्कृत पढ़कर उन्हें समझ भी लेता था तो परस्पर-विरुद्ध वाक्यों और सिद्धान्तों के चक्कर में पड़कर वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन जाता था। भारतवर्ष की जनता के लिये गोस्वामी जी श्रुति-सम्मत धर्म ही को अत्यन्त उपयोगी मानते थे। इसलिये उस धर्मतत्त्व को समझने के हेतु गोस्वामी जी के मत में ब्राह्मण सेवा ही एकमात्र सरल उपाय था।

भगवान् की ओर श्रद्धापूर्ण सेवा तभी अच्छी तरह हो सकती है जब ऐसी श्रद्धापूर्ण सेवा का पाठ इस संसार ही में सीख लिया जाय। विभिन्न पथानुयायी सन्त लोग तो "कल की चीज" थे। एकमात्र ब्राह्मण ही ऐसे थे जो "भूमिसुर" कहाकर चिरकाल से श्रद्धा के पात्र बने हुए थे। इसलिये विप्रों की श्रद्धापूर्ण सेवा ही को गोस्वामी जी ने भगवत्सेवा का प्रथम सोपान कहा है[2]।

---

[1] जिमि पाखण्ड विवाद ते गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ—३२५-२

[2] प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुति रीती।
—३०८-६

भेखधारी सन्तों से श्रुतिसम्मत पथ जानने की आशा नहीं। सच्चे सन्त मिलना आसान नहीं। गुरु मिलना और भी कठिन बात है। ब्राह्मण सर्वत्र सुलभ हैं। इसलिये श्रुतिसम्मत हरिभक्ति के लिये आवश्यकी श्रद्धा का पाठ पढ़ने के हेतु यदि गोस्वामी जी ने लोगों को ब्राह्मण सम्मान की ओर प्रेरित किया तो क्या बुरा किया।

गोस्वामी जी जिस तरह सन्तों के 'भेख" को भी सम्मान्य मानते हैं उसी तरह ब्राह्मण के कुल को (जन्म के ब्राह्मण को) भी सम्मान्य मानते हैं। भेख तो ऊपरी बात है परन्तु कुल के साथ तो वंशपरम्परा के संस्कारों का अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिये भेखधारी जीवों का चाहे विशिष्ट परिस्थितियों में तिरस्कार भी कर दिया जाय परन्तु कुलपरम्परागत ब्राह्मण पूज्य ही है चाहे वह शीलगुणहीन भी क्यों न हो[1]। उसमें वंशपरम्परा के कुछ न सात्विक गुण और कुछ न कुछ आर्य संस्कार रहते ही हैं। इसीलिये गोस्वामी जी ने इनकी महिमा गाई है।

सनातनधर्म को लोग ब्राह्मणधर्म कहा करते हैं क्योंकि उसका प्रवर्त्तन ब्राह्मणों द्वारा ही हुआ है। शास्त्र मर्यादा के अनुसार अपने अपने धर्म मे रत रहना ही प्रत्येक सनातनी हिन्दू का कर्त्तव्य है। इस शास्त्र-मर्यादा का ज्ञान हमें ब्राह्मणों के द्वारा ही होता है। गोस्वामी जी के जीवन काल मे ब्राह्मणविरोध बढ़ चला था और लोग आँख दिखा दिखाकर कहने लग गये थे कि जो वेद जाने वही ब्रह्मण है, कुछ जन्म ही से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता।[2] भारतवासियों को जिन ब्राह्मणों का ऋणी होना चाहिये था उनके प्रति ऐसे अश्रद्धा के भाव गोस्वामी जी

---

[1] पूजिय विप्र सील गुन हीना। ३१९-२३

[2] बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि॥ ४८८-१४,१५

के समान विचारशील सज्जन कहाँ सह सकते थे। इसलिए उन्होंने इतनी अधिक ब्राह्मण भक्ति दिखाई।

ब्राह्मणों के ऊपर लांछन लगाया जाता है तो यही कि उन्होंने समाज में वैषम्य की सृष्टि कर दी है और अपने को आवश्यकता से अधिक पुजाया है। जो धर्मतत्त्व को समझनेवाले हैं वे जानते हैं कि समाज की प्रवृत्तियों में न तो केवल साम्य ही रहता है और न केवल वैषम्य ही। ब्राह्मणों ने संग्रह, त्याग, प्रभुत्व और सेवा की मूल प्रवृत्तियों के वैषम्य की रक्षा को समाज के लिए लाभदायक मानकर वर्णधर्म का संस्थापन किया और इन चारों प्रवृत्तियों के अनुसार क्रमशः वैश्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की चर्चा की। परन्तु वे इस वैषम्य को दृढ़ करके ही नहीं रह गये। उन्होंने समाज की प्रवृत्तियों के साम्य की ओर भी विचार करके आश्रमधर्म की संस्थापना की जिससे आर्यजाति के सभी लोग ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार धर्मतत्त्ववेत्ता लोग यह भी जानते हैं कि धर्मशास्त्र की व्यवस्था देने वाले ब्राह्मण ने अपने निर्वाह के लिए भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन ही नहीं रखा। तप और त्याग का कष्टमय जीवन बिताकर लोककल्याण का मार्ग सुझाने का भार स्वतः अपने ऊपर लेनेवाला ब्राह्मण यदि इस संसार में सर्वतोऽधिक पूज्य समझा जाने लगा तो उसमें उस ब्राह्मण का क्या दोष! इतना होते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि कुछ ब्राह्मणों ने अनेकानेक अनार्य जातियों के सम्मिश्रण को भयावह समझकर आर्य द्विजातियों की पवित्रतारक्षा के उद्देश्य से आश्रम धर्म में भी ऐसे अड़ङ्गे लगाये, जिनके कारण शूद्र लोग—अनार्यजातियों के अधिकांश लोग—द्विजों के समान वेदाध्ययन निरत ब्रह्मचारी न बनने पाये और संन्यास न लेने पाये। साथ ही उन्होंने स्थान स्थान पर धार्मिक विधानों में ब्राह्मण की इतनी आवश्यकता रख दी कि अपढ़ ब्राह्मण अपने को पुजाने का पेशा-सा खोल बैठे। गोस्वामी

जी ने इस विषय का भली भाँति अनुभव किया था। इसलिये उन्होंने इन दोनों दोषों को मेटने का भरपूर प्रयत्न किया है। परन्तु वह प्रयत्न इस खूबी के साथ है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्वेष की आग किसी भी स्थल में नहीं भड़कने पाई है।

पहिले लांछन के परिहार के लिये—अर्थात् साम्यसंस्थापन के लिए उनके भक्तिपथ का माहात्म्य देखा जावे। भगवान् के आगे ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री, शूद्र सब बराबर हैं। उनकी तो घोषणा है कि "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-६)। भगवान् का नाम लेते ही नीचातिनीच भी परम पावन हो जाता है[1]। फिर ऊँच नीच स्पृश्य अस्पृश्य की बात ही कहाँ रही। इस एक ही प्रहार से गोस्वामी जी ने अवाञ्छनीय वैषम्य की जड़ काट दी है। वशिष्ठ के समान ब्राह्मण-सत्तम और निषादराज गुह के समान लिपट अनार्य का जब मेल हुआ है गोस्वामी जी के उस समय के उद्गार देखिये। केवट से जिस प्रकार वशिष्ठ और भरत आदि मिले हैं वह दृश्य देखिये। बानर भालु कहाने वाले जङ्गली जीवों की किस प्रकार इज्जत की गई है इसका खयाल कीजिए। तब विदित होगा कि गोस्वामी जी ने अपने "भक्त" में किस प्रकार "सन्त" और "ब्राह्मण" दोनों का सामञ्जस्य और सहयोग कराकर ब्राह्मणत्व के मस्तक से प्रथम लांछन का कलङ्क मिटा दिया है। गोस्वामीजी ब्राह्मणपूजक होते हुए भी हरिजन उत्थान के प्रबल समर्थक थे। उनके काकभुशुंडी शूद्र योनि में भी हरमन्दिर तक पहुँच कर जप किया करते थे और मंत्र दीक्षित बन सकते थे[2]। उनकी शबरी मर्यादा पुरुषोत्तम

---

[1]स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।

राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात ॥२४५-१८, १६

[2]तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भयेउ सूद्रतनु पाई ।४८७-३

...................एक बार हरमन्दिर जपत रहेऊँ शिव नाम ।,४६२-२७

का भी आतिथ्य कर सकती थी। उनके "अस्पृश्य" अत्यंज को भी द्विजातिश्रेष्ठ लोग इस प्रेम से गाढ़ालिंगन करते थे मानो कोई जमीन मे बिखरते हुए स्नेह को समेट कर छाती से चिपका रहा हो[1]।

दूसरे लाञ्छन के परिहार के लिये उन्होंने स्थल स्थलों पर ऐसे वाक्य कहे हैं जो ब्राह्मणों का अहंकार तोड़ने के लिये पर्याप्त हैं। "सोचिय बिप्र जो वेदविहीना। तजि निज धरम विषय लय लीना॥" (८३६-२५) "द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन" ४८७-१६ सरीखे वाक्य रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर पाये जा सकते हैं। फिर, यदि ब्राह्मण अत्याचारी हुआ—दुर्जन हुआ—तब तो वह निःसन्देह त्याज्य है, क्योंकि गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के दुर्जनों के त्याग की बात कही है और यह कहीं नहीं कहा है कि ब्राह्मण यदि दुर्जन और अत्याचारी हो तब भी पूज्य है। साथ ही "पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते।" (१६८-२२) और "जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पित भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।" (२४२-६,७) वाले नियम के अनुसार भक्तिहीन ब्राह्मण (स्मरण रहे कि लोकसेवा भक्ति का एक प्रधान अंग है) न केवल अपूज्य है वरन् भस्म हो जाने योग्य है।

लांछनों का परिहार अवश्य किया जाय परन्तु कुछ लोगों के ऐसे दोषों को देखकर ब्राह्मणमात्र के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करा दी जाय यह नितान्त अनुचित था। इसीलिये गोस्वामी जी ने पूर्वपरम्परा की रक्षा करते हुए ब्राह्मणों को मान दिया है[2]।

---

[1] रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥२६४-१५

[2] महाभारत में लिखा है :—

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायता, ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रेवै ब्राह्मणः शुचिः॥

(म० अ० ३४-३:

तीसरे प्रकार के सज्जन हैं अपने पूज्य कुटुम्बी और अपने इष्टमित्र। गोस्वामी जी कहते हैं :—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनमु जग जाय।
१६७-६, १०

उनका तो यहाँ तक कहना है कि पूज्य कुटुम्बियों के आदेशों से औचित्य और अनौचित्य पर तर्क करना ही एक पातक की बात है। वे "मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी" (४०-) का आदेश देते हुए 'पितु आयसु सब धरम के टीका" (१६-१६) तक कह देते हैं। परन्तु पूज्यत्व के सम्बन्ध के गोस्वामी जी की वह कसौटी न भूलनी चाहिये जो ब्राह्मणों के प्रकरण में ऊपर बताई गई है। इसी कसौटी पर कसकर कदाचित् मीराबाई को उन्होंने यह सिद्धान्त लिख भेजा था कि—

वृहद्धर्म पुराण मे आया है :—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥
(उत्तरखंड २-)

मनुस्मृति से आया है :—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्।
मनु० ९-३१

१ गुरु पितु मातु स्वामी हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी।
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू।
२३१-

का भी आतिथ्य कर सकती थी। उनके "अस्पृश्य" अत्यंज को भी द्विजातिश्रेष्ठ लोग इस प्रेम से गाढ़ालिंगन करते थे मानो कोई जमीन मे बिखरते हुए स्नेह को समेट कर छाती से चिपका रहा हो[1]।

दूसरे लाछन के परिहार के लिये उन्होंने स्थल स्थलों पर ऐसे वाक्य कहे हैं जो ब्राह्मणों का अहंकार तोड़ने के लिये पर्याप्त हैं। "सोचिय बिप्र जो वेदविहीना। तजि निज धरम विषय लय लीना॥" (८३६-२५) "द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन" ४८७-१६ सरीखे वाक्य रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर पाये जा सकते हैं। फिर, यदि ब्राह्मण अत्याचारी हुआ—दुर्जन हुआ—तब तो वह निःसन्देह त्याज्य है, क्योंकि गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के दुर्जनों के त्याग की बात कही है और यह कहीं नहीं कहा है कि ब्राह्मण यदि दुर्जन और अत्याचारी हो तब भी पूज्य है। साथ ही "पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते।" (१६८-२२) और "जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पित भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।" (२४२-६,७) वाले नियम के अनुसार भक्तिहीन ब्राह्मण (स्मरण रहे कि लोकसेवा भक्ति का एक प्रधान अंग है) न केवल अपूज्य है वरन् भस्म हो जाने योग्य है।

लांछनों का परिहार अवश्य किया जाय परन्तु कुछ लोगों के ऐसे दोषों को देखकर ब्राह्मणमात्र के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करा तो जाय यह नितान्त अनुचित था। इसीलिये गोस्वामी जी ने पूर्वमर्यादा की रक्षा करते हुए ब्राह्मणों को मान दिया है[2]।

---

[1] रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥ (२३४-२४)

[2] महाभारत में लिखा है :—

कही गई। नवों धर्मरथ के सम्बन्ध में विभीषण के प्रति कही गई है; दसवीं सत्सङ्ग और सन्त-असन्त के सम्बन्ध में भरत के प्रति कही गई है। ग्यारहवीं भक्ति-रहस्य के सम्बन्ध में पुरजनों के प्रति कही गई है। बारहवीं भजन के सम्बन्ध में सुग्रीवादि वानरों के प्रति कही गई है और तेरहवीं भक्तिमहिमा के सम्बन्ध में भुशुण्डि के प्रति कही गई है। इन गीताओं के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रारम्भ के कई पृष्ठों में सत्संग-माहात्म्य, नाम-माहात्म्य, मानसमाहात्म्य आदि विषय भी गीताओं की ही कोटि के लिखे हैं। इनका अध्ययन करके गोस्वामी जी के सिद्धान्तों का भली-भाँति परिचय पाया जा सकता है।

इन अनेकानेक स्तुतियों और गीताओं में हमें वह भगवद्गीता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ी है जो तत्त्वज्ञान और भक्तियोग के सम्बन्ध में लक्ष्मण के प्रति कही गई है। उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक लिख देना अनुचित न होगा। उसका अविकल उद्धरण इस प्रकार है:—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरनरज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ॥

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मनु चितु लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके॥

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

इसमें प्रथम द्रष्टव्य विषय है गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, शिष्य में जिज्ञासा-भाव—छलहीनत्व—अनिवार्य है। फिर वह "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" के नियमानुसार "मै पूछेउँ निज प्रभु की नाईं" का भाव रखे। गुरु भी ऐसा किया जाय जो "प्रभु" और "सुर नर मुनि सचराचर साईं" की कोटि का हो। ऐसे ही गुरु के लिये "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः" कहा गया है. यदि कोई जीवित गुरु ऐसा

न मिले तो किसी अतीत सद्गुरु की ओर ही यह तथा ऐसी प्रश्नावली अर्पित हो। गोस्वामी जी ने शंकर जी को "गुरुपितु मातु महेश भवानी" कह दिया है। एकलव्य ने द्रोण की मृण्मयी प्रतिमा ही से अभीष्ट-सिद्धि पा ली थी।

दूसरा द्रष्टव्य विषय है इसकी प्रश्नावली। यद्यपि लक्ष्मण जी ने ज्ञानवैराग्य, मायाभक्ति, ईश्वरजीव आदि सकल तत्त्वज्ञान की बात पूछी परन्तु उनकी आन्तरिक अभिलाषा "सब तजि करउँ चरनरज सेवा" और "जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ" ही की ओर थी। तत्त्वज्ञान से यदि संसार के प्रति वैराग्य (सब तजि) भगवान् के प्रति अनुराग (करउँ चरन रज सेवा, जातें होइ चरनरति) और हृदय से "शोक मोह भ्रम" का उन्मूलन होकर उनके बदले क्रमशः "सुन्दरं शिव और सत्यं" की ज्योति न जगी तो वह तत्त्वज्ञान ही किस काम का।

तीसरा द्रष्टव्य विषय है मति, मन और चित्त का अर्पण। इन तीनों के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन की ओर संकेत किया गया है। भगवान् ने तो थोड़े में सब "बुझा" कर कह दिया। अब यह शिष्य का काम है कि वह उस तत्त्व को ध्यानपूर्वक अपने हृदय में अंकित कर ले। गोस्वामी जी कहते हैं कि "तबहिं होहिं सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा॥" (४७१-२) केवल एक ही बार उत्तर सुन लेना पर्याप्त नहीं। "बहु काल" सत्संग की आवश्यकता होती है। यदि बहु काल तक गुरु द्वारा उसी विषय का पिष्टपेषण न हो सके तो शिष्य ही मन, मति और चित्त में अंकित किये हुए उस विषय का पिष्टपेषण करता जाय।

चौथा द्रष्टव्य विषय है लक्ष्मण जी के प्रश्नों के अनुसार माया, ज्ञान, वैराग्य, जीव, शिव (ईश्वर) और भक्ति के सम्बन्ध के उत्तर। "मैं मेरा तू तेरा" ही माया है जिसके वश में अखिल जीवनिकाय हैं। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन की दौड़ है वह सब

सकता है। इसके दो भेद हैं विद्या और अविद्या। विद्या को हम विवर्त-रचना सामर्थ्य कह सकते हैं और अविद्या को सत्यप्रतीत स्थापन-सामर्थ्य। प्रभु की प्रेरणा में नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि हो जाती है। यह नामरूपात्मक जगत् यद्यपि त्रिकाल-बाधित न होने के कारण मिथ्या कहा जाता है किन्तु फिर भी भगवान् की लीला के लिये यह आवश्यक है इसलिये विश्वप्रपञ्च अनादि काल से होता आया है। यही माया की विवर्त-रचना है। विवर्त्त को सत्य समझ लेना अविद्यामाया का कार्य है। यह सत्यप्रतीत-स्थापना ही ऐसी बात है जिसके कारण जीवों को दुःख, शोक और भवबन्धन मिला करता है। इसीलिये अविद्या-माया दुष्ट और अतिशय दुःख रूप है। शरीर-सम्बन्ध से जब जब अपने को समारा समझने लगता है तभी वह मोहमुग्ध होता है। यह "मोह सकल व्याधिन कर मूला" है। ज्ञान वह है जहाँ विद्या अथवा अविद्या कोई भी माया जानी नहीं जाती और सब में ब्रह्म ही ब्रह्म की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। वैराग्य वह है जिसमें तीनों गुणों की समूची सिद्धियों का तृण के समान त्याग हो। जीव वह है जो (वास्तव में माया का ईश होते हुए भी) अपने को माया का ईश नहीं समझ रहा है। ईश्वर वह है जो ब्रह्म (इम्पर्सनल) भी है और शिव (पर्सनल) भी है। ब्रह्म तो वह है जो सर्वव्यापी है और जो ज्ञान से देखा जाता है। उसके आगे माया की कोई सत्ता ही नहीं। वह व्यक्तित्व-विहीन है। और शिव वह है जो व्यक्तित्वयुक्त होकर बन्धमोक्षप्रद, सर्वपर और मायाप्रेरक है। यही जीवों का आराध्य हो सकता है। भक्ति वह है जो ईश्वर को शीघ्र द्रवित कर देती है और भक्त को आरम्भ से ही सुख पहुँचाने लगती है। आसानी से भगवान् को प्राप्ति का सम्पादन और आरम्भ से ही आनन्दोपलब्धि ये बातें भक्ति के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

पाँचवाँ द्रष्टव्य विषय है माया, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की उत्पत्ति तथा उनके फलों का अथवा यों कहिये कि उनके कारणों और कार्यों

की चर्चा। माया का कारण है प्रभु की प्रेरणा। प्रभु की प्रेरणा होती है उनके मायाप्रेरक और बन्धमोक्षप्रद गुणों के कारण। मायाप्रेरक गुण से विद्या-माया का क्रम चलता है। बन्धमोक्षप्रद गुण के कारण अविद्या-माया का क्रम चलता है। विद्या माया के कारण जीव का शरीरी होना अनिवार्य है। शरीरी होने के बाद जीव जब अपने को परिच्छिन्न समझने लगता है तभी अविद्यामाया आगे बढ़ निकलती है। माया का, विशेषकर अविद्यामाया का, कार्य है दुःख, पाप, भवबन्धन। इस माया से बचने के तीन उपाय हैं – ज्ञान, वैराग्य और भक्ति। धर्म से वैराग्य की उत्पत्ति है, योग से ज्ञान की और सत्सङ्ग से भक्ति की। वैराग्य का फल है भगवच्चरणों में अनुराग। (यह स्वतन्त्र रूप से परमानन्द नहीं दिला सकता इसी लिये मोक्षप्रद मार्गों में केवल ज्ञान और भक्ति की चर्चा की गई है।) ज्ञान का फल है या तो मुक्ति या फिर भक्ति, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान उस भक्ति के ही अधीन कहे गये हैं। भक्ति का फल है भगवत्प्राप्ति। यह ज्ञान की अपेक्षा अधिक शुभ-फल देने-वाली है, प्रारम्भ ही से सुखमूल और सुगम है तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पन्थ है। इसलिये माया का बन्धन तोड़ने के लिये अथवा जीव और ईश्वर का सान्निध्य कराने के लिये यही श्रेष्ठतम मार्ग है।

छठा द्रष्टव्य विषय है भक्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन। वे साधन हैं:—(१) ब्रह्मणसेवा—इस साधन से अपने अपने कर्मों में प्रवृत्ति होती है जिसके कारण विषयों से वैराग्य होता है और तब भगवान के चरण कमलों में अनुराग होता है। (२) श्रवणादिक नवधा-भक्ति—इनके द्वारा भगवान् की लीलाओं में अति अनुराग उत्पन्न होता है। (३) सन्तसेवा—इसके द्वारा हृदय में सात्विक बल की दृढ़ता आती है और इस तरह दृढ़ नियम के साथ मन-क्रम-वचन से भगवद्-भजन बन पड़ता है। (४) वासुदेवः सर्वमितिभाव—उन्हें ही गुरु, पिता, माता, बन्धु, पतिदेव आदि समझने से एक तो जगत् को राममय देखने

में देर नहीं लगती, दूसरे भगवान् की ओर प्रेमासक्ति भी दृढ़तर हो जाती है। जिसके कारण भगवत्सेवाभाव परिपक्व हो जाता है। (५) सात्विक प्रेमोन्माद—भावप्रवाह इस प्रबलता का हो कि भगवान् का स्मरण करते ही शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद् हो जाय, आँखों से आँसू बहने लगें। (६) द्वन्द्वातीत अवस्था—जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दंभ, पाखंड आदि हृदय से निकल बाहर होते हैं तब निश्चय ही वहाँ भगवान् का निरन्तर वास हो जाता है। (७) अनन्यासक्तचित्तता—कर्म, वचन और मन से जो अनन्य शरणागत होकर केवल भक्तिरस के आनन्द के लिये भक्ति करता है और कोई कामना नहीं रखता उसका साथ भगवान् कभी नहीं छोड़ते। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये सातों साधन भक्ति के सात सोपानों अथवा सप्त भूमिकाओं की तरह एक दूसरे से सम्बद्ध जान पड़ेंगे।

समग्र द्रष्टव्य विषय है इस तत्त्व विवेचन में भक्तियोग की विशेषता, जिसको सुनकर लक्ष्मण ने अत्यन्त सुख पाया। यदि यह समूचा विवेचन हो भक्तियोग के नाम में अभिहित हो तो भी कोई अनौचित्य नहीं।

इस भगवद्गीता को यहाँ कुछ विस्तृत रूप से लिखने में हमारे तीन अभिप्राय थे। पहिली बात तो यह थी कि हम गोस्वामी जी के सिद्धान्तवाक्यों की कुछ बानगी पाठकों के आगे रख देना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि हम तुलसी-सिद्धान्त की विवेचना के पूर्व उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करा देना उचित समझते थे और इस कार्य में हमें इस गीता का उद्धरण ही उपयुक्त जँचा। तीसरी बात यह थी कि हम गोस्वामी जी की रचना की उस गहनता का भी परिचय करा देना चाहते थे जिसके कारण अनेकानेक टीकाएं लिखी गईं और फिर भी लिखी जा रही हैं। "ग्यान मान जहँ एकहु नाहीं" का अर्थ देखिये। इसे स्वतन्त्र वाक्य मानकर कई लोग कहते हैं कि ज्ञान वह है जिसमें श्रीमद्भगवद्गीतोक्त "अमानित्वमदंभित्व" आदि लक्षणों के अनुसार

द्वितीय परिच्छेद

भारतीय भक्तिमार्ग

तुलसी सिद्धान्त का पूरा महत्त्व समझने के लिये हमें समूचे भारतीय भक्तिमार्ग पर भी एक विहगम दृष्टि डाल लेने की आवश्यकता है। न तो ऐसे अन्ध श्रद्धालु की-सी होनी चाहिये जो तर्क का नाम सुनते ही चौंक पड़े और न ऐसे कुतार्किक की-सी हो जो भक्ति मार्ग ही को पोपलीला मानकर हर एक बात का खण्डन करने पर तुला बैठा हो। इस दृष्टि से हम समूचे भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास, उसके सिद्धान्त और उसके गुण दोषों पर अति संक्षिप्त चर्चा कर देना चाहते हैं।

(१) भक्तिमार्ग का इतिहास

मनुष्य लोग जब से अपनी मानवी विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में छिपी अलक्षित शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगे, समझना चाहिये कि तभी से उनमें आस्तिक्यभाव और भक्ति का बीजारोपण हुआ। जिस समय उन्होंने यह समझा कि उनकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित प्राकृतिक शक्तियों का सञ्चालक एक ही सर्वशक्तिमान् है उस समय उनका आस्तिक्यभाव भली-भाँति पल्लवित हो गया ऐसा मानना चाहिये। जिस दिन उन्होंने उस एक सर्वशक्तिमान् से (अथवा यदि उन्होंने अनेक अलक्षित शक्तियाँ ही मानी हों तो अपनी अभीष्ट शक्ति अथवा शक्तियों से) डरने के बदले प्रेम करना प्रारम्भ किया उसी दिन से भक्ति का वास्तविक-

इतिहास प्रारम्भ होता है। "हे महामारी के अधिदेव! मेरे बच्चे के जीव के बदले इस बकरे का जीव ले लो और मेरा बच्चा आराम कर दो।" "अरी चुड़ैल! तुझे नरसिंहनाथ की दुहाई है यदि तू ने मेरी स्त्री को न छोड़ा।" हे मेघों के अधिराज! तुम वज्र गिराकर अथवा अवर्षण से कृषि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना। लो तुम्हारी सन्तुष्टि के लिए हम भाँति-भाँति की सुन्दर वस्तुएं तुम्हे अर्पण करते हैं।" ये सब वास्तविक भक्ति की बातें नहीं हैं। 'हे इन्द्र! हमारी उसी प्रकार रक्षा करो जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है।" "परमात्मा तुम्हीं हमारे माता-पिता हो।" "हे भगवान्! हमें अपना प्रेम दो।' ये अथवा ऐसी ही बाते भक्ति की बातें कही जा सकती हैं। जिस दिन ऐसी भक्ति एक परमात्मा की ओर अर्पित हुई और लोगों ने समझा कि इस अकेले एक साधन-द्वारा भी हमारी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है उसी दिन से समझिये कि भक्ति-मार्ग का सच्चा इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतवासियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं वेद। उन वेदों में भी हम एक देववाद की, और उस एक देव के प्रति प्रेम की, बातें पाते हैं।* इसलिये यदि हम कहें कि भारतीय भक्ति-मार्ग वेदों के समान प्राचीन है तो आश्चर्य का कोई कारण नहीं।

वैदिक साहित्य का नाम निगम साहित्य भी है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। उसके अनुशीलन से हमें पता लगता है कि भिन्न भिन्न शक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना करते हुए भी आर्यों

---

*१. एकसद् विप्राः बहुधा वदन्ति। ऋक् १-१६४-४६

२. कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति। ऋक् १० ११४-५

३ अदितिर्माता स पिता। ऋक् १-८८-१०

४ द्यौः मे पिता। ऋक् १-१०४-३३

५. इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा—साम १-६-२-२-७

ने एकेश्वरवाद पर अपनी पूर्ण आस्था रखी है और इसी आस्था के कारण उन्होंने कभी वरुण को सर्वशक्तिमान् कहा, कभी इन्द्र को, कभी रुद्र को और कभी विष्णु को। जिस देवता के नाम में सर्वशक्तिमत्ता का विशेष आरोप होता गया उसकी महिमा निश्चय ही बढ़ती चली गई। नाम भले ही वही रहे परन्तु नामों में जो यह परिवर्त्तन और विकास होता गया उसके कारण "इन्द्र" "वरुण" "कुवेर" आदि के महत्त्व में घटबढ़ होती गई। सब प्रकार के प्राकृतिक व्यापारों में सृष्टि स्थिति और लय का ही महत्त्व अधिक था इसलिये उनके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही सर्वशक्तिमत्ता के भाव से विशेष रूप से परिपूरित समझे जाकर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते गये। मानवी स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियों ने भी दो रूप धारण कर लिये। जो अदृश्य नियन्ता की क्रिया से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिये कि जो अदृष्ट को प्रधानता देने लगे, वे सर्वभक्षी अग्नि को उसका प्रतिनिधि मानकर (वस्तुओं को जलाकर उनका सार बात की बात में उस अदृष्ट शक्ति तक पहुँचाने वाला समझकर) याज्ञिक बने और जो उस नियन्ता की वस्तुओं से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष को प्रधानता देने लगे वे सूर्य, चन्द्र आदि महिमामय पदार्थों के प्रतीक से उसकी पूजा करने लगे। इन सब पदार्थों में सूर्य ही प्रधान थे। इसलिये सवितापूजा भी वैसी ही जोरदार हुई जैसी यज्ञ में अग्निपूजा। धीरे-धीरे यज्ञ से रुद्र का तादात्म्य हो गया[1] और सूर्य से विष्णु का[2]। इस प्रकार शिवपूजा (रुद्रपूजा) और विष्णुपूजा ने अन्य सब पूजाओं को एक प्रकार से दबा ही दिया। यज्ञ का कृत्य किस

---

[1] देखिये कल्याण के शिवाङ्क में महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का लेख तथा आचार्य ध्रुव की "हिन्दू धर्म प्रवेशिका।"

[2] भण्डारकर, बर्थ इत्यादि की यही राय है।

मान आदि एक भी वस्तु नहीं है। इसे अगली पंक्ति से सम्बद्ध मानकर कई लोग कहते हैं 'ज्ञान का अभिमान न होना (ब्रह्म को सब कहीं देखना और तृण के समान तीन गुणों का त्याग कर देना) यह वैराग्य का लक्षण है।' "धर्म ते विरति जोग ते ग्याना" वाला विषय देखिये। कई लोग कहते हैं कि इसका अर्थ है "धर्म से विरति होती है, विरति से योग होता है और योग से ज्ञान होता है।" कई लोग कहते हैं "धर्म से विरतयोग होता है और विरतियोग से ज्ञान होता है।" कई लोग कहते हैं "धर्म से विरति होती है और विरति तथा योग से ज्ञान होता है।" और प्रमाण में "ज्ञान कि होइ विराग बिनु" को पेश करते हैं। कई लोग "होने" की जगह "श्रेष्ठ है" की बात कहकर अर्थ करते हैं कि "धर्म से वैराग्य श्रेष्ठ है और योग से ज्ञान श्रेष्ठ है।" भक्ति के साधनों के सम्बन्ध में भी कई ने तो शबरी की नवधा भक्ति को इन साधनों के साथ मिलाकर दिखाया है और कई लोगों ने अधिकारी भेद से यहाँ श्रवणादिक नौ शास्त्रोक्त भक्तियों का व्यतिरेक दिखाकर इन साधनों को शबरी के प्रति कहे गये साधनों से भिन्न बताया है। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि जिस ओर चल पड़ी उसने उसी प्रकार के अर्थ किये हैं। किस टीकाकार ने कहाँ क्या कहा और कहाँ किस प्रकार की भूल की है यह सब बतलाकर हम अपने निबन्ध की अनावश्यक कलेवर-वृद्धि नहीं करना चाहते। जो सज्जन चाहें वे टीकाओं से मिलाकर स्वतः देख सकते हैं कि हमारा उपर्युक्त विवेचन कहाँ तक युक्तिसंगत और कहाँ तक नवीन है।

द्वितीय परिच्छेद

भारतीय भक्तिमार्ग

तुलसी सिद्धान्त का पूरा महत्त्व समझने के लिये हमें समूचे भारतीय भक्तिमार्ग पर भी एक विहगम दृष्टि डाल लेने की आवश्यकता है। न तो ऐसे अन्ध श्रद्धालु की-सी होनी चाहिये जो तर्क का नाम सुनते ही चौंक पड़े और न ऐसे कुतार्किक की-सा हो जो भक्ति-मार्ग ही को पोपलीला मानकर हर एक बात का खण्डन करने पर तुला बैठा हो। इस दृष्टि से हम समूचे भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास, उसके सिद्धान्त और उसके गुण दोषों पर अति संक्षिप्त चर्चा कर देना चाहते हैं।

(१) भक्तिमार्ग का इतिहास

मनुष्य लोग जब से अपनी मानवी विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी अलक्षित शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगे, समझना चाहिये कि तभी से उनमें आस्तिक्यभाव और भक्ति का बीजारोपण हुआ। जिस समय उन्होंने यह समझा कि उनकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित प्राकृतिक शक्तियों का सञ्चालक एक ही सर्वशक्तिमान् है उस समय उनका आस्तिक्यभाव भली-भाँति पल्लवित हो गया ऐसा मानना चाहिये। जिस दिन उन्होंने उस एक सर्वशक्तिमान् से (अथवा यदि उन्होंने अनेक अलक्षित शक्तियाँ ही मानी हों तो अपनी अभीष्ट शक्ति अथवा शक्तियों से) डरने के बदले प्रेम करना प्रारम्भ किया उसी दिन से भक्ति का वास्तविक

इतिहास प्रारम्भ होता है। "हे महामारी के अधिदेव! मेरे बच्चे के जीव के बदले इस बकरे का जीव ले लो और मेरा बच्चा आराम कर दो।" "अरी चुड़ैल! तुझे नरसिंहनाथ की दुहाई है, यदि तू ने मेरी स्त्री को न छोड़ा।" हे मेघों के अधिराज! तुम वज्र गिराकर अथवा अवर्षण से कृषि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना। लो तुम्हारी सन्तुष्टि के लिए हम भाँति-भाँति की सुन्दर वस्तुए तुम्हे अर्पण करते हैं।" ये सब वास्तविक भक्ति की बातें नहीं हैं। "हे इन्द्र! हमारी उसी प्रकार रक्षा करो जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है।" "परमात्मा तुम्हीं हमारे माता-पिता हो।" "हे भगवान्! हमें अपना प्रेम दो।" ये अथवा ऐसी ही बाते भक्ति की बातें कही जा सकती हैं। जिस दिन ऐसी भक्ति एक परमात्मा की ओर अर्पित हुई और लोगों ने समझा कि इस अकेले एक साधन-द्वारा भी हमारी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है उसी दिन से समझिये कि भक्ति-मार्ग का सच्चा इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतवासियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं वेद। उन वेदों में भी हम एक देववाद की, और उस एक देव के प्रति प्रेम की, बातें पाते हैं।* इसलिये यदि हम कहें कि भारतीय भक्ति-मार्ग वेदों के समान प्राचीन है तो आश्चर्य का कोई कारण नहीं।

वैदिक साहित्य का नाम निगम साहित्य भी है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। उसके अनुशीलन से हमें पता लगता है कि भिन्न भिन्न शक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना करते हुए भी आर्यों

---

*१. एकसद् विप्राः बहुधा वदन्ति। ऋक् १-१६४-४६

२. कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति। ऋक् १० ११४-५

३. अदितिर्माता स पिता। ऋक् १-८८-१०

४. द्यौः मे पिता। ऋक् १-२०४-३१

५. इन्द्र क्रतु न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा—साम १-६-२-२-७

ने एकेश्वरवाद पर अपनी पूर्ण आस्था रखी है और इसी आस्था के कारण उन्होंने कभी वरुण को सर्वशक्तिमान् कहा, कभी इन्द्र को, कभी रुद्र को और कभी विष्णु को। जिस देवता के नाम में सर्वशक्तिमत्ता का विशेष आरोप होता गया उसकी महिमा निश्चय ही बढ़ती चली गई। नाम भले ही वही रहे परन्तु नामों में जो यह परिवर्त्तन और विकास होता गया उसके कारण "इन्द्र" "वरुण" "कुवेर" आदि के महत्त्व में घटबढ़ होती गई। सब प्रकार के प्राकृतिक व्यापारों में सृष्टि स्थिति और लय का ही महत्त्व अधिक था इसलिये उनके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही सर्वशक्तिमत्ता के भाव से विशेष रूप से परिपूरित समझे जाकर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते गये। मानवी स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियों ने भी दो रूप धारण कर लिये। जो अदृश्य नियन्ता की क्रिया से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिये कि जो अदृष्ट को प्रधानता देने लगे, वे सर्वभक्षी अग्नि को उसका प्रतिनिधि मानकर (वस्तुओं को जलाकर उनका सार बात की बात में उस अदृष्ट शक्ति तक पहुँचाने वाला समझकर) याज्ञिक बने और जो उस नियन्ता को वस्तुओं से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष को प्रधानता देने लगे वे सूर्य, चन्द्र आदि महिमामय पदार्थों के प्रतीक में उसकी पूजा करने लगे। इन सब पदार्थों में सूर्य ही प्रधान थे। इसलिये सवितापूजा भी वैसी ही जोरदार हुई जैसी यज्ञ में अग्नि-पूजा। धीरे-धीरे यज्ञ से रुद्र का तादात्म्य हो गया[1] और सूर्य से विष्णु का[2]। इस प्रकार शिवपूजा (रुद्रपूजा) और विष्णुपूजा ने अन्य सब पूजाओं को एक प्रकार से दबा ही दिया। यज्ञ का कृत्य किस

---

[1] देखिये कल्याण के शिवाङ्क में महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का लेख तथा आचार्य ध्रुव की "हिन्दू धर्म प्रवेशिका।"

[2] भण्डारकर, बर्थ इत्यादि की यही राय है।

प्रकार रुद्राभिषेक में परिणत हो गया और सूर्य के स्थान पर किस प्रकार विष्णु भगवान् आ विराजे अथवा यों कहिये कि "शिव" और "विष्णु" इन दोनों नामों के नामी का विकास किस प्रकार होता गया है यह विषय अत्यन्त रोचक होते हुए भी स्थल-संकोच के कारण यहाँ लिखा नहीं जा सकता। यह बात नहीं है कि रुद्रपूजा ने यज्ञयोग का कृत्य ही मिटा दिया। वह कृत्य भी साथ चलता रहा और वह प्रधानता ब्रह्मा की सन्तुष्टि का कृत्य - ब्राह्मण कृत्य—रह गया। इस तरह त्रिदेवों की पूजा तो होती ही रही परन्तु अदृष्ट की प्रधानता के साथ महाकाल की प्रधानता और प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ महास्थिति की प्रधानता सम्बन्ध रहने के कारण विशेष पूजा के पात्र शिव और विष्णु ही माने गये[1]।

वैदिक साहित्य के समान ही प्राचीनता का दावा रखने वाला आगम अथवा तन्त्र साहित्य है। हिन्दी विश्व-कोषकार का कथन है कि इस शास्त्र के सिद्धान्त बाहर से यहाँ आये। संभव है वे शक देश से आये हों। वे अधिकांश में शक्तिसिद्धान्त हैं और सर्वशक्तिमान् को पिता-रूप में नहीं प्रत्युत माता-रूप में भजने की सलाह देते हैं। उन्होंने कई अनार्य पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं[2]। यह सब होते हुए भी उन्होंने आर्य देवताओं को लेकर और विशेषकर रुद्र-शिव को लेकर सर्वशक्तिमान् की साकार कल्पना और विधि-विधानमयी उपासनापद्धतियों तथा

---

[1] ए० वर्थकृत "दी रिलीजन्स आफ इण्डिया," पेज २५५-१८८२ एडीशन।

[2] कुब्जिकामत तन्त्र और वसु महोदय का हिन्दी विश्वकोष ६६७ भाग २२ वाँ।

[3] चिन्मयस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना॥—कुलार्णव तन्त्र ५ पटल ६ अध्याय।

मंत्रों और मन्त्रविधानों की अच्छी सृष्टि की है। भक्तिमार्ग मे इन ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव पड़ा है[1]। देवीसूक्त ने तो वैदिक साहित्य तक मे आसन पा लिया है। शैवसम्प्रदाय भी बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आश्रित है। वैष्णवसम्प्रदाय के पञ्चरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत कहे जाते हैं[2]। आज जो तन्त्रग्रन्थ उपलब्ध हैं वे वैदिक संस्कृत मे न लिखे होने के कारण अर्वाचीन ही जान पड़ते हैं परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के सिद्धान्त वैदिक काल मे विद्यमान ही न थे। यजुर्वेद का "सहस्वसाम्बिकया त इषस्व" वाला मन्त्र बताता है कि उस समय भी अम्बिका का महत्त्व रुद्र की बराबरी तक पहुँच गया था।

भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में तीसरे द्रष्टव्य साहित्य का नाम है पुराण। यह साहित्य भक्तिमार्गियों की विशेष वस्तु है। यद्यपि इसके ग्रन्थ अपेक्षाकृत नूतन हैं तथापि उनका बहुत-कुछ कथा-भाग वैदिक साहित्य से ही लिया गया है। पुराण-साहित्य के निर्माता महोदयों ने वैदिक देवताओं का और उनके सम्बन्ध की कथाओं का जैसा सत्कार किया है वह देखने और मनन करने की वस्तु है। उन्होंने देवताओं के गुणों और उनकी क्रियाओं के अनुसार उनके आकार, आयुध वाहन आदि की कल्पना की[3] और इस सम्बन्ध में आगम साहित्य से पर्याप्त सहायता ली। देवताओं की आकृति और प्रकृति के अनुसार ही उनके चरित्रों की चर्चा की और उनके गुण कर्म स्वभाव पर ध्यान रखते हुए उनके

---

[1] आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥ विष्णुयामल

[2] नारदपञ्चरात्र का कुछ सम्प्रदायों में स्वतंत्र रूप से बड़ा मान है।

[3] यजुर्वेद ३-५-७

[4] इस प्रसग में श्री हेवेल महोदय आदि के ग्रन्थ दर्शनीय हैं।

"नाम रूप लीला और धाम" की महिमाएँ बताईं। उन्होंने परमात्मा को पूरी तरह व्यक्तित्व-विशिष्ट बनाकर उसे प्रत्येक भावुक भक्त के लिए सुलभ कर दिया। इतना ही नहीं उन्होंने ईश्वरोपासना का यह साधनमार्ग सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से अत्यन्त सरल बनाकर लिखा और सामूहिक दृष्टि से लोक-कल्याण की भावना को सामने रखकर सात्विक आस्तिक्य तथा लोकसेवा को प्राधान्य देते हुए वर्तमान वैष्णव धर्म के तत्वों को स्पष्ट किया। आधभौतिक पंचतत्वों के अनुसार उन्होंने परमात्मा को पाँच रूपों में व्यक्त किया है[1]। वे रूप हैं—सूर्य, गणेश, देवी, शङ्कर और विष्णु। कालान्तर में वास्तविक सूर्यपूजा अभारतीय-सी बन गई और गणपतिपूजा तथा देवीपूजा तांत्रिक लोगों से विशेष अपनाई जाने के कारण—भारतीय भक्तिमार्ग में गौण सी हो गई। लोगों ने सूर्यपूजा को नवग्रहपूजा के अन्तर्गत करके और गौरी गणेश को प्रथम पूजा के अधिकारी बनाकर उनसे छुट्टी पा ली। शैव सम्प्रदाय यद्यपि जोरदार रहा तथापि भावुक भक्तों के लिये वह भी वैष्णव सम्प्रदाय के समान प्रबल आकर्षक न सिद्ध हो पाया। इसलिए कालान्तर में वैष्णव-सम्प्रदाय ही भक्तिमार्ग का सर्वेसर्वा हो गया--यहाँ तक कि भक्त अथवा सन्त और वैष्णव पर्यायवाची शब्द हो गये[2]। भक्तिमार्ग के ज्ञान का अंश—तत्त्व का अंश—विशेषतः निगमसाहित्य से, कर्म का अंश—अनुष्ठानविधि, साधनक्रिया आदि का अंश—विशेषतः आगम साहित्य से तथा भाव का अंश—नाम, रूप, लीला-धाम सम्बन्धी अनुराग का अंश—विशेषतः पुराण साहित्य से पुष्ट होता है। और भारतीय

---

[1] देखिये स्वामी दयानन्द का धर्मकल्पद्रुम।

[2] द्विविधो भूत सर्गोऽयं देव आसुर एव च।
विष्णुभक्तिपरो देवो विपरीतस्तथासुरः॥—विष्णुधर्मोत्तर

साहित्य की यही त्रिवेणी है जिसमे भक्तिरूपी तीर्थराज का जल सन्निहित है। गोस्वामी जी ने इसीलिये अपने तत्त्वसिद्धान्त को 'नानापुराणनिगमागमसम्मत" अथवा "आगम निगम पुराण बखाना" कहा है[1]।

रुद्र की महिमा ऋग्वेद के समय ही खूब बढ़ चुकी थी और यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी तो आज तक शिवपूजा मे व्यवहृत हो रही है। पुरातत्त्वविभाग के अनुसन्धानो मे भी शिवपूजा के प्राधान्य का पता लगता है। आर्यों की यज्ञपूजा और अनार्यों की लिंगपूजा अथवा समाधिशिलापूजा के सांस्कृतिक समन्वय द्वारा उन दोनो का एक महादेवपूजन भी यह बताता है कि उस समय भारतवर्ष मे शिवपूजा ही का प्राधान्य था जिसके प्रेमी आर्य (देवता) और अनार्य (राक्षस) दोनों ही थे। यह शिवपूजा कालान्तर मे पाशुपत सम्प्रदाय (नकुलीश सम्प्रदाय), कालामुख सम्प्रदाय (अघोरी), काश्मीरी शैव सम्प्रदाय और वीर शैव सम्प्रदाय (वसव आचार्य का लिंगायत सम्प्रदाय) आदि अनेक सम्प्रदायों का रूप धारण कर चुकी है। परन्तु आज दिन वैष्णवता का जो प्राधान्य भारतवर्ष में देखा जाता है वह शैवता का नहीं। हमारी समझ मे इसका कारण यही है कि विष्णुपूजा के प्रवर्त्तन के लिये भाग्यवश कृष्ण के समान सार्वभौम आचार्य मिल गये जिनकी जोड़ का कोई भी आचार्य शिवपूजा के प्रवर्त्तन के लिये न मिल सका।

यह तो निश्चित है कि वेद किसी एक ऋषि के कहे हुए नही हैं। इसलिये वैदिक धर्म भी किसी एक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित नहीं हुआ है। वैदिक ऋचाओं के अनुकूल जो क्रियापद्धति बहुमतग्राह्य होती गई वही वैदिक धर्म बन गई। देश, काल, पात्र के परिवर्तन के साथ ही साथ ऐसे

---

[1]गोस्वामी जी ने वेद अथवा श्रुति शब्द के अन्तर्गत इन तीनों प्रकार के साहित्यों को रखा है।

बताते हैं कि श्रीकृष्ण का आविर्भावकाल उन वैयाकरणी महोदयों से बहुत पहिले का है[1]। बौद्धों के "ललित विस्तर" मे लिखा है कि बुद्ध के समय वासुदेवक, पाञ्चरात्र आदि वैष्णव-सम्प्रदायानुयायी वर्तमान थे। निद्देश (बौद्ध ग्रन्थ) और उत्तराध्ययन सूत्र (जैन ग्रन्थ) भी वासुदेव की चर्चा करते हैं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के मेगास्थनीज ने भी मथुरा, कृष्णापुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुलईश का उल्लेख किया है। बेस नगर का शिलालेख, जो ईसा से २०० वर्ष पूर्व का माना जाता है स्पष्ट बताता है कि "देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजो अयं कारितो... .. हेलिओ डोरेण भागवतेन दियसपुत्रेण-तखशीलकेन"। घासुण्डी का शिलालेख इससे भी कुछ पहिले का है उसमें भी संकर्षण और वासुदेव की पूजा का उल्लेख है[2]। श्रीकृष्ण जी की प्राचीनता और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे यहाँ इतने प्रमाण ही पर्याप्त हैं।

भगवद्‌गीता के अध्ययन और गोवर्धनपूजा आदि के चरित्रों का अनुशीलन करने से विदित होता है कि इन भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अपने समय के प्रचलित ब्राह्मणधर्म (यज्ञप्रधान धर्म) अथवा वैदिक धर्म में अनेक सुधार करके एक नया धर्म (सम्प्रदाय) चलाया था। इस धर्म में कामना से भरे हुए द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा मानसिक साम्य ज्ञानमय यज्ञ (त्याग) की प्रधानता दी गई। ऐश्वर्यमदमत्त इन्द्र-पूजा की अपेक्षा लोकसंग्रहप्रवर्तक वैष्णवभाव को अधिक महत्त्व दिया

---

[1] कहना न होगा कि विद्वानों ने पतंजलि को ईसा से २०० साल पहिले का, कात्यायन को ४०० साल पहिले का और पाणिनि को ६०० साल पहिले का माना है। देखिये भण्डारकर का "वैष्णविज़्म शैविज़्म" इत्यादि।

[2] विशेष विवरण के लिये रायचौधरी की "अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट", भण्डारकर का "वैष्णविज़्म शैविज़्म" आदि ग्रन्थ देखिये।

गया। मुक्ति के लिये स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि सभी अधिकारी मान लिये गये और भगवच्छरणागति को पूरा प्राधान्य दिया गया। अनासक्ति सरीखे दिव्य गुणों पर बहुत जोर दिया गया और दैवी सम्पत्तियों की ओर लोगों को प्रवृत्त किया गया। वैष्णवधर्म के ये ही मूल सिद्धान्त हैं। यह बात नहीं है कि वैदिक साहित्य में इन सिद्धान्तों का कोई अस्तित्व ही न था। परन्तु ऐसे उपादेय विषयों का चुनना और उन्हें लोकसंग्राहरूप देकर प्रकट करना श्रीकृष्ण भगवान् का ही काम था। फिर स्वतः वे भी तो वैदिक काल ही में हुए हैं। तब फिर जब इन सिद्धान्तों के साथ उनकी अमिट छाप पड़ी हुई है तब उन्हें ही यदि हम वैष्णवधर्म का जन्मदाता कह दें तो कोई अनौचित्य नहीं।

नये धर्म का प्रवर्त्तन करते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राचीनता प्रेमी आर्यसमाज के आगे उनके आराध्यग्रंथ वेदों की निन्दा में एक वाक्य भी नहीं लिखा, उनके मान्य देवताओं के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा—वरन् उन्हीं के देवता विष्णु की महत्त्ववृद्धि में दत्तचित्त रहे। उनकी पूजापद्धतियों के खिलाफ एक उँगली भी नहीं उठाई। और सबसे बढ़कर बात यह थी कि उन्होंने नवधर्मप्रवर्त्तक होने का ढोंग कभी नहीं रचा। परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणधर्म अलक्षित रूप से वैष्णवधर्म में परिणत हो गया[1]। श्रीकृष्ण के समकालीन भीष्म और व्यास के समान अतुल शक्तिशील और अतुल विचारशील महापुरुषों ने भी भगवान् श्रीकृष्ण की महत्ता स्वीकार की और उनके अनुयायी

हुए। उनका समूचा कुटुम्ब उनके इस नवीन धर्म मे दीक्षित होकर वैष्णवों के लिये "सात्वत" और "वार्ष्णेय" सरीखे शब्दों की धरोहर छोड़ गया जो वैदिक साहित्य तक में पाये जाते हैं। उनके शिष्यानुशिष्यों ने अपनी विचारधाराओं से भारतवर्ष को इस प्रकार आप्लावित कर दिया कि भारत ही क्यों देशविदेश तक निष्कामकर्म और अहिंसा-धर्म की दुन्दुभी बज उठी।

कला के सहारे निराकार को साकार रूप देकर समझाना भक्तिमार्ग का प्रधान विषय है। अवाङ्मनसगोचर परमात्मा भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया जाता है। इस तत्त्व का पूरा अनुभव कदाचित् पहिले पहल नारायण ऋषि ने किया था इसीलिये परमात्मा को पुरुष संज्ञा देकर उन्होंने पुरुषसूक्त के समान कलापूर्ण वस्तु संसार को प्रदान की।[1] बहुत संभव है कि श्रीकृष्ण जी ने नारायण ऋषि की जीवनचर्या (भागवत में लिखा है कि उन्होंने क्रोध पर एकदम विजय प्राप्त कर ली थी) और सूक्तियों से मुग्ध होकर उन्हे अतिमानवी महत्त्व प्रदान किया हो। परमात्मा का नारायण नाम पहिले पहल शतपथ ब्राह्मण में देखा जाता है और तैत्तिरीय आरण्यक में वह विष्णु के साथ सम्बद्ध मिलता है[2]। छान्दोग्य उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक की रचनाओं मे विशेष अन्तर नहीं। इसलिए बहुत संभव है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने ही नारायणीय धर्म की बात कहकर अपने

---

[1] इस सूक्त में जहाँ एक ओर हजार हाथ पाँव वाले पुरुष का वर्णन है वहीं दूसरी ओर उसके एक मुख, दो हाथ और पाँव भी बताये गये हैं। इसके पहले छंद से 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' वाला छन्द मिलाकर देखिये।

[2] देखिये रायचौधरीकृत "अरली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट" —१९२० एडीशन पेज ६

अनुयायियों को यह अवसर दिया होगा कि वे विष्णु, नारायण और कृष्ण में एक ही विभूति का चमत्कार देखने लगे[1]। कृष्णभक्तों की इस भावना के कारण वैष्णव धर्म में अवतारवाद आप ही आप प्रविष्ट हो गया और फिर तो श्रीकृष्ण के पूर्ववर्ती सभी महामान्य व्यक्ति विष्णु के अवतार कहे जाने लगे[2]। जिसने जगद्रक्षा के लिए असाधारण कार्य कर दिखाया वही अवतार हो गया। यदि एक ओर सनकादि ऋषि, ऋषभदेव, कपिल, राम, परशुराम, व्यास आदि अवतार माने गये तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध तक उसी सूची में सम्मिलित कर दिये गये। इतना ही नहीं विश्वविकास के क्रम को देखते हुए मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन आदि भी अवतार की कोटि में रख दिये गये।

इन सब अवतारों में राम का अवतार अपना विशेष महत्त्व रखता है। पुराणोक्त सोमसूर्यवंशविस्तार एकदम कपोल कल्पना नहीं है यह बात आजकल अनेकानेक विद्वान् मानने लगे हैं। उन वंशावलियों में इतिहास का बहुत कुछ मसाला भरा पड़ा है और उसी मसाले में भगवान् रामचन्द्र जी की भी ऐतिहासिकता निहित है। वंशावलियाँ ही

---

[1]भण्डारकर महोदय नारायण को काल्पनिक (दार्शनिक) देवता मानते हैं। वे गोपालकृष्ण को भी वासुदेवकृष्ण से भिन्न मानते हैं। हम कृष्णस्वामी ऐयंगर महोदय से सहमत होते हुए (देखिए 'अरली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया") गोपालकृष्ण और वासुदेवकृष्ण को एक ही मानते हैं। नारायण को भी हम एकदम काल्पनिक (दार्शनिक) मानने का विशेष कारण नहीं पाते।

[2]कई लोग कहते हैं कि विष्णु अभारतीय थे—श्वेतद्वीपपति थे—इसलिए उनके अवतारों की आवश्यकता हुई। (देखिये "तुलसी के चार दल") परन्तु यह सिद्धान्त भ्रामक है। क्योंकि श्वेतद्वीप को पार्थिव अथ च अभारतीय मानना ही भूल है।

बताती हैं कि ये श्रीकृष्ण जी से पहिले हुए हैं। परन्तु इतिहास की उपलब्ध सामग्रियों के अन्वेषण से पता चलता है कि इनकी महिमा श्रीकृष्ण जी के बहुत पीछे उदित हुई है। सर भण्डारकर महोदय के मत से और "वैष्णविज्म शैविज्म" नामक ग्रन्थ मे उनके दिये हुए तर्कों से यह जान पडता है कि यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल से ही लोग राम को ईश्वरावतार मानने लगे थे परन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग से ही प्रारंभ हुई है। बाल्मीकीय रामायण के वे अंश प्रक्षिप्त समझे जाते हैं जिनमें राम के ईश्वरत्व पर जोर दिया गया है। वैदिक साहित्य मे राम की चर्चा प्रायः नहीं के समान है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों अथवा शिलालेखों आदि में भी इस सम्बन्ध का बहुत ही कम मसाला मिलता है। यद्यपि आज दिन अध्यात्म-रामायणादि अनेकानेक रामायणें और रामरहस्य, रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी, तारसार आदि उपनिषदें रामभक्ति के सम्बन्ध की मिलती हैं परन्तु आधुनिक विद्वान् उनकी प्राचीनता पर सन्देह ही करते हैं[1]। यद्यपि बृहत्तर भारत के कई प्रदेशों मे प्रस्तर खण्डों पर अंकित

---

[1] कई महानुभावों ने रामायण की सूची में न जाने कितने नाम गिना दिये है। (देखिए त्रिपाठी जी की भूमिका) परन्तु हमे तो इम्पीरियल लाइब्रेरी सरीखे बड़े पुस्तकालय टटोलने पर भी दो ही चार रामायणें (संस्कृत में लिखी हुई) मिलीं। गङ्गाधर प्रेस रायबरेली से श्रीजगबहादुर सिंह जी की जो टीका छपी है उसमें अनेकानेक रामायणों का उल्लेख है और कुछ श्लोकों के प्रमाण भी दिये हुए हैं। परन्तु इन "प्रमाणों" की पोल सावन्त जी ने अच्छी तरह खोल दी है। (देखिये लङ्काकाण्ड की भूमिका)। हम समझते हैं कि रामायणों की लंबी सूची गिनानेवाले लोग केवल ठाकुर जंगबहादुरसिंह जी की नकल कर रहे हैं।

रामायण की घटनाएँ देखते हुए यह मानना पड़ता है कि राम की महिमा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पहिले ही द्वीपद्वीपान्तर तक फैल गई थी तथापि इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि वे घटनाएँ ईसा की पाँचवीं सदी के पहिले की खोदी हुई हैं। इतना सब होते हुए श्री राम के अद्वितीय मर्यादा पुरुषोत्तमत्व में और अपूर्व लोकरञ्जन-चरित में कुछ ऐसी शक्ति थी कि भारतीय जनता आप ही आप उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई और परिणाम यह हुआ कि आज दिन वे श्रीकृष्ण के समान ही पूर्णावतार माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य में वैष्णवधर्म "एकान्तिक" धर्म ही था। जब गीता बनी—अनुमान है कि यह श्रीकृष्णचन्द्रजी के बाद तथा महाभारत ग्रन्थ से पहिले लिखी गई है—उस समय तक अवतारवाद स्थिर हो चुका था। जब महाभारत का नारायणीय धर्म लिखा गया (कहा जाता है कि वह गीता के बाद का है) तब "चतुर्व्यूह" की चर्चा भी चल पड़ी थी। जब पुराण लिखे गये उस समय तो वैष्णवधर्म की शाखाप्रशाखाओं की भी पूरी पुष्टि हो चली थी। पद्मपुराण में वैष्णवधर्म के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे ही चारों सम्प्रदाय क्रमशः रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित हुए, यह भी पद्मपुराण में जोड़ दिया गया है[1]। इसलिए आजकल इन्हीं चारों आचार्यों के सिद्धान्त वैष्णव-धर्म में बहुत मान्य समझे जाते हैं। जो धर्म कृष्ण के द्वारा चलाया जाकर मथुरा के आसपास रहा और बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण उत्तरीय भारत में संकुचित सा हो गया वह दक्षिणीय आलवारों की कृपा से दक्षिण की ओर प्रचारित होकर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्फुटित हो उठा और इस प्रकार फिर उसने

[1] रामानुज श्रीस्त्रीचक्रे मध्वाचार्य चतुर्मुखः। श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥ पद्मपुराण वसु के "हिन्दी विश्वकोष" से।

आर्यावर्त्त में अपना आधिपत्य जमा लिया। कई लोगों की राय है कि रामानुजाचार्य ने ईसाइयों से भी भक्ति का बहुत कुछ तत्व लिया है। डाक्टर ताराचन्द महोदय का कथन है (देखिये "इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर") कि मुस्लिम सन्तों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। जो कुछ भी हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को एकदम भारतीय रूप देकर ही और श्रुतिसम्मत बनाकर ही लिया है। निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने बहुत थोड़े हेरफार के साथ रामानुज के सिद्धान्तों को ही प्राधान्य दिया है। इन चारों आचार्यों के पूर्ववर्ती जगद्गुरु शंकराचार्य को और परवर्त्ती (वल्लभाचार्य के समकालीन) चैतन्य महाप्रभु को भी भक्तिमार्ग के प्रधान आचार्य मानना चाहिये। चैतन्यमहाप्रभु की आचार्यता पर तो किसी को शंका हो ही नहीं सकती। शंकर के सम्बन्ध में अवश्य कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने अपने भाष्य में पाञ्चरात्रों को अवैदिक ठहराया है और केवल अद्वैत मत का स्थापन कर अनुरागात्मिका भक्ति को अन्तिम ध्येय नहीं माना है। परन्तु उनके नाम से प्रख्यात जो छोटे छोटे ग्रन्थ और भक्ति के स्तोत्र हैं उनमें भक्ति का बड़ा सुन्दर रूप प्रकट हुआ है। "त्वयिमयि चान्यत्रैको विष्णु" "विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां" "सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं" "किं स्मर्तव्यं पुरुषैः? हरिनाम सदा" "शिवप्रसादेन विना न मुक्ति" आदि उनके वाक्य देखने ही योग्य हैं। वे भावाद्वैतता चाहते हैं क्रियाद्वैतता नहीं। वे मनुष्य को आजीवन गुरुभक्त और ईश्वरभक्त बना रहने की सलाह देते हैं[1]। वे स्वरूपानु-

---

[1] यावदायुस्त्वया वंद्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः। मनसा कर्मणा वाचा श्रुतिरेवैष निश्चयः॥ भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह—तत्त्वोपदेश ८६-८७ श्लोक।

संधान और भगवद्भक्ति में कोई अन्तर नहीं मानते[1] तथा चित्तशुद्धि के लिये भक्ति को नितान्त आवश्यक कहते हैं[2]। उनका "प्रबोध सुधाकर" ग्रन्थ तो कृष्णभक्ति के विषय में बेजोड़ ग्रन्थ है। सम्भव है, इनमें से कुछ पुस्तकें उनकी शिष्यपरम्परा वाले किन्हीं अन्य शंकराचार्यों की लिखी हुई हों परन्तु जब कि उन पुस्तकों के सिद्धान्त शांकरसम्प्रदाय वालों को सम्मान्य हैं तब उन सिद्धान्तों की आचार्यता का श्रेय आदि-गुरु शङ्कराचार्य को क्यों न दिया जाय। "शङ्कराचार्य तो तर्कियों के राजा थे। संसार के साहित्य में शायद ही ऐसी कोई वस्तु हो जो शंकर के तर्क-वाद से आगे बढ़ सके। किन्तु उन्होंने पहला स्थान प्रार्थना और भक्ति को ही दिया था। (महात्मा गान्धी का धर्मपथ पृष्ठ ८७)

शंकराचार्य ने विष्णु और शंकर दोनों को समान प्राधान्य दिया है। रामानुज ने कट्टर वैष्णव की भाँति लक्ष्मीनारायण की पूजा पर ही जोर दिया है। निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य ने कृष्णपूजा पर ही विशेष आस्था प्रकट की है। मध्व ने रामपूजा की ओर रुचि दिखाई अवश्य परन्तु इस पूजा के पूरे प्रचार का श्रेय महात्मा रामानन्द जी को है जो रामानुज की शिष्यपरम्परा में १४वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इन्होंने वैष्णव धर्म में तीन बड़े सुधार किये। एक तो उन्होंने भक्तिमार्ग में जातिभेद की संकीर्णता मिटाई, दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ किया और तीसरे लोकमर्यादानुकूल सदाचारमूलक रामभक्ति पर पूरा जोर दिया। भक्त कोई ऐतिहासिक नहीं जो वह यह देखने की चेष्टा करे कि कृष्ण की प्राचीनता अधिक

---

[1] स्वात्मैक चिन्तनं यत्तदीश्वरध्यानमीरितं—सर्ववेदान्तसिद्धान्त सारसंग्रह १२२वाँ श्लोक।

[2] शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते—प्रबोधसुधाकर १६७वाँ श्लोक।

है अथवा राम की। वह तो हृद्गत भावों के अनुकूल अपने आराध्य परमात्मा का एक सच्चिदानन्दमय रूप चाहता है। उस रूप को जिसकी इच्छा हो कृष्ण कह ले और जिसकी इच्छा हो राम कह ले। कृष्ण-चरित में अलौकिकता थी, अतिमानवी विषयों की भरमार थी। वह चरित गतानुगतिक लोक के लिये दुरूह था। रामचरित में मर्यादा-पुरुषोत्तमता थी। जन अपने सामने उसे आदर्श रूप रखकर उसका अनुसरण कर सकते थे। इसीलिये भावुक भक्तों ने संस्कृत रामायणों और राम पूर्व तक उपनिषदों के विषय में विशेष छानबीन न करके रामभक्ति को श्रद्धापूर्वक अपना लिया।

रामोपासना आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गई। कबीर दादू नानक आदि सन्तमत के महात्माओं ने निर्गुण ब्रह्म को राम मानकर भजन किया। रामानन्दी वैष्णव वैरागियों ने प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हुए सगुण साकार राम का भरपूर समर्थन किया। कृष्णो-पासना अपनी उसी धारा से प्रवाहित होती हुई महात्मा सूरदास सरीखे भावुक भक्तों द्वारा हिन्दीभाषियों का कल्याणसाधन करती रही। उसमें निर्गुणता नहीं घुस पाई। रामोपासना की निगुणता की, निराकारो-पासना की, धारा में बहा ले जाने में योगिसम्प्रदाय (नाथ गोरखसम्प्रदाय) और सूफीसम्प्रदाय भी कारणीभूत हुए थे। ये दोनों ही ज्ञानाश्रयी सम्प्रदाय हैं और दोनों ने ध्यान की एकाग्रता पर जोर दिया है। परन्तु पहिले सम्प्रदायवाले तो सच्ची भक्ति के अभाव में सिद्धियों के चक्कर से न उबरे और दूसरे सम्प्रदायवाले अभारतीय विचारस्रोत के कारण यहाँ विशेष न पनप पाये। पीछे जब "राम" नाम के साथ साकारमूर्ति का तादात्म्य घनिष्ट होने लगा तब, कुछ निराकारोपासकों ने वह नाम भी हटाकर ब्रह्मोपासना को प्राधान्य दिया। इनमें ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती मुख्य हैं। कुछ उदार विचारशील सज्जनों ने साकारता का तिरस्कार उचित न

समझ कर समन्वय मार्ग से निराकार और साकार सभी को समेट कर चलना उचित समझा। इनमें सौ वर्ष के पुराने रामकृष्ण परमहंस और आजकल के जीते-जागते महात्मा गाँधी प्रमुख हैं। भारतीय भक्ति-मार्ग के इतिहास में इन सबों का नाम उल्लेखनीय है।

धर्म यदि संगठन न हो तो वह एक दर्शनमात्र रह जाता है[1]। और यह संगठन सांस्कृतिक एकता के द्वारा ही लाया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी भारतीय जनता के सामने धर्मतत्त्व रखना चाहते थे। इसलिये उन्होंने सांस्कृतिक एकता का विचार करते हुए भारतवासियों की पूज्य श्रुतियों का आधार लेना आवश्यक समझा। इसलिये उन्होंने अपने धर्मतत्त्व को श्रुतिसम्मत बताते हुए 'आगम निगम पुराण' का सहारा लिया है। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् के लिये भी बड़ी श्रद्धा दिखाई है। यद्यपि रामायण में "जेहि जसोमति हरि हलधर से" और "जब जदुबंस कृष्न अवतार" के प्रसंगों पर श्रीकृष्णावतार का केवल उल्लेखमात्र है तथापि विनयपत्रिका में उन्होंने कृष्ण को राम से अभिन्न बताया है और कृष्णगीतावली में तो कृष्ण ही की महिमा गाई है उन्होंने शंकरभगवान् को भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया है और रामभक्ति के लिये शङ्करभक्ति को आवश्यक बताया है। उन्होंने यदि बुरा कहा है तो शाक्तमत के उस अंश को जो आर्यभावनाओं के विरुद्ध है और सन्तमत के उस अंश को जिसमें सगुणवाद अथवा साकारवाद तथा श्रुतियों के प्रामाण्य का खण्डन किया गया है। कौलों को वे जीवित शव कहते हैं[2] और वाममार्गियों को निन्दनीय ठहराते

---

[1] न हो मजहब में जब जोरे हुकूमत।
तो वह क्या है फकत एक फिलसफा है॥—अकबर

[2] कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा .....जीवत सवसम चौदह प्रानी।
(३८७८ से १०)

है।[1] परन्तु शाक्तों की आराध्या देवी पार्वती के लिये उनके हृदय में न केवल ऊँचा स्थान ही है वरन् उन्हें वे अपनी आराध्या श्रीसीता जी के द्वारा "भवभव विभव पराभव कारिणि। विश्व विमोहिनि स्ववस विहारिणि" आदि उच्च सम्बोधनों से सम्भावित कराते हैं। सूफी कवियों की शैली को तो उन्होंने प्रत्यक्ष अपनाया ही है। यों शंकरसम्प्रदाय वालों की तरह वे भी योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होना मानते हैं परन्तु उस सम्प्रदाय वालों का भक्तिहीन शुष्क ज्ञान उन्हें पसन्द नहीं है। रामानन्द की श्रीरामभक्ति गोस्वामी जी को इतनी पसन्द आई कि उन्होंने भारतवर्ष में इसका पीयूषसागर ही बहा दिया। उस भक्ति की आड़ में उन्होंने ऐसे तत्त्व भरे हैं जो उनके परवर्ती धर्मप्रवर्तकों के सिद्धान्तों को भी अपने में समेटे हुए आज दिन भी जाज्वल्यमान बने बैठे हैं।

(२) भक्तिमार्ग के सिद्धान्त

ईश, मुण्डक, श्वेताश्वतर, नारायण आदि प्राचीन उपनिषदों में, शान्तिपर्व, भगवद्गीता आदि महाभारत के अंशों में, श्रीमद्भागवत (विशेषकर एकादश स्कन्ध) आदि पुराणों में, नारद पञ्चरात्र आदि आगम ग्रन्थों में भक्तिदर्शन आदि सूत्रग्रन्थों में तथा अनेकानेक अन्य "आगमनिगमपुराण" की शाखाप्रशाखाओं में भक्ति के सिद्धान्त भरे पड़े हैं। उन सिद्धान्तों का संक्षिप्त सारांश बता देना ही हमारे प्रयोजन के लिये बहुत है।

"भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे"[2] अर्थात् "ईश्वर में प्रकृष्ट अनुराग ही को

---

[1]तजि स्रुति पंथु बाम पथु चलहीं·····
तिन्ह कहँ गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं एहु जानउँ भेऊ।।
(२३५-१२, १५)

[2]देखिये महर्षि शाण्डिल्य प्रणीत भक्तिसूत्र।

भक्ति कहते हैं' यह भक्ति की सामान्य परिभाषा है। इस परिभाषा से विदित होता है कि भक्त में एक तो अनुराग की प्रबलता चाहिये दूसरे उस प्रबल अनुराग का समर्पण परमात्मा की ओर होना चाहिये। काम, लोभ और मोह में प्रबल अनुराग की मात्रा रह सकती है परन्तु भगवान् की बात वहाँ कहाँ? शुष्क वेदान्त के वार्तालाप से अथवा पाखण्डपूर्ण जप से ईश्वर का नाम रह सकता है परन्तु ऐसी बातचीत में वह परानुरक्ति की बात कहाँ! भक्ति तो इन दोनों से बहुत दूर की वस्तु है।

[1] आलम्बन और उद्दीपन विभाव प्रत्यक्ष हों—आँखों के सामने उपस्थित हों—तब भी रस द्रेक सदैव नहीं हुआ करता। परमात्मा तो अप्रत्यक्ष है। फिर उसके विषय में परानुरक्ति कैसे दृढ़ हो सकती है? यही सोचकर आचार्यों ने वैधी भक्ति का विधान रचा है। इस विधान में आलम्बन और उद्दीपन विभाव के लिये पर्याप्त रूप से प्रत्यक्ष और स्थूल पदार्थ मिल जाते हैं इसलिए भगवदनुराग की अच्छी वृद्धि हो सकती है।

वैधी भक्ति के पूरे प्रसंग को हम पाँच अङ्गों में विभक्त करते हैं। इस वैधी भक्ति को—विधिविधानमयी शास्त्रमर्यादापूर्ण भक्तिपद्धति को—भली भाँति समझकर रागात्मिका भक्ति—भावप्रवाहपूर्ण सच्ची भक्ति—का रहस्य समझने की चेष्टा की जावे तभी भक्तिशास्त्र के रहस्य का पूर्ण आनन्द मिल सकता है। भक्तिशास्त्र के इन दोनों पहलुओं पर दृष्टि डाले बिना हमारा विषय-प्रवेश सचमुच अधूरा ही रह जावेगा;

वैधी भक्ति का पहिला अङ्ग है उपासक। शास्त्रकार कहते हैं कि-

---

[1] जो रस के विकास का प्रधान साधन है वह आलम्बन और जो गौण साधन है वह उद्दीपन विभाव है। जैसे शृङ्गार रस में नायक के लिये नायिका आलम्बन विभाव और वसन्त ऋतु उद्दीपन विभाव होगी।

"देवो भूत्वा देवं यजेत्"। यह आवश्यक है कि उपासक अपनी शरीर शुद्धि और हृदयशुद्धि करके स्वयं देवतुल्य बनकर—तब देवता की उपासना करे। शरीर शुद्धि के अंतर्गत स्नान[1] तिलक[2] माला[3] आसन[4] पादुका आदि वस्तुओं का उपयोग आ जाता है। हृदयशुद्धि के अन्तर्गत प्राणायाम, गायत्रीजप और संध्योपासना की बातें आ जाती हैं। इन प्रयोगों से इच्छाशक्ति की वृद्धि होती है चित्त स्थिर और निर्मल होता है तथा स्वाभाविक रूप से हमारी प्रवृत्तियाँ ईश्वराभिमुख होती हैं। आचमन से शरीर और हृदय दोनों की शुद्धि होती है यह जलचिकित्साप्रेमी अनेक विद्वान् वैज्ञानिकों का भी मत है। वैधी उपासना के समय प्राणायाम, गायत्री और संध्योपासन द्वारा प्रबुद्ध हुई विद्युत्-

---

[1]जल जितना पवित्र होगा स्नान उतना ही लाभकारी होगा। इस विषय में नदियों और तीर्थों की महिमा का वैज्ञानिक अन्वेषण बड़ा मनोरञ्जक है।

[2]भिन्न भिन्न तिलक भिन्न भिन्न वैष्णवसाम्प्रदायिक सिद्धान्तों के सूचक चिह्न हैं।

[3]अपना शरीर ९६ अंगुल माना जाता है। श्वासप्रश्वासक्रिया से शरीर की प्राणवायु अधिक से अधिक १२ अंगुल तक और विस्तृत हो जाती है इस प्रकार १०८ अंगुल विस्तृत प्राणवायु संशोधन के लिए १०८ मनकाओं की माला प्रशस्त कही गई है।

[4]पादुका लकड़ी की और आसन रेशम, कम्बल या चमड़े के अच्छे कहे गये हैं। ये सब विद्युत्संरोधक पदार्थ हैं। उपासना के समय हमारे हृदय में इच्छाशक्ति की प्रेरणा से जिस विद्युत्प्रवाह की वृद्धि होती है वह नष्ट न होने पावे इसीलिये ये विद्युत्संरोधक पदार्थ कहे गये हैं।

शक्ति का संरक्षण संभवतः शिखा द्वारा किया जाता है। प्रत्येक हिन्दू को चोटी रखना आवश्यक सा हो गया है[1]।

दूसरा अंग है उपास्य। वह वास्तव में तो निर्गुण और निराकार ही है परन्तु जिन लोगों के लिए आचार्यों ने वैधी भक्ति की परिपाटी का सृजन किया है उनके लिये सगुण साकार परमात्मा ही विशेष वाञ्छनीय है इसलिये निर्गुण निराकार होते हुए भी वह सगुण साकार कहा जाता है। आकृतिप्रकृतिहीन उपास्य की ओर आकर्षण होना ही कठिन है और यदि आकर्षण हुआ भी तो उसका स्थिर रहना महा कठिन है। इसलिए आचार्यों ने हृदय की आकांक्षाओं के अनुसार उपास्य के गुण कर्म स्वभाव निर्धारित किये। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार आकृतियों और नामों की कल्पना की[2]। आकृतियों और नामों अथवा नाम और

---

[1] हिन्दू धर्म में शिखा के समान सूत्र (यज्ञोपवीत) का भी महत्त्व है। यह सांसारिक कर्तव्यों के ऋण का स्मरण दिलाने के लिये है जिसकी पूर्ति के लिये विद्युत्शक्ति की वृद्धि की जाती है। जहाँ वे कर्त्तव्य पूरे हुए—वे तीनों ऋण आदि दूर हुए—कि बस सन्यास में ये दोनों निरर्थक जान अलग कर दिये जाते हैं।

[2] उदाहरण के लिये विष्णु के नामरूप की चर्चा ही देखिये। इनके रूप में कमल सृष्टि का द्योतक है क्योंकि स्थल के पहले जल और फल से पहिले फूल होने से प्रथम जन्मा जल का फूल कमल ही सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का उद्भवस्थान माना गया है गदा संहार अथवा प्रलय का चिन्ह है। चक्र कालचक्र (समय—time) का सूचक है और शङ्ख शब्दगुणमाकाश की रीति के अनुसार देश (space) का सूचक है। स्थित की क्रिया के लिये देश और काल (space और time) का आधार अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह चतुर्भुजीरूप में शङ्खचक्र को ऊपर उठाकर भक्तों ने यह बता दिया है कि यद्यपि परमात्मा सृष्टिस्थितिप्रलयकारी है तथापि प्रधानता

रूप के अनुसार लीला और धाम की चर्चा को। उपासक किसी भी "नाम" और किसी भी "रूप" से परमात्मा का भजन कर सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि उसी नाम या रूप को परब्रह्म परमात्मा का—पूर्ण ब्रह्म का—नाम रूप समझे। अन्यथा या तो वह अपूर्णता की ओर परानुरक्ति रखने लग जायगा या अनन्यता के अभाव में अटल श्रद्धावान् न बन सकेगा। ये दोनों स्थितियाँ भक्ति के लिये घातक हैं।

भारतीय भक्तिमार्ग में पूर्ण ब्रह्म, जैसा कि पहिले कहा गया है' अकसर तीन तरह के नामरूप से व्यक्त किया जाता है। पहिला नामरूप है "देवी" दूसरा "शिव" और तीसरा "विष्णु"। ये नामरूप किसी समय भले ही कल्पित रहे हों परन्तु आज दिन तो ये एकदम सत्य, निश्चित और प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जो इच्छाशक्ति (wil power) के रहस्य को भली भाँति जानते हैं वे यह भी भली भाँति समझ सकते हैं कि उपास्य के विषय में कल्पना ही सत्ता का रूप धारण कर लेती है[1]। उपासना के लिये उपास्य के विशिष्ट व्यक्तित्व की आवश्यकता हो ही जाती है और इसी आवश्यकता की पूर्ति में इष्टदेवों का आविर्भाव भी हो ही जाता है। इस तरह भक्तों की इच्छाशक्ति के सहारे वह निर्गुण निराकार परमात्मा देवी बनकर, शङ्कर बनकर, विष्णु—राम अथवा

उसमें जगद्रक्षा (स्थिति) के भाव की ही है। इसी प्रकार उनके वस्त्र वर्ण आदि का हाल है। यह तो हुई रूप की बात। अब रही नामों की बात सो "विष्णुसहस्रनाम" की शंकराचार्य वाली टीका देखी जावे कि किस प्रकार गुणों के अनुसार नामों की रचना की गई है।

[1] विशेष विवरण के लिये लेखक का जीवविज्ञान नामक ग्रन्थ देखा जावे।

कृष्ण—बनकर दर्शन देता और उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण किया करता है[१]।

उपास्य को—भगवान् को—साकार मान लेने पर भी उनके प्रत्यक्ष दर्शन तो अक्सर हुआ नहीं करते। इसीलिये सामान्य भक्तों को स्थूल आलम्बन की—प्रतिमा की—आवश्यकता रहा करती है[२]। भागवत में आठ प्रकार की प्रतिमाओं का उल्लेख है[३]। उन सबमें शैली प्रतिमा—पत्थर की बनी हुई प्रतिमा—ही सर्वसाधारण के लिये पूजार्थ अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। विष्णु की शैली प्रतिमा है शालग्राम और शिव की नर्मदेश्वर। शंकर की पार्थिव प्रतिमा भी अपना विशेष महत्त्व रखती है[४] प्रतिमापूजन में पार्थिव शिवपूजा का विशेष स्थान है।

---

[१] वैदिक काल में वह परमात्मा इन्द्र वरुण इत्यादि के नामरूपों से भी व्यक्त होता था। भक्तों की इच्छाशक्ति के कारण इन देवताओं की विशिष्ट सत्ता बन चुकी थी। परन्तु यज्ञों का महत्त्व जब से कम हुआ तब से इन देवताओं की भी महिमा घट गई। ब्रह्मा (प्रजापति) का महत्त्व बहुत दिनों तक रहा परन्तु आखिर संसार को दुःखायतन माननेवाले तथा विधिविधान की सुदृढ़ शृंखलाओं को तोड़ने की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु लोग इस संसार के और इस विधिविधान के रचयिता को कहाँ तक प्राधान्य दे सकते थे? इसलिये ब्रह्म की उपासना के बहिष्कार में अनेक पौराणिक कहानियाँ रच दी गईं।

[२] अग्नौ क्रियावतामस्मि हृदि चाहं मनीषिणाम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां ज्ञानिनामस्मि सर्वतः ॥—अग्निपुराण

[३] शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥—भागवत ११।२७।१२

[४] सुरार्चनचन्द्रिका आदि आधुनिक ग्रन्थों तथा ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणग्रन्थों में इन प्रतिमाओं के आकार-प्रकार और फलाफल का विस्तृत विवेचन है।

प्रतिमा के अनुकूल मन्दिररचना का विधान है। उसकी बनावट तथा सफ़ाई आदि ऐसी रखी जाती है जिससे सात्विक भावों का आप ही आप उद्रेक हो। वह समाधियों का विकसितरूप है अथवा कन्दराओं या मानवी आश्रय स्थानों का, इस पर प्रकाश डालने का यह अवसर नहीं है। इस प्रसङ्ग में इतना ही जानना अलम् है कि मन्दिरस्थ प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में अभिगमन उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग आवश्यक कर्म बताए गये हैं और ३२ "मन्तु" (मन्दिर की सफाई आदि में असावधानियाँ तथा ऐसी ही बातें) अपराध की कोटि में सम्मलित हैं। विशेष विवरण के लिये नारदपाञ्चरात्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जो मनुष्य परमात्मा को एक प्रतिमा अथवा एक मूर्ति में बाँध रक्खेगा वह स्वयं संकीर्ण बनता जायगा। असल में तो मूर्तिपूजा का उद्देश्य यह है कि भगवत्सान्निध्य का भाव दृढ करके भक्त लोग उस सर्वान्तर्यामी की ओर आप ही आप प्रकृष्ट अनुरागपूर्ण हो जायँ। श्रीमद्भागवत में क्या ही अच्छा कहा गया है—

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्नवेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥भागवत ३।२९।२५
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्यात् भस्मन्येव जुहोति सः ॥भा० ३।२९।२२

योगवाशिष्ठाकार ने भी कहा—

अक्षराववबोधाय यथा स्थूलवतु हृदयदृश्यग्रहः।
शुद्ध बुद्ध परिलब्धये तथा दारुमृण्मय शिलामयार्चनम् ॥

अतएव वैष्णवाचार्यों ने भगवान् के पाँच प्रकार के अवतारों की बात कही है। वे अवतार हैं—(१) अर्चा (प्रतिमाएँ—जगन्नाथ, रामेश्वर आदि स्थायी विग्रह, शालग्राम नर्मदेश्वर आदि अन्य विग्रह) (२) विभव (मत्स्य, कच्छप, परशुराम आदि अंशावतार) (३) व्यूह (वासुदेव, सङ्कर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अथवा राम, लक्ष्मण, भरत और

शत्रुघ्न, जो परमात्मा, जीव, मन और अहंकार के प्रतिरूप हैं) (४) पर (पूर्णावतार—राम कृष्ण आदि जो परमात्मा और सर्वान्तर्यामी होते हुए भी व्यक्तित्वविशिष्ट हैं—Personal God हैं) और (५) अन्तर्यामी (वे निराकार परमात्मा जो घटघटवासी अविनाशी और परमकल्याण देनेवाले हैं—Impersonal God)। कुछ आचार्यों ने इन अवतारों को प्राधान्य दिया है। कुछ ने इनको गौणता दी है। कुछ ने इनका खण्डन करते हुए कहा है कि परमात्मा का असली स्वरूप तो अवाङ्-मनसगोचर है। यह अपनी अपनी समझ की बात है।

तीसरा अङ्ग है पूजाद्रव्य। इन द्रव्यों में कलश, शंख, घंटा और दीप अपनी महत्ता के कारण स्वयं पूजनीय बन गये हैं। कलश में तो ब्रह्मा विष्णु महेश आदि सभी देवों का आवाहन[1] हो जाता है। सम्भव है यह वैदिक वरुणदेव का प्रतीक हो। शंख और घण्टानाद अरिष्ट-निवारक, शक्तिवर्धक और एकाग्रता लानेवाले होते हैं। दीपक घी अथवा कपूर को भस्म कर वायुमण्डल शुद्ध करता है और भगवत्-प्रतिमा पर कई दृष्टिकोणों से प्रकाश डालकर सौंदर्यवृद्धि करता है। वह यज्ञ का एक छोटा सा रूप भी है क्योंकि जब तक दीपक जलता है तब तक समझना चाहिये कि अग्नि में घी की अथवा कपूर की आहुति भी होती रहती है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त षोडशोपचार में काम आनेवाले दूसरे पदार्थ (पञ्चामृत, वस्त्र यज्ञोपवीत, पुष्प चन्दन, नैवेद्य, ताम्बूल आदि) भी पूजाद्रव्यों में आवश्यक माने गये हैं। भिन्न भिन्न प्रकार की पूजाओं में भिन्न भिन्न पूजापात्र भी रहा करते हैं।

चौथा अङ्ग है पूजाविधि। मानसिक पूजा के लिये तो ध्यान आदि की विधियाँ हैं परन्तु मूर्तिपूजकों के लिये षोडशोपचार पूजा बहुत उत्तम

---

[1] कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः ॥ आदि

बताई गई है। सोलह उपचारों के निर्णय में कहीं कहीं थोड़ा मतभेद मिलता है परन्तु आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन अक्षतादि, पुष्प तुलसी आदि, धूप, दीप, नैवेद्य, जल, आचमन, ताम्बूल, फल, नीराजना, परिक्रमा को सभी आचार्यों ने आवश्यक समझा है और घटाबढ़ाकर इन्हीं को सोलह उपचारों मे विभक्त कर दिया है। किसी सम्भ्रान्त अतिथि का जिस प्रकार और जिस क्रम से सत्कार किया जाता है ठीक वही क्रम अर्चा के इस षोड़शोपचार में रखा गया है। आवश्यकतानुसार षोड़शोपचार के बदले पंचोपचार पूजा—चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्यवाली पूजा—भी प्रशस्त मानी जाती है।

पाँचवाँ अंग है मन्त्रजप। मन्त्रों की शक्ति बड़ी प्रबल और एकदम प्रत्यक्ष रहती है। सर्पविष सरीखी भयंकर भौतिक वस्तु मन्त्रों की शक्ति से अब भी नष्ट कर दी जा सकती है[1]। परन्तु सब मन्त्र सबको सिद्ध नहीं हो सकते। किस मनुष्य के लिये कौन-सा मन्त्र उपयुक्त होगा और वह मन्त्र उसे किस प्रकार सिद्धिदायक बन सकेगा, आगम शास्त्रों में इस विषय का बड़ा विचार किया गया है। इन बातों को भली भाँति समझने वाला व्यक्ति ही "गुरु" पद का अधिकारी हो सकता है। गुरु न केवल साधक की प्रकृति पहिचान कर उसके उपयुक्त मन्त्र ही बता सकता है वरन् वह अपनी मानसिक शक्ति से उस मन्त्र को प्रभावित करके साधक का विशेष कल्याण भी कर सकता है। इसलिये गुरु की इतनी महिमा कही गई है और गुरुमुख ही से मन्त्र प्राप्त करने का विधान बताया गया है। प्रणवमन्त्र (ॐ) ही परमात्मा का प्राचीनतम मंत्र है क्योंकि नाद और बिंदु का मूलरूप होने से वही सम्पूर्ण शक्तियों

---

[1] हम लोगों ने सर्पविष के सम्बन्ध में मन्त्रों के ऐसे अनेक सफल प्रयोग देखे हैं।

का केन्द्र है। वही विकसित होकर गायत्रीमंत्र बन गया। गायत्री अपनी महिमा के कारण वेदमाता कहाई। उस मंत्र के अनुकरण में अन्यान्य गायत्रियाँ बनीं। प्रत्येक देवता के चतुर्थ्यन्तरूप के पहिले ॐ और पीछे नमः लगाकर अनेक मंत्र बना लिये गये। अन्य अनेकानेक देव-मंत्रों की इसी प्रकार सृष्टि होती चली गई। कुछ अक्षरों के विशेष संयोग से भी ख़ास ख़ास मंत्र बन गये हैं। साबरमंत्र तो कुछ अर्थ न रखते हुए भी बड़े प्रभावशाली रहा करते हैं। जिन मंत्रों के द्वारा सिद्धि सुगम और निश्चित हुई वे विशेष महिमावान् समझे गये। ऐसे ही मंत्रों का जप प्रशस्त समझा जाता है। मंत्रजप में पञ्चतत्त्व का—गुरुतत्त्व, मंत्रतत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व का बड़ा महत्त्व है[1]। परन्तु इन तत्त्वों पर अब यहाँ अधिक विस्तृत विचार करना अनावश्यक है।

मंदश्रद्धावालों के लिए वैधी भक्ति बहुत उपयुक्त है। अनेक प्रकार की फलप्राप्ति के लोभ से, अथवा यों भी विश्वास की दृढ़ता के अभिप्राय से, वे भाँति भाँति के बाह्य विधानों में दत्तचित्त होते हैं और इस प्रकार इच्छाशक्ति और आस्तिक्य भाव की वृद्धि करके अवश्य ही लाभ उठाते हैं। आचार्यों ने तो इसी दृष्टि से भावहीन क्रिया तक को मान दिया है। तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, देवदर्शन और मंत्रजप, वेष-भूषा तथा तिलकादि के बाह्य नियम इसीलिए अन्धश्रद्धा की हद तक भी अच्छे ही बताये गये हैं। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि वैधी

---

[1] पञ्चतत्त्वविहीनानां फलसिद्धिर्न जायते। तन्त्रसार।
तत्त्वज्ञानमिदं प्रोक्तं वैष्णवे शृणु यत्नतः
गुरुतत्त्वं मंत्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि।
देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं पञ्चतत्त्वं वरानने॥
निर्वाणतंत्र (देखिये विश्वकोष खंड १२ पृ० ५४१)

भक्ति का सच्चा उद्देश्य है रागात्मिका भक्ति का उद्रेक। इसलिए भाववहीन क्रिया को अनावश्यक महत्त्व देना उचित नहीं। आचार्यों ने यह बात खूब समझी थी। इसीलिये चमत्कारिक वैधी पूजा की ओर लोगों को आकृष्ट करते हुए भी वे इसे अधिकाधिक जटिल बनाते चले गये हैं। कौन आसन निषिद्ध है, कौन प्रशस्त है, कौन फूल किस देवता के लिये उपादेय अथवा हेय है, किस मुहूर्त्त में कौन सा देवकर्म किस प्रकार करना और किस प्रकार न करना चाहिये आदि आदि बातें इतनी जटिल हैं कि साधक को इन सब बातों का ध्यान रखते हुए निर्दोष वैधी भक्ति पूरी कर ले जाना असंभव ही सा रहता है[1]। परिणाम यह होता है कि या तो वह अपनी वैधी भक्ति की शुद्धता की ओर अधिकाधिक प्रयत्न करता जाता है जिसके कारण उसकी भगवन्निष्ठा और संकल्पशक्ति दिन-दिन प्रबल होती जाती है या फिर वह अपने विधान की अपूर्णता अथवा सदोषता के लिये इष्टदेव से क्षमायाचन में अधिक ध्यान देने लगता है जिसके कारण रागात्मिका भक्ति उसके अधिकाधिक समीप होती जाती है।

जो तीव्र श्रद्धावाले जीव हैं उनके लिए तो फिर रागात्मिका भक्ति का द्वार खुला ही है। इस रागात्मिका भक्तिवाले लोग बाह्य विधि-विधानों का बहुत कम सहारा लेते हैं। वे तो विधिनिषेध की मर्यादाओं की भी परवाह नहीं करते। प्रेमोन्माद में लोकबाह्य हो जाना उनके लिये मामूली बात है।

भगवत्प्रेम ही रागात्मिका भक्ति का सर्वस्व है। परन्तु इस प्रेम का उद्रेक किन अवस्थाओं में किस प्रकार हो जाता है इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। कभी तो दुनिया के झंझट

---

[1] अधिक नहीं तो आह्निकसूत्रावली देखकर ही इन निषिद्ध और प्रशस्त कही जानेवाली बहुत सी बातों की जानकारी हो सकती है।

हमें आर्त्त बनाकर भगवत्प्रेम की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। कभी हमारी जिज्ञासावृत्ति हमें उस प्रेम के पथ पर अनायास ले जाती है। कभी अर्थार्थी बनते बनते हम उसके प्रेम के भिखारी बन जाते हैं। और कभी तत्त्वज्ञान का पूर्ण अनुभव होने पर भगवत्प्रेम का उद्रेक आप ही आप होने लगता है[1]। अपनी अपनी रीझ और बूझ के अनुसार कोई उनके रूप पर रीझता है, कोई गुणों पर, कोई महिमा पर। कोई उनका दास बनना चाहता है, कोई मित्र और कोई अर्धाङ्ग। कोई उनके स्मरण में ही प्रेम के उद्रेक का अनुभव करता है, कोई पूजा में और कोई विरहभाव में। जिस भावुक श्रद्धालु के हृदय में अपनी प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार की आसक्ति का उदय हो उसी का दृढ़ सहारा लेकर वह भगवत्प्रेममार्ग में अग्रसर हो सकता है। महर्षि नारद के अनुसार ऐसी आसक्तियाँ ग्यारह प्रकार की हैं यथा:—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति (४) स्मरणासक्ति (५) दास्यासक्ति (६) सख्यासक्ति (७) वात्सल्यासक्ति (८) कान्तासक्ति (९) आत्मनिवेदनासक्ति (१०) तन्मयासक्ति और (११) परमविरहासक्ति। इनमें से किसी एक आसक्ति के सहारे मनुष्य रागात्मिका भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त कर सकता है। यदि ऐसी आसक्तियाँ न हों तो अन्य उपायों से भी अपने हृदय में भगवत्प्रेम का उद्रेक कराया जा सकता है। महत्पुरुषों की सेवा, धर्म में श्रद्धा, हरिगुणकीर्त्तन आदि साधन ऐसे हैं जो कालान्तर में प्रेमोद्रेक करा ही देते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने

---

[1]चतुर्विधा भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गीता ७/१६

[2]गुणमहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयासक्ति परमविरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥—नारदकृत भक्तिसूत्र ८२।

रागात्मिका भक्ति की ऐसी ११ भूमिकाएँ बताई गई जो इस प्रकार हैं :—
(१) महत्सेवा (२) तद्दयापात्रता (३) तद्धर्म में श्रद्धा (४) हरिगुणश्रुति (५) रत्यङ्कुरोत्पत्ति (६) स्वरूपाधिगति (७) प्रेमवृद्धि (८) परमानन्द-स्फूर्ति (९) स्वतः भगवद्धर्मनिष्ठा (१०) तद्‌गुणशालिता और (११) प्रेम की पराकाष्ठा[1] । फिर इतना तो निश्चित है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना रागात्मिका भक्ति का उद्रेक कभी होगा ही नहीं । यदि भगवान् की ओर श्रद्धा और उनके अस्तित्व पर हमें पूर्ण विश्वास है तो शृंगार हास्य करुणा अद्भुत आदि रसों के समान कभी न कभी अपनी अनुकूल परिस्थिति में भगवत्प्रेम का रस भी तरंगित हो सकता है । भगवत्प्रेमरस अथवा भक्तिरस के विवेचन में श्री रूपगोस्वामी का हरिभक्ति रसामृतसिंधु नामक ग्रन्थ देखने ही लायक है । सुनते हैं हरिभक्तिविलास भी इस सम्बन्ध का एक उत्तम ग्रन्थ है । और भी अनेकों ग्रन्थ इस दिव्यरस के भाव विभाव सञ्चारीभाव आदि की चर्चा करते हैं । यहाँ भी इस रस-सामग्री का सच्छिप्त परिचय दे देना समुचित ही होगा ।

भक्तिरस में इष्टदेव ही आलम्बन विभाव हैं । उनके सम्बन्ध के सभी विचार और सभी सामग्रियाँ उद्दीपन विभाव हैं । स्तंभ, स्वेद, रोमाच, स्वरभंग वेपथु, अश्रु आदि अनुभाव हैं । ये अनुभाव भक्तिभाव के सूचक भी हैं और प्रवर्धक भी । सञ्चारीभाव इस रस के सहायक अंग हैं । उनके सहारे साधक कभी ईश्वर से रूठता है, कभी उन्हें मनाता है, कभी उलाहना देता है, कभी अपना दैन्य प्रदर्शन करता है, कभी अधीर हो उठता है, और सुस्थिर चित्त से उनकी ओर तन्मय हो जाता है । हृदय के प्रायः सब भाव भक्तिरस में परिणत किये जा सकते हैं ।

---

[1] देखिये मधुसूदन सरस्वती यतिवर विरचित "श्रीभगवद् भक्ति-रसायनम्" । ये गोस्वामी जी के समकालीन लब्धप्रतिष्ठ वेदान्ती थे । रामचरितमानस पर इन्हीं की सम्मति ली गई थी ।

नवों स्थायी भावों में रति का स्थायी भाव बड़ा प्रबल और रागात्मिका भक्ति के सर्वथा उपयुक्त है इसलिये रागात्मिका भक्ति के प्रकरण में इसी बीजभाव को विशेष महत्त्व दिया गया है। आचार्यों ने इस स्थायीभाव से दास्य, वात्सल्य, सख्य, शान्त और मधुर इस प्रकार के पाँच रस विकसित किये हैं। अपनी अपनी रुचि के अनुसार भक्त लोग इन रसों को ग्रहण करते हैं। जब भावातिरेक में उपास्य और उपासक का अंतर मिट जाता है तब उस परम अवस्थाविशेष को महाभाव कहते हैं। यह महाभाव मोहन और मादन इस प्रकार के दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार भक्तिरस की शाखा प्रशाखाओं का विस्तार है।

एक बात और है। भक्तिरस में विरह का विशेष गौरव है। संयोगावस्था की अपेक्षा वियोगावस्था में भाव की बड़ी तीव्रता रहा करती है। भक्त के हृदय में आराध्य के लिए जो आकर्षण रहता है वह अपनी उत्तेजना के लिए उसे विरहासहिष्णु बनाकर यद्यपि प्रत्यक्ष में रुलाता और हाय हाय कराता रहता है तथापि परोक्ष में इष्टदेव के ध्यान को अधिकाधिक स्पष्ट और निकट करता हुआ वह उसे—भक्तहृदय को—अधिकाधिक अनिर्वचनीय शान्ति देता जाता है। इस शान्ति में जो प्रकृष्ट माधुर्य रहता है वह अनुभव से ही जाना जा सकता है। परमभक्त लोग इसी लिये अत्यन्त संयोगावस्थावाली मुक्ति की कामना छोड़कर आकर्षण-प्रधान भक्ति (भेद भक्ति) ही को बनाये रखना चाहते हैं।

जो किसी सांसारिक कामना की पूर्ति के लिये भक्ति करता है वह व्यवसायी है क्योंकि वह निश्चय ही इष्टदेव की अपेक्षा अपनी कामना पूर्ति को अधिक महत्त्व दे रहा है। संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं इसलिये परम वैराग्यशील बनकर इष्टदेव की उपासना में रत रहना ही सच्ची भक्ति है। यह बात नहीं है कि सकाम भक्ति का कुछ फल ही नहीं होता। इष्टदेव अपने भक्त की सब अभिलाषाएँ अवश्य पूर्ण करते हैं। परन्तु जब हम भक्ति के बल पर स्वयं इष्टदेव को अपना

बना सकते हैं तब उस असीम बल को संसार के नश्वर पदार्थों की प्राप्ति में नष्ट कर देना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। अब प्रश्न यह होता है कि जब कोई कामना ही न रही तो फिर इष्टदेव अपने कैसे बनते हैं और वे भक्त को अभ्युदय (इस लोक का सुख और ऐश्वर्य) तथा निःश्रेयस (परलोक का कल्याण) किस प्रकार प्रदान करते हैं। इसका सीधा उत्तर इस प्रकार है। प्रेम का आकर्षण यदि सच्चा है तो उसका असर दोनों ओर हुए बिना नहीं रहता। हमारा तथा इष्टदेव का परस्पर आकर्षण होने से हम दोनों कृतज्ञता के स्नेहसूत्र मे बँधे रहते हैं और फिर परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार हमे उनके ही इशारो पर चलना, उनकी रुचि के कार्य करना और उन्हीं के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना सदा पसन्द आता है उसी प्रकार उन्हें भी हमें अपना लेना, हमारी रक्षा करना और हमें सुखी बनाए रखना हमेशा पसन्द आता है। यदि ऐसा न भी हो और हमारे इष्टदेव हमारे न भी बनें तो भी वे हमारे हृद्गत प्रेम के अनुपम माधुर्य को तो हमसे छीन न लेंगे। भक्तिरस में स्वयं ही इतना अपूर्व आनन्द भरा हुआ है कि उसके आगे मुक्ति का आनन्द भी फीका पड़ जाता है। तब फिर इस आनन्द को सांसारिक कामना के कीचड से गॅदला कर देना बुद्धिमानी नहीं। इसलिये वास्तविक भक्ति वही है जो वैराग्य की नींव पर स्थित हो।

सच्ची भक्ति के लिये जिस प्रकार वैराग्य एक प्रधान अंग है उसी प्रकार विवेक भी। सब कुछ इष्टदेव का समझना और सब में इष्टदेव ही को देखना यही विवेक का प्रधान लक्षण है। जिस भक्त में ऐसा विवेक हुआ वही स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसी से लोक का वास्तविक कल्याण होता है। ऐसा भक्त भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है और कई दृष्टियों से वह भगवान् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। आचार्य लोगों ने न केवल यही कहा है कि "भक्ति भक्त भ

गुरु चतुरनाम वपु एक" (नाभादास), वरन् उन्होंने यह भी कहा है कि "मेरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा" (तुलसीदास)।

प्राचीन आचार्यों ने नवधा भक्ति के क्रम पर बहुत जोर दिया है। भक्ति के वे नव साधन अथवा अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन। ये नव प्रकार के अंग वैधी तथा रागात्मिका दोनों प्रकार की भक्तियों को अपने में समेट लेते हैं श्रवण कीर्तन और स्मरण द्वारा श्रद्धा की वृद्धि करके पादसेवन अर्चन और वन्दन द्वारा विश्वास की दृढ़ता प्राप्त करनी चाहिये। तब क्रमशः दास्य सख्य और आत्मनिवेदन द्वारा रागात्मिका भक्ति का सच्चा आनन्द मिलने लगेगा। शास्त्रोक्त नवधा भक्ति का यही क्रम है जिन लोगों ने केवल रागात्मिका भक्ति ही पर विशेष ध्यान दिया है उन्होंने अपने ढङ्ग की नई नवधा भक्ति बताई है। इस प्रसंग में अध्यात्म रामायण का वह अंश देखने योग्य है जिसमें शबरी के प्रति भगवान् राम ने नवधा भक्ति कही है।

रागात्मिका भक्ति के प्रेमी लोग मन वाणी और क्रिया इन तीनों का सच्चा उपयोग करने के लिये मन से प्रेम, वाणी से जप (और कीर्त्तन) तथा क्रिया से सत्सङ्ग (और धर्माचरण) करते रहने की सदैव सलाह दिया करते हैं। रागात्मिका भक्ति के ये तीन परम प्रधान साधन हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् के सच्चे और पक्के प्रेमी थे इसलिये रागात्मिका भक्ति की ओर उनका झुकाव रहना स्वाभाविक था। उन्होंने भक्ति के साधनों में रागात्मिका-भक्तिवाले साधनों ही का विशेष उल्लेख किया है। भक्ति के आनन्द के लिये ही भक्ति की जाय यही गोस्वामी जी को अभीष्ट जान पड़ता है। उन्होंने विरति और

विवेक की सुदृढ नींव पर ही अपनी भक्ति के भव्य भवन का निर्माण किया है। उनके उपास्य का यद्यपि "राम" नाम और "रघुनाथ" रूप है परन्तु यह नामरूप भी इस खूबी के साथ वर्णित हुआ है कि वह विभिन्न नामरूपधारी उपास्य के प्रेमियों को भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। गोस्वामी जी की वर्णनशैली के जादू से मन्द श्रद्धा भी तीव्रता को प्राप्त हो जाती है। इसलिये रामचरितमानस का सहारा लेनेवाले व्यक्ति को वैधी भक्ति के झंझटों में उलझने की आवश्यकता नहीं। गोस्वामी जी ने प्रतिमापूजन आदि वैधी भक्ति के साधनों को निन्दनीय नहीं कहा है परन्तु उनके लिये कहीं विशेष आग्रह भी नहीं किया है। उन्होंने तो इन विधिविधानमय साधनों को द्वापर त्रेता की चीज़े कहा है। इस तरह वे यद्यपि भाव ही को हर कहीं प्राधान्य देते हैं तथापि प्रसङ्गवश कहीं कहीं भावहीन क्रिया और अन्धश्रद्धा तक को उपादेय कह देते हैं। तीर्थों की महिमा वेष की पूजा, यंत्रवत् नामोच्चारण, आदि ऐसे ही विषय हैं। इन्हीं विषयों के कारण कई लोगों ने तुलसी-सिद्धान्त पर आक्षेप भी किये हैं। परन्तु पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर यदि इन प्रसगों पर अथवा इन विषयों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि गोस्वामी जी ने इन्हें एक समुचित सीमा तक ही उपादेय कहा है। उनका ऐसा कहना अनुचित नहीं माना जा सकता।

गोस्वामी जी ने भगवत्प्रेम से भगवततन्मयत्व की प्राप्ति का रोचक वर्णन तो किया ही है साथ ही उन्होंने भगवद्विरोध से भी भगवत्-तन्मयत्व की प्राप्ति का हाल बड़े अच्छे ढङ्ग से कहा है। भगवत्तन्मयत्व ही जीव का मोक्ष है क्योंकि अपूर्ण जीव का पूर्णपुरुष में तन्मय हो जाना ही अपनी अपूर्णताओं से मुक्त हो जाना है। यह तन्मयता चाहें द्वेषमार्ग से हो चाहे प्रेममार्ग से। दानवों ने द्वेषमार्ग से मुक्ति पाई। मानवों ने प्रेममार्ग से मुक्ति और भक्ति (परम आनन्ददायिनी भेद-भक्ति) दोनों ही इच्छानुसार पाईं। एक बात और है। गोस्वामी जी

का भक्तिमार्ग केवल व्यष्टि के कल्याण की बात लेकर ही नहीं चला है। इसलिये उसमें साधुमत और लोकमत दोनों का समन्वय है।

(३) भक्तिमार्ग के गुणदोष

इस मार्ग का पहिला गुण तो यह है कि यही वास्तव में लोकधर्म कहाने योग्य है। श्रीमद्भागवत के अनुसार कामनावान् क्रियाशील व्यक्तियों के लिये कर्ममार्ग, वैराग्यशील और तार्किक प्रवृत्तिवालों के लिये ज्ञानमार्ग तथा मध्यमावृत्तिवालों के लिये भक्तिमार्ग है[1]। फलतः अधिकांश में मध्यमावृत्तिवाली (न एकदम विरक्त न एकदम अतिसक्त) होती है। इसीलिये भक्तिमार्ग सर्वसाधारण को सदैव रुचिकर रहता आया है। यहाँ एक बात जान लेने योग्य है। वास्तव में तो कर्म भक्ति और ज्ञान इन तीनों के समन्वय के बिना कोई मार्ग शुद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये विशुद्ध भक्तिमार्ग भी असल में समन्वय मार्ग ही है[2] जिसमें कर्म का अंश विरति (अनाशक्ति) के रूप से और ज्ञान का अंश विवेक (तत्त्वसाक्षात्कार) के रूप से समाया हुआ है। समन्वय-मार्ग होते हुए भी इसमें प्रेम की प्रधानता है इसलिये यह भक्तिमार्ग कहलाता है। प्रेम प्रारम्भ में ही आनन्दप्रद होता है इसलिये यह मार्ग न-

---

[1] योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

भागवत ११।२०।६ से ८ तक

[2] विशेष विवरण के लिये लेखक का "जीवविज्ञान" देखिये।

केवल सुगम है वरन् वैसा ही सुखद भी है। इस मार्ग में न तो कठोर क्रियाओं की आवश्यकता है न गम्भीर चिन्तन की। यह पथ किसी मरुस्थल के पथ समान नहीं है जो समाप्त होकर ही हमें कृतकृत्यता प्रदान करे—हरित भूमि के दर्शन करावे। इसे तो अविनाशी मीना-बाजार का वह राजपथ समझना चाहिये जिसके पद पद पर आनन्द ही आनन्द है।

इस मार्ग का दूसरा गुण यह है कि इस पर चलकर मनुष्य न केवल भुक्ति और मुक्ति के फल प्राप्त कर सकते हैं वरन् लीला के प्रत्यक्ष आनन्द का भी भरपूर उपभोग कर सकते हैं। यह मार्ग कोई [illegible] निका नहीं है। इष्टदेवों का अस्तित्व ठीक उसी प्रकार सत्य है [illegible] उनके भक्तों का और भक्तों की भावनाओं का। मनुष्यों की [illegible] चैतन्य परब्रह्म परमात्मा का ही चमत्कार है। इसलिये [illegible] इष्टदेव का निर्माण भी "भगतन हित लागी" ब्रह्म का ही सगुण साकार बनना कहा जायगा। पूर्व के महात्माओं ने इष्टदेव की कल्पना [illegible] उनके दर्शन कर लिये। जब एक बार इष्टदेव का दर्शनीय व्यक्तित्व बन गया तब तो परवर्ती भक्तों के लिये वह रूप और भी सुलभ हो गया है। विभिन्न स्थलों और विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों ने एक ही इष्टदेव पर अपना ध्यान जमाकर उनकी सत्ता और शक्ति को और भी दृढ़ कर दिया है। राम और कृष्ण के समान ऐति-हासिक महापुरुषों में इष्टदेवत्व का स्थापन होने से उनके व्यक्तित्व की सत्यता तो सामान्य जीवों के अस्तित्व की सत्यता से भी अधिक सत्य हो गई है। ऐसे इष्टदेव अवश्य ही हमारी प्रार्थनाएँ सुनते और हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं। हमारी शक्ति ससीम है और उनकी शक्ति असीम है। हम अपने प्रयत्न से जो कुछ प्राप्त कर सकते हैं उससे अधिक अनायास ही उनकी कृपा से प्राप्त कर सकते हैं। जब वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं तब फिर उनके दरबार में क्या कमी है। वे इस लोक के सब

ऐश्वर्य हमें दे सकते हैं, परलोक के सब कल्याण हमें दे सकते हैं, मुक्ति की दिव्य शान्ति हमे दे सकते हैं, और प्रेम के प्रमोदमय लीलाविलास में भी हमें मस्त बनाए रख सकते हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि इष्टदेव पर भक्ति करते हुए भी अभीष्ट फलप्राप्ति शीघ्र नहीं होती। ऐसी स्थिति में इष्टदेव के अस्तित्व पर ही शङ्का करने लग जाना अथवा भक्ति मार्ग को ही निन्दनीय कहने लगना सरासर अनुचित है क्योंकि साधक का प्रारब्ध, लोकसंग्रह की दूरदर्शिता, अनुराग की अपरिपक्वता आदि ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे हमारे इष्टदेव फलप्रदान करने में देर कर दिया करते हैं।

इस मार्ग का तीसरा गुण यह है कि इस पर चलकर हमारा हृदय शुद्ध, सबल और सरस बन जाता है। थोड़ी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि इष्टदेव का वास्तविक व्यक्तित्व है ही नहीं अथवा यदि वे हैं भी तो हमारी पुकार की ओर उदासीन ही रहा करते हैं तो भी यह निश्चित है कि उनके सौंदर्यमय अस्तित्व पर श्रद्धा और विश्वास दृढ करते जाने से हमारे आस्तिक्य भाव, इच्छाशक्ति और प्रेमानन्द की वृद्धि ही होती जायगी। इन बातों को तो कोई हमसे छीन नहीं सकता। आस्तिक्य भाव के कारण जहाँ एक ओर हम लोक-कल्याण के लिये प्रवृत्त होते रहेंगे वहाँ दूसरी ओर विषम परिस्थितियों में भी भगवान् का भरोसा रखकर एक सच्चे आशावादी की भाँति अपना धैर्य अटल रख सकेंगे। इच्छाशक्ति की वृद्धि से तो हम न जाने क्या क्या पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं, न जाने कैसे कैसे असाध्य कार्य सिद्ध कर सकते हैं। प्रेमानन्द की उपयोगिता के लिये जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। मुक्ति का आनन्द अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा भक्ति का—इस प्रश्न के उत्तर में बहुमत भक्ति के आनन्द (प्रेमानन्द) ही की ओर झुक रहा है। इस प्रेमोन्माद के लिये यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि प्रेम-पात्र हमारा होकर रहे। यह आवश्यक नहीं है कि वह हमारे प्रेम

को स्वीकार करे। यह भी जरूरी नहीं है कि वह वास्तविक सत्तावान् ही हो और कल्पित न हो प्रेम करते करते प्रेम में ही वह आनन्द आने लगता है कि फिर प्रेमपात्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिये सच्चा भक्त केवल भक्ति के आनन्द के लिये भक्ति करता है उसके सामने न तो कामना पूर्ति का सवाल उठता है और न प्रेमपात्र को अपनाने का।

इन गुणों के अतिरिक्त और भी अनेक गुण गिनाए जा सकते हैं। जो तीव्र श्रद्धावाले व्यक्ति हैं उनकी तो बात ही अलग है परन्तु जो मन्द श्रद्धावाले हैं वे भी इस मार्ग से पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहिली बात तो यह है कि इष्टदेव में आदर्शपूर्णत्व मानने के कारण मनुष्य आप ही आप आदर्श की ओर खिंचता चला जाता है और इस प्रकार सरलतापूर्वक विकसित होता चला जाता है दूसरी बात यह है कि इष्टदेव की महत्ता के अनुभव के कारण उसका अहङ्कार आप ही आप दूर होता जाता है। तीसरी बात यह है कि शान्ति के साथ कुछ देर भगवान् का स्मरण करने से मन को विश्राम का अवसर मिल जाता है और वह नई नई बातें भली भांति सोच तथा सुझा सकता है। इसी प्रकार के और भी अनेक लाभ बताए जा सकते हैं।

संसार गुणदोषमय है इसलिये इस मार्ग में जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी गिनाये जा सकते हैं। पहिला दोष तो यह है कि इष्टदेवों की (नामरूपात्मक इष्टदेवों की—परब्रह्म परमात्मा की नहीं) संख्या अनेक होने के कारण और उनके विशिष्ट व्यक्तित्व अलग अलग होने के कारण उनके उपासक लोग आपस में झगड़ने लग जाते हैं। वैष्णव लोग विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मानकर शिव, गणेश आदि को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। शैव लोग शिव को सर्वश्रेष्ठत्व प्रदान करके अन्यों के इष्टदेवों को सामान्य दृष्टि से देखने लग जाते हैं। विभिन्न धर्मों और विभिन्न सम्प्रदायों में इस तरह इष्टदेव के नाम-

रूपभेद के कारण बड़े बड़े झगड़े मच जाया करते हैं। जो विचारवान् लोग हैं वे तो इन झगड़ों को निर्मूल समझ कर शान्त रहते हैं परन्तु सर्वसाधारण के मन में तो इष्टदेवों का यह भेद कठिनता ही से हटाया जा सकता है। दूसरा दोष यह कि अन्धश्रद्धा के कारण लोग अक्सर इष्टदेवों की "मर्ज़ी" पर इतने अधिक निर्भर हो जाते हैं कि व्यवहार में भी स्वावलम्बी बनना छोड़कर एकदम आलसी और निकम्मे से हो रहते हैं तथा अपनी कमजोरियों और आपत्तियों का दोष ईश्वर (इष्टदेव) के मत्थे मढ़कर चुप हो जाया करते हैं। जब ईश्वर ने हमें विवेक दिया है, कार्य करने की शक्ति दी है और उपयुक्त शरीर तथा परिस्थिति के साधन प्रदान किये हैं, तब उनका समुचित उपयोग न करके एकदम परवशता धारण कर ली जाय यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। परन्तु इतना जानते हुए भी लोग इस विषय में कभी कभी विशेष भ्रान्ति उत्पन्न कर ही लिया करते हैं। तीसरा दोष यह है कि अन्धविश्वास का प्राबल्य कभी कभी इतना अधिक हो जाता है कि लोग दम्भियों के चक्कर में पड़कर दुःख भी खूब उठाते हैं। दुनिया में सन्तवेषधारी सभी लोग वास्तविक सन्त नहीं रहा करते। यह भली भाँति जान लेना चाहिये कि ईश्वर के नाम पर अनेक पाखण्डी दुनिया को खूब ठग सकते हैं। फिर, वैधी भक्ति के विधानों पर अधिक ज़ोर देने से आडंबरप्रियता और सामाजिक विषमता की वृद्धि हो सकती है, प्रेम और सौन्दर्य भाव को अनुचित प्राधान्य देने से भक्तिमार्गी लोग विलासिता के दलदल में फँस जा सकते हैं और दैन्य को अत्यधिक महत्त्व देने से दासत्व की मनोवृत्ति बढ़कर व्यक्ति तथा समाज दोनों को हानि पहुँच सकती है। इसी तरह के और भी कुछ दोष हैं। परन्तु इन दोषों की उलझन में वे ही फँसते हैं जिन्होंने न तो सच्चे गुरु की सेवा की है न सत्संग किया है न सद्ग्रन्थों का मनन किया है और न सद्विवेक से काम लिया है। ऐसे ऐसे दोषों को देखकर इस मार्ग को

को हेय अथवा गौण बता देना सरासर नासमझी है। काँटों के डर से कोई गुलाब को हेय नहीं बताता। मच्छड़ों के डर से कोई उपवन-विहार नहीं बन्द कर देता। कछुओं के डर से कोई तीर्थ का स्नान नहीं छोड़ देता।

गोस्वामी जी ने अपने भक्तिमार्ग को दोषों से बचाने की भरपूर चेष्टा की है। पहिले दोष को मिटाने के लिए उन्होंने भारत के सम्मान्य इष्टदेवों का सामञ्जस्य कर दिया है और वह सामञ्जस्य इस खूबी से किया है कि किसी इष्टदेव की ओर द्वेष अथवा तिरस्कार का भाव उठने ही नहीं पाता। दूसरे दोष को मिटाने के लिये तो उन्होंने स्वतः भगवान् के मुँह से कहला दिया है कि जो नरशरीर पाकर भी परलोक के लिये प्रयत्नशील नहीं होता वह काल कर्म और ईश्वर को मिथ्या ही दोष लगाता फिरता है। तीसरे दोष को मिटाने के लिये उन्होंने बाह्य आडम्बर को—जटा रखाना, तिलक लगाना, मठ मंदिर की पद्धतियों को पूरा करना आदि को—अपने भक्तिपथ में कोई प्राधान्य दिया ही नहीं। फिर, न तो वे वैधी भक्ति के विधानों ही पर जोर देते हैं, न अपनी भक्ति के प्रेम और सौन्दर्य को "सेव्यसेवकभाव" की मर्यादा से आगे बढ़ने देते हैं और न इस सेव्यसेवकभाव ही को वे ऐसा अमर्यादित होने देते हैं कि वह दास्यमनोवृत्ति उत्पन्न करके आत्महन्ता बन जाय। वे तो उपयुक्त अवसर पर अहिंसा के समान परमधर्म[1] को भी ताक पर रखने की सलाह देते हुए कहते हैं :—

संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न त चलिय पराई ॥३५-१,२

लोकसेवा के लिये। (जिसके समान और कोई धर्म नहीं है[2]) वे प्राणों के उत्सर्ग को भी प्रशंसनीय कहते हुए लिखते हैं :—

परहित लागि तजइ जो देही। सन्तत सन्त प्रसंसहि तेही ॥४३-४,५

[1] परम धरम श्रुतिविदित अहिंसा। ५०४-५

[2] परहित सरिस धरमु नहि भाई। ४६१-१६

तृतीय परिच्छेद

जीवकोटियाँ

जीवों के लिये जीव से बढ़कर अध्ययन की वस्तु और दूसरी कोई नहीं हो सकती। यदि दूसरी वस्तुओं का—जगत् आदि का—अध्ययन किया भी जाता है तो अपने लिये—जीवों के लिये—उनकी उपयोगिता का दृष्टिकोण सामने रख कर ही किया जाता है। इसलिये भारतीय दार्शनिकों ने अपनी विचारधाराओं को 'जीव के कल्याण" पर ही विशेष रूप से केन्द्रित किया है। इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए हम गोस्वामी जी के तत्वसिद्धान्तों को पाँच परिच्छेदों में विभक्त कर रहे हैं। पहिला परिच्छेद है जीव के सम्बन्ध का। दूसरा है जीवों के आदर्श—जीवों की पूर्णता—जीवों के ध्येय—के सम्बन्ध का। तीसरा परिच्छेद है माया के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो जीव की अपूर्णता का कारण है अथवा यों कहिये कि जो जीव को अपने आदर्श से भिन्न रख रही है। चौथा परिच्छेद है भक्ति के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो माया से विपरीत कार्य करती है अर्थात् जो जीव को उसके ध्येय से मिला देती है।[1] और पाँचवाँ परिच्छेद है जीवों के लिये उपादेय इस भक्ति के साधनों का। इस प्रथम परिच्छेद में हम जीवकोटियों की चर्चा करेंगे।

---

[1] देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥

६५-१७, १८

गोस्वामी जी ने "विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने।" (२७७-१३) कहकर जीवों को तीन कोटियो मे विभक्त किया है। पहिली कोटि है विषयी लोगों की, दूसरी साधकों का और तीसरी सिद्धों की। सिद्ध लोग तो सिद्ध ही हैं उनके लिये भक्तिशास्त्र का प्रयोजन ही क्या। साधक लोगों को ही गोस्वामी जी ने अपने रामचरित-मानस का अधिकारी माना है[1]। परन्तु इस कलिकाल में अधिक संख्या तो विषयी लोगों की ही है इसलिये गोस्वामी जी ने उनका खूब वर्णन किया है। वे यदि एक ओर, साधकों को इनसे सावधान रहने की बात कहते है तो दूसरी ओर विषयियों को भी कल्याणमार्ग बताने मे नहीं चूक रहे हैं। अपने तत्त्वसिद्धान्त को सर्वजनरोचक काव्यचमत्कार में लपेट कर कहने का वही तो अभिप्राय है जो क्विनाइन की गोली को शक्कर में लपेट रखने का रहा करता है[2]।

गोस्वामी जी जिस युग मे उत्पन्न हुए उसमें विषयी जीवों की

---

[1]राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥
४६८-२

यह न कहिय सठहीं हठशीलहिं। जो मन लाइ न सुनि हरिलीलहिं॥
कहिय न लोभिहिं क्रोधहिं कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥
द्विजद्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥
रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसङ्गति अति प्यारी॥
गुरुपदप्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥
ताकहुँ यह विशेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥
५०८-११ से १६

[2]विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।
४६१-१६

भरमार थी। कलिवर्णन में मानो उन्होंने अपनी ही परिस्थिति का रूप खींचा है। वे कहते हैं —

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं ॥४८८-४

गुनमंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी ॥४८८-८

बहुदाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि रही बिरती ॥४८९-६

कुलवन्ति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ॥४८९-८

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥४८०-६

उस समय धर्म कर्म का तो कोई हिसाब ही न था क्योंकि —

कलिमल ग्रसे धरम सब लुप्त भये सद् ग्रन्थ।

दंभिन्ह निजमत कल्पि करि प्रकट किये बहु पन्थ ॥४८७-१३, १४

स्वतः शासक भी —

"नृप पापपरायन धर्म नहीं। करिदंड बिडंब प्रजा नितहीं" ४८९-१० थे। तब सामान्य लोगों के लिये यदि कहा जाय कि "सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा" (४८८-२४) तो आश्चर्य ही क्या। ऐसी परिस्थिति में मातापिता लोग स्वाभाविक ही उसी शिक्षा और सभ्यता की ओर अपने बच्चों को झुकाना चाहते थे जिससे उन्हें चार पैसों की—सांसारिक सुविधाएँ संग्रह कर सकनेवाले साधनों की—प्राप्ति हो।

मातुपिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धरमु सिखावहिं ॥
४८८-१३

यह उदरंभर धर्म था यावनी संस्कृतिवाला विलासितामय मुगल-दरबारी ठाट। जो लोग धर्म की ओर कुछ झुकते भी थे वे—

श्रुतिसम्मत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।

तेहि न चलहिं नर मोहबस कलपहिं पंथ अनेक ॥४८९-३, ४

इस तरह वे यावनी संस्कृतिपूर्ण नये नये पथ चलाकर भारतीयता पर

भी अहरा धक्का लगा रहे थे। इन्हीं लोगों के कारण सन्तप्रवर गोस्वामी जी का हृदय परोपकार की भावना से प्रेरित होकर सद्धर्म संस्थापन के लिये विचलित हो उठा और परिणाम में यह ग्रन्थरत्न तैयार हो गया।

ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित ही है कि इस ग्रन्थ में श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ की जितनी अधिक प्रशंसा होगी विषयवासना की उतनी ही अधिक निन्दा भी होगी। इस विषयवासना की निन्दा का भाव गोस्वामी जी में इतना अधिक है कि उन्होंने अपने भक्तिमार्ग में अथवा अपने आराध्य के चरित्र में विलासिता की बास तक भी कहीं नहीं आने दी है। उन्होंने पक्के विषयी लोगों को असन्तों की कोटि में रखकर सर्वथा त्याज्य बताया है। गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में देवताओं तक पर रियायत नहीं की। इन्द्रादि देव पुण्यकार्यों के फलभोग के लिए ही स्वर्गलोक तथा देवशरीर पानेवाले बताये गये हैं। तब फिर वे भी निःसन्देह विषयी हैं[1]। जब वे विषयी हैं तब गोस्वामी जी की श्रद्धा के पात्र वे कभी हो ही नहीं सकते। इसलिये—

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं॥
सूख हाड़ लेइ भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहिं न लाज॥६३-६ से ८
तिन्हहिं सुहाय न अवध बधावा। चोरहिं चाँदिनि राति न भावा॥
१७४-१४

---

[1] इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखने योग्य हैं :—

देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला।
इन्ह की दसा न कहउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥४३-२३-४४-१
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी ३३७-२१
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई॥५०१-२२

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥१७४-२८
कपट कुचालिसीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाकरिपुरीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥२८६-२१, २१
आये देव सदा स्वारथी। वचन कहहिं जनु परमारथी॥ ४३१-१२

ऐसी ऐसी पंक्तियाँ कहकर गोस्वामी ने इनकी अच्छी पूजा की है।

विषयों में सबसे प्रबल है कामोपभोग और पुरुषों के लिए इसका प्रधान साधन है प्रमदा अथवा नारी। इसलिए विषयवासना की निन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बनानेवाले गोस्वामी जी ने नारीनिन्दा में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। रामचरितमानस का यह प्रसंग ऐसा है जिसके संबन्ध में कई सज्जनों ने कई प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। जिन्हें स्त्रियों का नियंत्रण अभीष्ट है वे तो गोस्वामी जी की पंक्तियों की दुहाई देकर अब भी "ढोल गँवार सूद्र पसु नारी" पर दो चार हाथ चला दिया करते हैं। (कहना न होगा कि विचारशील सज्जनों में ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत कम है)। जो स्त्रियों के समानाधिकार अथवा स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं (और ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत अधिक है) वे या तो गोस्वामी जी कृत "अपराध" (!) मार्जन के लिये लचर दलीलें पेश किया करते हैं या फिर उन्हें खुल्लमखुल्ला गालियाँ सुनाने लगते हैं।

ऐसी दलीलों में से एक यह है कि गोस्वामी जी ने गतानुगतिक मन्द की तरह रूढ़िवश नारीनिन्दा कर दी है। भागवत में लिखा है कि स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ हैं स्त्रियों का संग करनेवाले का भी संग एकदम त्याज्य है[1]। नारदपञ्चरात्र में तो नारीनिन्दा का एक अध्याय ही है। स्वयं

[1] अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ भा० ११/२७/२८

मनु महाराज ने भी स्त्रीस्वातंत्र्य के विरोध में अनेक श्लोक कहे हैं[1]। अनेकानेक आगम निगम पुराणों में ऐसी ही चर्चा मिल सकती है। तब फिर गोस्वामी जी ने भी लिख दिया तो क्या बुरा हुआ।' इस दलील का उत्तर यह है कि यदि यह नारीनिन्दा वास्तव में बुरी है तो इसका अन्धानुकरण करके गोस्वामी जी ने सचमुच बुरा किया है। दस पचीस मनुष्यों ने जानबूझकर या भूल से ही यदि कोई असन्मार्ग ग्रहण कर लिया है तो उस पर चलनेवाला गोस्वामी जी सदृश विचारशील व्यक्ति आलोचना की सीमा के बाहर नहीं कहा जा सकता।

दूसरी दलील यह है कि गोस्वामी जी ने स्वतः नारीनिन्दा में कुछ भी नहीं कहा। जो कुछ कहा सो मानस के पात्रों ने कहा। इसीलिए वे इस हेतु दोषी नहीं। इस दलील का उत्तर यह है, जैसा कि पहले कहा गया है, कि मानस कोई नाटक नहीं जिसमें उक्तियों का दायित्व पात्रों के सिर पर रखा जाता है। फिर मानस के पात्र गोस्वामी जी की ही कल्पना के परिणाम तो हैं। सभी तरह के पात्रों की सभी तरह की उक्तियाँ रहते हुए भी हमें पुरुष जाति की निन्दा के सम्बन्ध में वैसे वाक्य नहीं मिलते जैसे स्त्री जाति की निन्दा के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष दोनों के मुँह में कहे हुए पाये जाते हैं। जातिभर की इस प्रकार की निन्दा चाहे प्रसंगगत हो चाहे न हो परन्तु गोस्वामी जी ने "सहज अपावनि नारि" (३०३-२), "नारि सहज जड़ अज्ञ" (३२-१२), "जदपि जोषिता अनअधिकारी" (५६-१८), 'अबला अबल सहज जड़ जाती' (४८९-१६), 'अधम ते अधम अधम अति नारी" (३२०-८) "नारि बिस्वमाया प्रगट" (४९९-२०), 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा

---

[1] बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वातन्त्रताम्॥ मनु० ५। १४८

सब दुखखानि" (३२४-१५) आदि वह ही तो दिया है। इसलिये यह दूसरी दलील भी किसी काम की नहीं है।

महात्मा गान्धी ने कहा है कि "गोस्वामी जी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया।"—(धर्मपथ पृष्ठ ६५) हम प्रयत्न करने पर भी इस निर्णय से सहमत नहीं हो सकते। गोस्वामी जी के ग्रन्थप्रणयन का जो उद्देश्य था उसको देखते हुए जिस प्रकार नारीनिन्दा की गई है वह परम आवश्यक थी। और, नारीनिन्दा के उन अंशों को अलग कर देने पर नारी के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की जो विचारधारा मिलती है वह अत्यन्त उज्ज्वल है। उसे देखते हुए गोस्वामी जी का '-अन्याय' कहीं भी नहीं प्रगट होता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे—

(१) स्त्रियाँ परमगति की प्राप्ति के लिए पुरुषों के बराबर ही नहीं वरन् उनसे भी अधिक उपयुक्त हैं। बराबरी के दावे के लिए तो—"रामभगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी" (४५३-१८) का उल्लेख पर्याप्त है और श्रेष्ठता के लिए उस सुगम पातिव्रत्य धर्म का संकेत ही बहुत है जिसको धारण करने से 'बिनु स्रम नारि परमगति लहई" (३०१-२८) की बात कही गई है।

(२) जिस तरह स्त्रियों के लिए "एकइ धरम एकु व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपदप्रेमा" (३०१-२०) कहकर गोस्वामी जी ने पातिव्रत्य पर जोर दिया है उसी प्रकार अपने आदर्श रामराज्य में उन्होंने पुरुषों को भी एकपत्नीव्रती ही रखा है। देखिये :—

"एकनारिव्रतरत सब झारी। ते मन क्रम बच पतिहितकारी"

(४५४-१०)

गोस्वामी जी का यह धर्मशास्त्र सर्वसाधारण के लिए लिखा गया है इसलिए इसमें स्त्रियों का सामान्य धर्म ही विशेष रूप से कहा गया है। यह सामान्य धर्म पातिव्रत्य और गृहपरिचर्या से बढ़कर कोई दूसरा नहीं

हो सकता । इसीलिए उन्होंने इन विषयों पर बहुत जोर दिया है। असामान्य परिस्थिति की स्त्रियाँ असामान्य धर्म पालन कर सकती है। गोस्वामी जी को इससे विरोध नहीं। उमा ने जगद्हित के लिए रामचरितमानस का अवतार ही करा दिया। गिरा ने बुद्धियों की प्रेरणा का काम अपने जिम्मे लिया हैं। मन्दोदरी मे पातिव्रत्य से भी बढ़कर भगवद्भक्ति का ज़ोर था। गोस्वामी जीने इन सब बातों को मान्यता दी है।

(३) कालिदास ने स्त्री को जिस प्रकार "गृहणी सचिव सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" कहा है, उसी प्रकार गोस्वामी जी भी उसे नेक सलाह देने की अधिकारिणी मानते हैं तारा ने बालि को कितनी अच्छी सलाह दी थी; परन्तु जब बालि ने न माना तो स्वयं भगवान् ने उसे डाँटते हुए कहा था:—"मूढ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना"। ३३२-२३।

(४) जो नारी कुमार्गगामिनी होती है, वह चाहे सूर्पणखा की तरह नकटी बूची करके ही छोड़ दी जाय; परन्तु जो पुरुष नारी की ओर कुदृष्टि से देखता हैं, वह एकदम बधाई ही बताया गया है। देखिये :—"अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी॥ इनहिं कुदिष्ट बिलोकइ जोई। ताहिं इधे कछु पाप न होई॥" (३३२-२१,२२)। यदि कहा जाय कि ये पंक्तियाँ विशिष्ट स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने के संबन्ध की हैं तो सामान्य स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने वाले के लिये भी गोस्वामी जी कहते हैं :—

कामी पुनि कि रहइ अकलंका—४९६-२४
सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी—४९६-२६

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुखनाना॥
सो परनारि लिलारु गोसाईं। तजइ चौथ के चन्द कि नाईं॥
३९१-१२,१३

(५) गोस्वामी जी ने अपना ग्रन्थ केवल लोकहितसाधकों के लिए तो लिखा नहीं है; (उस समय वातावरण भी कुछ ऐसा था कि राष्ट्र उत्थान का प्रत्यक्ष प्रयत्न करना—लोकहित साधना की बात को विशेष प्राधान्य देना—यवनशाकों को खटक सकता था) उन्होंने आत्महितसाधकों (व्यक्तिगत आत्मकल्याण की साधनावालों) की विचारधाराओं का भी अपने धर्मतत्त्व में सामञ्जस्य किया है और समय देखते हुए अपनी वर्णनपरिपाटी में व्यक्तिगत साधनावाली बातों को प्राधान्य दिया है। आत्महित की साधना में विषयनिन्दा, कामोपभोग-निन्दा और अतएव नारीनिन्दा पर अन्य आचार्यों द्वारा जितना अधिक कहा गया है, वह देखते हुए गोस्वामी जी की उक्तियाँ न केवल उचित ही हैं वरन् अनिवार्य भी हैं। लोकहित के साधक लोग इन उक्तियों को आत्महित के साधकों के लिए छोड़कर गोस्वामी जी की अन्य उक्तियों की ओर और गोस्वामी जी कृत स्त्रीपात्रों के चरित्रचित्रण की ओर क्यों नहीं ध्यान देते।

(६) गोस्वामी जी के स्त्रीपात्र बहुत उज्ज्वल चित्रित हुए हैं और पुरुषों की अपेक्षा उन्होंने भगवद्भक्ति को अधिक अपनाया है। इस सम्बन्ध में सीता, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा अनसूया आदि की तो बात ही क्या है, तारा सदृश वानर नारी और मन्दोदरी सदृश राक्षस नारी की ओर देखिये। उन दोनों के चरित्र कितने उज्ज्वल हैं और उन दोनों के विशुद्ध हृदयों ने किस प्रकार भगवद्तत्त्व के रहस्य को पहिले ही से प्राप्त कर लिया था। शबरी का हाल देखिये। सीता के रहते हुए भी भगवान् जिसे 'भामिनि" कहकर "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-६) की घोषणा करें उसके परमोज्ज्वल सौभाग्य का क्या ठिकाना। रामवनवास के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जिस प्रकार कैकेयी मन्थरा और और सरस्वती तक को दोष से मुक्त किया है, वह देखते हुए कौन कह सकता है कि वे स्त्री जाति से चिढ़े हुए थे।

कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामी जी ने न तो माता का प्यार पाया (क्योंकि पैदा होते ही ये त्याग दिये गये थे) और न पत्नी का (क्योंकि उसी की फटकार पर ये विरक्त हुए थे) तथा उन्हें बड़े घर की स्त्रियों से मिलने जुलने का सौभाग्य भी नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने नारी के सम्बन्ध मे अपने बड़े संकीर्ण विचार प्रकट किये हैं हमारी समझ में नहीं आता कि नारीनिन्दा-विषयक प्रसगों का कारण स्पष्ट रहते हुए भी गोस्वामी जी की इन रचनाओं पर ऐसे ऐसे तर्क ढूँढकर क्यों लीपापोती की जा रही है।

सीता जी भी तो एक नारी हैं। परन्तु वे ऐसी नारी हैं जिनके नाम का स्मरण ही पातिव्रत्य धर्म की रक्षा का अमोघ मन्त्र कहा गया है[1]। गोस्वामी जी ने ऐसी नारियों की निन्दा कदापि नहीं की है। उन्होंने "नारी" शब्द मे जिन व्यक्तियों की निन्दा की है वे कामोपभोग साधन के अतिरिक्त और कोई दूसरे व्यक्ति नहीं। "स्रक् चन्दन वनितादिक भोगा" (२५३-२९) पंक्ति ही बता रही है कि वनिता अथवा नारी स्रक् (माला) चन्दन आदि भोग्य पदार्थों की श्रेणी मे समझी जाने लगी थी। गोस्वामी जी की जो परिस्थिति थी उसमें भी "नारी" विलासिता का एक प्रधान साधन बन गई थी। विषय विलास और आत्मकल्याण में आग पानी का सा विरोध है। इसीलिये अखिल जीव कोटि के आत्मकल्याण मे संलग्न गोस्वमी जी विषयविलास की प्रधान साधन-रूप उस "नारी" की भरपेट निन्दा न करते तो क्या करते? ऐसी निन्दा से—ऐसी दोषदृष्टि से—ही तो उस ओर वैराग्य उत्पन्न होगा और उस ओर वैराग्य होने से फिर राम की ओर अनुराग उत्पन्न होने लगेगा। यही गोस्वामी जी की विचारशैली है। उनकी "नारी" और

[1] सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
जोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥ ३०२-४,५

"प्रमदा" में कोई अन्तर नहीं। उन्होंने अपना मानस विशेष कर उन पुरुषों के लिए लिखा था, जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने इसी परिच्छेद के प्रारम्भ मे करा दिया है। इसीलिए विलासिता के इस हेय प्रतीक को उन्होंने "नारी" कहकर पुकारा। अध्यात्मपथ की स्वतंत्रताप्रेमिणी असाधारण स्त्रियाँ—वे स्त्रियाँ जिन्होंने विरतिविवेकमय हरिभक्तिपथ अपनाकर गार्हस्थ्य से अपना पीछा छुड़ा लिया है—यदि चाहें तो "नारी" शब्द से कामान्ध पुरुष का भाव ग्रहण कर सकती हैं।

गोस्वामी जी सुधारक होते हुए भी क्रान्तिकारी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने पुरुषकृत अत्याचारों के विरुद्ध स्त्री को भड़काने का कोई चित्र अपनी रचना में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने मर्यादा की रक्षा के लिए स्त्रीस्वातंत्र्य के विरोधी वाक्य ही कहे हैं[1]। परन्तु स्त्री की परतन्त्रता से उनका साधु हृदय अवश्य द्रवित रहा करता था। इस सम्बन्ध मे उनकी यह उक्ति कि—"कत विधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥ (५३-५०) देखने ही योग्य है।

यह अवश्य है कि कथाभाग में भी उन्होंने जहाँ कहीं नारीनिन्दा का उपयुक्त अवसर पाया वहाँ उसका पूरा उपयोग करते हुए—

"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥"

२३३-३

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी"[2]।

२०७-२२,२३

---

[1] महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी॥

३३२ २०

[2] ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ ३२९-२४

आदि वाक्य कह दिये हैं। परन्तु इन सब उक्तियों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि—

"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।—
भजहि राम तजि काम मदु, करहि सदा सतसंग॥" ३२५-२५,२६

स्त्री की ओर पुरुष का आकर्षण तो स्वाभाविक है इसलिये इस आकर्षण के उज्ज्वल पक्ष के पोषण में कविकल्पना का उपयोग करना अपने उद्देश्य के अनुकूल न समझकर गोस्वामी जी ने इसके श्यामपक्ष ही पर बहुत ज़ोर दिया है। सती स्त्री के हृदय की शुचिता और दृढ़ता पर तो उनको वैसा ही विश्वास है जैसा किसी विचारशील व्यक्ति को होना चाहिये[1]।

विषय जीव प्रभुता पाकर उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं[2]। उनकी उच्छृङ्खलता से समाज का सदैव हानि है। इसलिये उन्हें सदैव मर्यादित रहना ही—ताडन के अधिकारी बने रहना ही—उचित है। यदि वे जड़ होते हुए भी विवेकाभिमानी बनकर किसी समर्थ से "हिसिषा" करने लगे तो निश्चय ही नारकी बनेंगे; क्योंकि वे जीव ईश की समता के लायक नहीं हैं। समर्थ और विषय में—ईश और अनीश मे—वही अन्तर है जो विशाल और क्षुद्र में रहा करता है स्वल्प गंगाजल से यदि वारुणी तैयार हुई हो तो उसमें वारुणी का अंश विशिष्ट होने के कारण वह त्याज्य है परन्तु वही वारुणी यदि गङ्गा जी की विशाल धारा में डाल दी जाय तो गङ्गाजल की विशिष्टता हो जाने के कारण वह ग्राह्य बन जाती है[3]। जिस जीव में विषयवासना का आधिक्य है वह इसी प्रकार अनीश अतः मर्यादा-

---

[1] डगइ न संभु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥ ११०-८
[2] विषय जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहि जनाई॥ २५८,१७
[3] देखिये पृष्ठ ३७ प० १ से ८

से वद्ध रह जाता है और जिसमें सद्भावना का आधिक्य है वह ईश अथवा समर्थ और इस प्रकार विधिनिषेध की मर्यादा से परे हो जाता है। ऐसे लोग परमात्मा ही की कोटि के हैं। इस संसार में ऐसे लोगों का अभिवांछित आधिक्य हो ही नहीं सकता क्योंकि भगवान् जब स्वयं "श्रुतिपथपालक धरमधुरधर" (४५७-२२) हैं तब वे अपनी रची मर्यादा में उच्छृङ्खलता कभी पसन्द ही नहीं कर सकते। तब ऐसी स्थिति में सभी लोगों का मर्यादित रहना—लोकव्यवस्था के प्रबन्ध से आबद्ध रहना—वाञ्छनीय है। जब समर्थ लोगों का भी यह हाल है तब गोस्वामी जी ने जिस नारी को विषयोपभोग का साधन बताकर विषयी जीवों की कोटि में रखा है उसके ताड़न अथवा नियंत्रण अथवा मर्यादा में चलते रहने की बात लिखकर उन्होंने समग्र नारी जाति पर कोई भीषण अत्याचार नहीं कर दिया।

यह बात नहीं है कि विषयी लोग सदासर्वदा विषयी ही बने रहें। उनमें से अनेकों को साधक होना ही पड़ता है। बात यह है कि प्रत्येक जीव आखिर अपने आदर्शपूर्णत्व का—ईश्वर का—अंश ही तो है। केवल अंश ही नहीं वह उसका "सहज सँघाती" और सहज स्नेही भी है।[1] इसलिये महात्वाकांक्षा—स्वतः पूर्ण बनने की अभिलाषा—उसमें स्वाभाविक है। इस अभिलाषा को वह अपनी अज्ञता के कारण बहुधा उलटे ही मार्ग से पूर्ण करना चाहता है। अपने शरीर को ही अपना वास्तविक रूप समझ कर इन्द्रियों की तृप्ति के लिये विषय वासनाओं की पूर्ति में ही वह अपनी पूर्णता मानने लगता है और इसी ओर दत्तचित्त हो जाता है। परन्तु जब वह ययाति की तरह देखता है कि—

---

[1] ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती। १२-२

ब्रह्मजीव इव सहज सनेह। १०२-२०

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते ॥ मनु०

तब वह अपनी भूल को समझकर सीधे रास्ते पर आ जाता है और इस शरीर से विषयों की साधना के बदले तत्त्व की साधना, रोगों की साधना के बदले रोगमुक्ति की साधना, कुपथ्य की साधना के बदले सुपथ्य की साधना करने लगता है। ऐसी साधना से वह परम शान्ति और परम आनन्द का अधिकारी बनकर निःसन्देह पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है। जिन जीवों मे इतना विवेक नहीं है वे भी किसी न किसी प्रकार साधक हो ही जाते हैं। जब कभी विषम परिस्थिति के आघात प्रत्याघात से दुःख और संकटो की प्रबल आँधी उठकर जीवन को चंचल बना देती है उस समय जीव को बरबस साधक बनना पड़ता है। जब वह किसी वस्तु, विभव अथवा परिस्थिति की इच्छा करता है और उसे प्राप्त करना अपनी शक्ति के बाहर की बात समझता है वह साधक बन उठता है। जब उसे भले आदमियों के बीच उठना बैठना अथवा कीर्तिमान् कहलाना पसन्द आने लगता है तब वह साधक बन जाता है। जब मृत्यु अथवा अज्ञात परलोक का भय किसी के मन पर अपना आतंक जमाने लगे तब वह साधना की ओर झुक पड़ता है। इसी प्रकार के अपने प्रसंग है जो मनुष्यो को साधक बना देते हैं। जो विवेकी और दृढ़निश्चयी हैं वे तो साधना मे पक्के होकर सिद्ध भी हो जाते हैं। जो सामान्य साधक हैं वे हृदय की दुर्बलता के कारण विषयी रहा करते हैं और येनकेन प्रकारेण कुछ न कुछ साधना भी करते जाते हैं। ऐसे जीवों की संख्या बहुत अधिक है और जैसा कि पहिले कहा गया है इन्हीं की ओर—सर्वसाधारण की ओर—विशेष लक्ष्य रखते हुए गोस्वामी जी ने यह ग्रन्थ लिखा है।

सच्चा साधक विषयवासना को मानस रोग मानता है। शरीर-रोगग्रस्त—सन्निपातग्रस्त—मनुष्य शीतल जल पान करने की ओर बड़ा आग्रह

दिखाता है, वह यह नहीं समझता कि जल पीने से उसकी बीमारी और बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार मानसरोगग्रस्त मनुष्य विषयोपार्जन में दत्तचित्त रहता है, वह यह नहीं समझता कि विषयोपार्जन से उसकी अशान्ति और बढ़ जायगी। मानस रोगों को पहचानना बड़ा कठिन है। नारदादि महर्षियों से भी भूल हुई है! और उन्होंने कुपथ्य ही को सुपथ्य समझकर भगवान् तक से वह माँगने का साहस किया है। परन्तु साधक यदि मानस रोगों की ओर से निरन्तर सावधान रहने की चेष्टा करे तो इनके चक्कर से वह अपने को बहुत कुछ बचा सकता है।

गोस्वामी जी ने मानस रोगों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका कहना है कि जीवों के दुःख के प्रधान कारण यही मानस रोग हैं। वे मोह (शरीराभिमान) ही को सब व्याधियों का मूल समझते हैं। इसी से अनेक प्रकार के विषयमनोरथरूपी शूल उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शरीर की व्याधियाँ अनेक हैं उसी प्रकार मानस के रोग भी अपरिमित हैं। जब तक जीवों का जीवत्व—अपूर्णत्व—है तब तक इन रोगों का निवास भी बीजरूप से उनमें रहता ही है। हाँ, जो इन्हें पहिचान लेता है उसके ऊपर ये अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखाते हैं। फिर भी यदि उन्हें विषय का कुपथ्य मिल जाय तो अवश्य अंकुरित पल्लवित हो उठते हैं। इन रोगों के समूल उन्मूलन की रामबाण औषधि है श्रद्धापूर्ण हरिभक्ति, जिसे गोस्वामी जी ने अपने मानस द्वारा इस प्रकार सर्वसुलभ कर दिया है।[1]

---

[1] मानस रोग का पूरा प्रसंग ही यहाँ पर लिख देना अनुचित न होगा :—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जेहिं ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई॥

सिद्ध की श्रेणी में गोस्वामी जी ने संत, भक्त. आदि सभी पहुँचे हुए जीवों को रखा है। जो पहुँचा हुआ जीव रहता है—ब्रह्मसादृश्य प्राप्त कर चुकता है—वह काम क्रोध लोभ आदि मनोविकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ही चुकता है।

विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई ॥
परदुख देखि जरनि सोइ छुई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई ॥
अहङ्कार अति दुखद डॅहरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी ॥
जगविधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥

एक व्याधि वस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीडहिं सन्तत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।
नेम धरम आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाइ हरिजान।

एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी ॥
मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्हि पाये ॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भाँति बनइ संजोगा ॥
सदगुरु बैद वचन विश्वासा। संजम यह न विषय कै आशा ॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुरबलता गई ॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥

४०५—११ से २६, ५०५—१ से ६

"नारि नयनसर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥"
३३७-२२, २३

साथ ही वह 'हेतु रहित जग उपकारी" भी हो जाता है।

"हेतु रहित जुग जग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुगरी॥"
४६४-१०

इसलिये यदि संसारी जीवों का किसी से वास्तविक कल्याण होता है तो वह इन सिद्ध जीवों से ही। ये लोग विकारहीन शुद्ध हृदय से जब बिना किसी स्वार्थ भावना को अथवा राजसी तामसी प्रकृति को लिये हुए लोककल्याण में दत्तचित्त होते हैं, तब फिर जनता का इनसे वास्तविक कल्याण न होगा तो किनसे होगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि ब्रह्म तो समुद्र की तरह विशाल, गंभीर, अगम्य और अग्राह्य है। भक्त हृदय उसे कैसे अपना सकता है। असल में इन सिद्ध पुरुषों ने ही अपने ज्ञानरूपी मन्दिर पर्वत से ऐसे समुद्र को मथकर वह भगवत्कथा-रूपी अमृत निकाला है, जिसमें भावुक-हृदय-संग्राह्य भक्तिरस का माधुर्य ओतप्रोत भरा हुआ है[1]। इस दृष्टि से वे इन सिद्धों को भगवान् से भी अधिक बताते हुए कहते हैं—

"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चन्दनतरु हरि सन्त समीरा॥"
५०३-३, ४

बात भी सच है। यद्यपि बादल अपना जल समुद्र से ही लाते हैं और मलयानिल अपनी सुगन्धि चन्दन वृक्ष से ही लाता है तथापि

---

[1]ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़इ भगति मधुरता जाहि॥ ५०३-७, ८।

लोगों का प्रत्यक्ष उपकार तो बादलों से और मलयानिल से ही होती है। समुद्र और[1] चन्दनतरु तक पहुँच कर ऐसे कितने हैं कि जो लाभ उठा सकते हैं। इसीलिये प्रत्यक्ष में तो राम की अपेक्षा रामदास का ही महत्त्व अधिक होना चाहिये।

रामदास अथवा हरिजन के इस महत्त्व पर गोस्वामी जी ने बहुत सुन्दर उक्तियाँ कही हैं।

"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥"
२४४-२२, २३

"मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥"
२५५-२

आदि पंक्तियाँ लिखकर गोस्वामी जी ने स्पष्ट बता दिया है कि चाहे कोई भगवान् की ओर उपेक्षाभाव ही रख ले—नास्तिक ही बना रहे—परन्तु सिद्धों की ओर—सात्विक बुद्धिवाले निर्हेतुक परोपकारी सज्जनों की ओर - तो उसे श्रद्धा रखनी ही चाहिये। ऐसे सन्तों का तिरस्कार उन्हें किसी प्रकार सह्य नहीं।[2] इतना ही नहीं उन्होंने ऐसे सिद्धभक्तों की सेवा को भगवान् की सेवा से किसी प्रकार कम नहीं बताया है। वे कहते हैं—

"सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनुसत सरिस सोहाई॥

---

[1] कवि सम्प्रदाय का चन्दनतरु मलयाचल के किसी दुर्गम स्थान में रहता है।

[2] सन्त सम्भु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥
३५-१, २

आती है[1]। इसलिये वे कहते हैं कि यदि हो सके तो इन दुर्जनों का ऐसा निग्रह कर दिया जाय जिससे इनकी दुष्टता ही का उन्मूलन हो जावे और यदि ऐसा न हो सके तो इनसे दूर हट जाया जाय।[2] वे इन्हें कुत्ते की तरह दूर रखने की सलाह देते हैं[3]। सत्सङ्ग की पुष्टि के लिये दुःसङ्ग के विरुद्ध ऐसे तीव्र शब्दों का व्यवहार सर्वथा उचित था।

कौन दुर्जन है कौन सज्जन है यह जाने बिना त्याग और संग्रह की बात ही कैसे बन सकती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने दुर्जनों और सज्जनों के विस्तृत लक्षण बताये हैं[4]। दुर्जनों की श्रेणी में उन्होंने विशेष रूप से दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया है। एक तो हैं खल और दूसरे राक्षस। "खल बिनु स्वारथ पर अपकारी" (५०४-१) यही खलों की बड़ी सुन्दर परिभाषा है। गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र इन खलों का विस्तृत वर्णन किया है। ये खल लोग जब अपनी खलता में इतने मँज जाते हैं कि फिर जीते जी उनका उद्धार प्रायः असंभव हो जाता है, तब ये ही लोग राक्षस कहाते हैं। राक्षसों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की परिभाषा देखिये—

---

[1] बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसङ्ग सुसङ्ग—२३५ १६
काहूसुमति कि खल सङ्ग जामी—४६६-२६
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥
—३६२-८

[2] सन्त संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न त चलिय पराई॥ ३५-१, २

[3] कवि कोविद गावहिं असि नीती। खल सन कलह न भल सन प्रीती॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥
४६२-१४, १५

[4] तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥ ६-११॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा ॥
मानहि मातु-पिता नहि देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥
—२७-७ से ९

परद्रोही परदार रत परधन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ॥ ४६१-१३,१४[1]

जो राक्षसी वृत्ति से (१) सुख (२) सम्पत्ति (३) सुत (कामोपभोग द्वारा वंशविस्तार) (४) सैन्य (शासनबल) (५) सहाय (प्रभुत्व के लिये सङ्गठन) (६) जय (७) प्रताप (८) बल (शक्ति) (९) बुद्धि (१०) बड़ाई (जयघोष कराने की आकांक्षा) इस तरह दशों दिशाओं में आधिपत्य का प्रयत्न करता है, वह राक्षसराज दशमुख रावण की तरह है[2]। यदि कहीं ऐसा मनुष्य अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ तो संसार में त्राहि त्राहि मच जाती है[3]। उस समय किसी ऐसी विभूति का (डिक्टेटर का, सिद्धान्त विशेष का, किसी क्रान्ति का अथवा किसी अवतार का) आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है जो इन राक्षसों का दमन करके आर्य सज्जनों का पुनः सङ्गठन कर दे।

---

[1]संभव है कि गोस्वामी जी ने राक्षसों की भिन्न योनि की अमान्यता न प्रकट होने देने के लिए 'निशिचर सम'' और देह धरे मनुजाद'' की बात कही है।

[2]सुख सम्पति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥
८५-५, ६

[3]रावण राज्य के ऐसे वर्णन में कई लोग गोस्वामी जी के समय के यावनी साम्राज्य की ओर इशारा पाते हैं (देखिये ''मानसहंस'')

जगत् में सुव्यवस्था की स्थापना ही स्वाभाविक नियम है। अव्य-वस्थित जगत् बहुत दिन तक टिक ही नहीं सकता। लोगों को सुव्यवस्था की ओर झुकना ही पड़ता है। इसलिये दुर्जनों का प्राबल्य एक तो होता ही कम है और यदि हुआ भी तो वह चिरस्थायी नहीं होता। उनके सामूहिक प्राबल्य को तोड़ने का सबसे सीधा उपाय यह है कि उनसे "असहयोग" किया जाय—उनकी सगति से दूर रहा जाय—और सज्जनों का एक सुचारु सङ्गठन कर लिया जाय। सज्जनता की मनःशक्ति ही कुछ इतनी जबर्दस्त होती है कि दुर्जनों पर उनका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। और, यदि सब आर्य सज्जनों का सुचारु सङ्घ (सुन्दर सङ्गठन) हो गया तब फिर उस आर्यसमाज अथवा आर्य राष्ट्र की शक्ति और उसके प्रभाव का कहना ही क्या है। इस शक्ति का प्रभाव दुर्जनों पर पडे बिना रह हो नहीं सकता। अपना ऐसा सङ्गठन बनाये बिना प्रारम्भ से ही "बिनु स्वारथ पर अपकारी" लोगों से मिलकर चलने को रीति बरती जायगी तो न तो आर्यसङ्गठन ही हो सकेगा और न खल ही सुधर सकेंगे वरन् उन खलों का प्राबल्य और भी अधिक बढता जायगा।

दुर्जनों के सामूहिक सुधार का रास्ता तो ऊपर बता दिया गया। अब यदि कोई दुर्जन के व्यक्तिगत कल्याण के सम्बन्ध मे पूछे तो गोस्वामी जी इस विषय में और भी अधिक स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि यदि दुर्जन को सत्सङ्गति मिल जाय तो वह उसी प्रकार सुधर जाता है जैसे पारस का स्पर्श करके कुधातु[1]। परन्तु प्रश्न यह है कि सज्जन लोग दुर्जन को अपने पास फटकने ही क्यों देंगे? इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने दो सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। प्रथम तो वे कहते हैं—

---

[1]सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई ॥—५१

"विधिवस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।"
(५-२)

फिर वे कहते हैं :—

"सुरसरि-जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहि तेहि पाना ॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे ॥" ३७-७,८

इन सूक्तियों का भाव यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समाज में सज्जनता का बल यदि उस दुर्जन की दुर्जनता के बल से अधिक प्रबल है तो निश्चय ही सज्जनता के प्रभाव से वह दुर्जन प्रभावित हो उठेगा और इस प्रकार उसका सुधार हो जायगा।

सज्जनों के विषय में गोस्वामी जी ने बहुत कुछ कहा है। पहिले सज्जन तो सन्त लोग हैं। उनकी गुणावली की पूर्ण सूची दी ही नहीं जा सकती। गोस्वामी जी स्वतः भगवान् रामचन्द्र के मुख से दो स्थानों पर यही विषय स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते ॥"
(३२५-१८)

"सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगिनित स्रुति पुरान विख्याता ॥"
(४६०-१६)

इन दोनों ही स्थलों पर सन्तों के लक्षणों की सूचियाँ भी दी गई हैं जो साधकों के लिये भली भाँति मनन करने योग्य हैं। इन सूचियों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उन्होंने सन्तों के सम्बन्ध में सुन्दर सूक्तियाँ कहा हैं। कहीं उन्हें वे कथारूपी अमृत निकालनेवाला देवता कहते हैं[1]। कहीं उन्हें संसार का सच्चा सेवक कहते हैं[2]। कहीं उनके उदय को वे जगत् के लिये सतत हितकारी बताते हैं[3]। कहीं उनके चरित्र को

---

१ ५०२-६, ८
२ ५०७-६
३ ५०४४

कपास के समान अनासक्त, विशद, गुणमय और दुख सहकर भी परछिद्र दुरानेवाला बताते हैं[1]। और कहीं उनके हृदय का नवनीत से भी अधिक कोमल कहकर उनकी परोपकारवृत्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं[2]। गोस्वामी जी की सूक्तियों के अनुसार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सच्चरित्र व्यक्ति हैं वही सन्त है, जो भगवद्भक्त है वही सन्त है, जो तत्त्व का यथार्थवेत्ता है वही सन्त है और जो करुणार्त्त होकर परोपकार में रत रहता है वही सन्त है। जो वास्तविक सन्त है वह चाहे कुवेशधारी ही क्यों न हो उसका सम्मान होता ही है और होना उचित भी है। परन्तु जो केवल "भेख" धारी "सन्त" है—वैष्णव वैरागी साधू आदि का भेख धर कर ही घूम रहा है—वह भी सम्मान के योग्य है क्योंकि आखिर वह भी हिन्दूसमाज का एक अङ्ग ही तो है। न तो सब भेखधारी बुरे हो होते हैं और न सब अच्छे ही। दुर्जनता और सज्जनता की तो पहिचान ही अलग है। फिर "भेख"—जिसका प्रचार आत्मकल्याण और लोक सेवा की दृष्टि ही से किया गया था—क्यों निन्दनीय मान लिया जाय। जो ढोंगी लोग वेषधारी होंगे उनका भण्डाफोड़ करना अलग बात है और वेष के विरुद्ध ही क्रान्ति मचाना अलग बात है। गोस्वामी जी अपने समाज पुरुष के अङ्गों को अनावश्यक रूप से छिन्न-भिन्न कर देने के पक्षपाती नहीं थे इसलिये पहिले प्रकार के सज्जनों में उन्होंने सब साम्प्रदायिक साधु सन्तों को भी समेट लिया है[3]।

---

[1] ४-४,५

[2] ५०७-७, ८

[3] लखि सुवेषु जग बंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजियत तेऊ॥
उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥
किएहु कुवेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू॥
७-५ से ७

दूसरे प्रकार के सज्जन हैं ब्राह्मण लोग। गोस्वामी जी ने इन्हें केवल सन्त ही नहीं वरन् अनन्त के समान कहा है और इनके अपमान को सर्वथा निन्दनीय माना है[१]। गोस्वामी जी ने ब्राह्मणों को जो यह महत्त्व दिया है उसके कई कारण हैं। पहिली बात तो यह है कि ब्राह्मण ही आर्य संस्कृति के प्रकृत संरक्षक थे। इसीलिये गोस्वामी जी ने "द्विज-पदप्रीति" को "धर्मजनयित्री" बताया है[२]। दूसरी बात यह है कि वे संस्कारजन्य तपोबल के कारण "बरियार" समझे जाते थे[३]। इस तपस्या के कारण उनका सात्विक मनोबल अवश्य प्रभावोत्पादक होना ही चाहिये। तीसरी बात यह है कि ब्राह्मणों की ओर सनातनी हिन्दुओं में संस्कारजन्य श्रद्धा रहती चली आई है इसलिये कल्याण मार्ग में अग्रसर होने के लिये वह श्रद्धा बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है।

मैकफ़ी सदृश कई विद्वानों ने गोस्वामी जी के ब्राह्मण सम्मान को पक्षपातपूर्ण अतएव दूषित माना है[४]। इसलिये गोस्वामी जी की विप्र-पूजा के समर्थन में कुछ विस्तृत विवेचन कर देना उचित जान पड़ता है।

जिस समय गोस्वामी जी इस संसार में वर्तमान थे उस समय वैरागी और सन्त तो मनमाने पन्थ निकालते चले जा रहे थे और श्रुति-स्मृति का सम्यक् ज्ञान न रखने के कारण या तो कट्टरता के या यावनी संस्कृति के प्रवाह में बहते चले जा रहे थे। इधर श्रुतिसम्मत धर्म वंशपरम्परागत संस्कारों के कारण विप्रकुल में (ब्राह्मण कुटुम्बों में)

---

[१] अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु सन्त अनन्त समाना॥ ४४-१७

[२] द्विजपद प्रीति धरमजनयित्र—४६०-२६

[३] तपबल बिप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोपन कोउ रखवारा॥७०-५

[४] देखिये "दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दर्न इण्डिया।"

ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से परिपालित होता चला आ रहा था। इसी लिये "ब्राह्मण" और "वैष्णव" (पन्थवाले) लोगों के बीच एक विरोध सा उपस्थित हो गया था। "सन्त" लोग 'विप्रों' का अनादर करते थे और "विप्र" लोग "सन्तों" का। गोस्वामी जी अपने संगठन के लिये दोनों को आवश्यक अङ्ग मानते थे। इसलिये जहाँ उन्होंने सन्तसेवा को इतना महत्त्व दिया वहाँ ब्राह्मण-सेवा को भी सन्तसेवा के बराबर गौरव दिया।

जिस समय गोस्वामी जी वर्तमान थे उस समय मुद्रणकला के न होने के कारण एक तो पुस्तकें ही बहुत कम रहा करती थीं और फिर जो थीं भी वे पाखण्ड विवाद के भय से ब्राह्मणों के पास छिपी पड़ी रहती थीं[1]। यदि मिलती भी थी तो संस्कृत में होने के कारण दुरूह हो गई थीं और यदि कोई संस्कृत पढ़कर उन्हें समझ भी लेता था तो परस्पर-विरुद्ध वाक्यों और सिद्धान्तों के चक्कर में पड़कर वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन जाता था। भारतवर्ष की जनता के लिये गोस्वामी जी श्रुति-सम्मत धर्म ही को अत्यन्त उपयोगी मानते थे। इसलिये उस धर्मतत्त्व को समझने के हेतु गोस्वामी जी के मत में ब्राह्मण सेवा ही एकमात्र सरल उपाय था।

भगवान् की ओर श्रद्धापूर्ण सेवा तभी अच्छी तरह हो सकती है जब ऐसी श्रद्धापूर्ण सेवा का पाठ इस संसार ही में सीख लिया जाय। विभिन्न पंथानुयायी सन्त लोग तो "कल की चीज" थे। एकमात्र ब्राह्मण ही ऐसे थे जो "भूमिसुर" कहाकर चिरकाल से श्रद्धा के पात्र बने हुए थे। इसलिये विप्रों की श्रद्धापूर्ण सेवा ही को गोस्वामी जी ने भगवत्सेवा का प्रथम सोपान कहा है[2]।

---

[1] जिमि पाखण्ड विवाद ते गुप्त होहिं सदग्रन्थ—३३५-३

[2] प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुति रीती।
—३०८-६

भेखधारी सन्तों से श्रुतिसम्मत पथ जानने की आशा नहीं। सच्चे सन्त मिलना आसान नहीं। गुरु मिलना और भी कठिन बात है। ब्राह्मण सर्वत्र सुलभ हैं। इसलिये श्रुतिसम्मत हरिभक्ति के लिये आवश्यकी श्रद्धा का पाठ पढ़ने के हेतु यदि गोस्वामी जी ने लोगों को ब्राह्मण सम्मान की ओर प्रेरित किया तो क्या बुरा किया।

गोस्वामी जी जिस तरह सन्तों के 'भेख" को भी सम्मान्य मानते हैं उसी तरह ब्राह्मण के कुल को (जन्म के ब्राह्मण को) भी सम्मान्य मानते हैं। भेख तो ऊपरी बात है परन्तु कुल के साथ तो वंशपरम्परा के संस्कारों का अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिये भेखधारी जीवों का चाहे विशिष्ट परिस्थितियों में तिरस्कार भी कर दिया जाय परन्तु कुलपरम्परागत ब्राह्मण पूज्य ही है चाहे वह शीलगुणहीन भी क्यों न हो[१]। उसमें वंशपरम्परा के कुछ न सात्विक गुण और कुछ न कुछ आर्य संस्कार रहते ही हैं। इसीलिये गोस्वामी जी ने इनकी महिमा गाई है।

सनातनधर्म को लोग ब्राह्मणधर्म कहा करते हैं क्योंकि उसका प्रवर्त्तन ब्राह्मणों द्वारा ही हुआ है। शास्त्र मर्य्यादा के अनुसार अपने अपने धर्म में रत रहना ही प्रत्येक सनातनी हिन्दू का कर्त्तव्य है। इस शास्त्र-मर्यादा का ज्ञान हमें ब्राह्मणों के द्वारा ही होता है। गोस्वामी जी के जीवन काल में ब्राह्मणविरोध बढ़ चला था और लोग आँख दिखा दिखाकर कहने लग गये थे कि जो वेद जाने वही ब्रह्मण है, कुछ जन्म ही से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता।[२] भारतवासियों को जिन ब्राह्मणों का ऋणी होना चाहिये था उनके प्रति ऐसे अश्रद्धा के भाव गोस्वामी जी

[१]पूजिय विप्र सील गुन हीना। ३१९-२३

[२]बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि॥ ४८८ १४,१५

के समान विचारशील सज्जन कहाँ सह सकते थे। इसलिए उन्होंने इतनी अधिक ब्राह्मण भक्ति दिखाई।

ब्राह्मणों के ऊपर लांछन लगाया जाता है तो यही कि उन्होंने समाज में वैषम्य की सृष्टि कर दी है और अपने को आवश्यकता से अधिक पुजाया है। जो धर्मतत्त्व को समझनेवाले हैं वे जानते हैं कि समाज की प्रवृत्तियों में न तो केवल साम्य ही रहता है और न केवल वैषम्य ही। ब्राह्मणों ने सग्रह, त्याग, प्रभुत्व और सेवा की मूल प्रवृत्तियों के वैषम्य की रक्षा को समाज के लिए लाभदायक मानकर वर्णधर्म का संस्थापन किया और इन चारों प्रवृत्तियों के अनुसार क्रमशः वैश्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की चर्चा की। परन्तु वे इस वैषम्य को दृढ़ करके ही नहीं रह गये। उन्होंने समाज की प्रवृत्तियों के साम्य की ओर भी विचार करके आश्रमधर्म की संस्थापना की जिससे आर्यजाति के सभी लोग ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार धर्मतत्त्ववेत्ता लोग यह भी जानते हैं कि धर्मशास्त्र की व्यवस्था देने वाले ब्राह्मण ने अपने निर्वाह के लिए भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन ही नहीं रखा। तप और त्याग का कष्टमय जीवन बिताकर लोककल्याण का मार्ग सुझाने का भार स्वतः अपने ऊपर लेनेवाला ब्राह्मण यदि इस ससार में सर्वतोऽधिक पूज्य समझा जाने लगा तो उसमें उस ब्राह्मण का क्या दोष! इतना होते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि कुछ ब्राह्मणों ने अनेकानेक अनार्य जातियों के सम्मिश्रण को भयावह समझकर आर्य द्विजातियों की पवित्रतारक्षा के उद्देश्य से आश्रम धर्म में भी ऐसे अड़ङ्गे लगाये, जिनके कारण शूद्र लोग—अनार्यजातियों के अधिकांश लोग— द्विजों के समान वेदाध्ययन निरत ब्रह्मचारी न बनने पाये और सन्यास न लेने पाये। साथ ही उन्होंने स्थान स्थान पर धार्मिक विधानों में ब्राह्मण की इतनी आवश्यकता रख दी कि अपढ़ ब्राह्मण अपने को पुजाने का पेशा-सा खोल बैठे। गोस्वामी

जी ने इस विषय का भली भाँति अनुभव किया था। इसलिये उन्होंने इन दोनों दोषों को मेटने का भरपूर प्रयत्न किया है। परन्तु वह प्रयत्न इस खूबी के साथ है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्वेष की आग किसी भी स्थल में नहीं भड़कने पाई है।

पहिले लांछन के परिहार के लिये—अर्थात् साम्यसंस्थापन के लिए उनके भक्तिपथ का माहात्म्य देखा जावे। भगवान् के आगे ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री, शूद्र सब बराबर हैं। उनकी तो घोषणा है कि "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-६)। भगवान् का नाम लेते ही नीचातिनीच भी परम पावन हो जाता है[१]। फिर ऊँच नीच स्पृश्य अस्पृश्य की बात ही कहाँ रही। इस एक ही प्रहार से गोस्वामी जी ने अवाञ्छनीय वैषम्य की जड़ काट दी है। वशिष्ठ के समान ब्राह्मण-सत्तम और निषादराज गुह के समान लिपट अनार्य का जब मेल हुआ है गोस्वामी जी के उस समय के उद्‌गार देखिये। केवट से जिस प्रकार वशिष्ठ और भरत आदि मिले हैं वह दृश्य देखिये। वानर भालु कहाने वाले जङ्गली जीवों की किस प्रकार इज्जत की गई है इसका खयाल कीजिए। तब विदित होगा कि गोस्वामी जी ने अपने "भक्त" में किस प्रकार "सन्त" और "ब्राह्मण" दोनों का सामञ्जस्य और सहयोग कराकर ब्राह्मणत्व के मस्तक से प्रथम लांछन का कलङ्क मिटा दिया है। गोस्वामीजी ब्राह्मणपूजक होते हुए भी हरिजन उत्थान के प्रबल समर्थक थे। उनके काकभुशुण्डी शूद्र योनि में भी हरमन्दिर तक पहुँच कर जप किया करते थे और मंत्र दीक्षित बन सकते थे[२]। उनकी शबरी मर्यादा पुरुषोत्तम

---

[१]स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवन कोल किरात।

राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥२४५-१८, १६

[२]तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भयेउ सूद्रतनु पाई।४८७-३,

..................एक बार हरमन्दिर जपत रहेउँ शिव नाम।४६२-२७

का भी आतिथ्य कर सकती थी। उनके "अस्पृश्य" अत्यंज को भी द्विजातिश्रेष्ठ लोग इस प्रेम से गाढ़ालिंगन करते थे मानो कोई जमीन मे बिखरते हुए स्नेह को समेट कर छाती से चिपका रहा हो[1]।

दूसरे लाछन के परिहार के लिये उन्होंने स्थल स्थलों पर ऐसे वाक्य कहे हैं जो ब्राह्मणों का अहंकार तोड़ने के लिये पर्याप्त हैं। "सोचिय बिप्र जो वेदविहीना। तजि निज धरम विषय लय लीना॥' (८३६-२५) "द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन" ४८७-१६ सरीखे वाक्य रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर पाये जा सकते हैं। फिर, यदि ब्राह्मण अत्याचारी हुआ—दुर्जन हुआ—तब तो वह निःसन्देह त्याज्य है, क्योंकि गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के दुर्जनों के त्याग की बात कही है और यह कहीं नहीं कहा है कि ब्राह्मण यदि दुर्जन और अत्याचारी हो तब भी पूज्य है। साथ ही "पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते।" (१६८-२२) और "जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पित भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।" (२४२-६,७) वाले नियम के अनुसार भक्तिहीन ब्राह्मण (स्मरण रहे कि लोकसेवा भक्ति का एक प्रधान अंग है) न केवल अपूज्य है वरन् भस्म हो जाने योग्य है।

लांछनों का परिहार अवश्य किया जाय परन्तु कुछ लोगों के ऐसे दोषों को देखकर ब्राह्मणमात्र के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करा दी जाय यह नितान्त अनुचित था। इसीलिये गोस्वामी जी ने पूर्वपरम्परा की रक्षा करते हुए ब्राह्मणों को मान दिया है[2]।

---

[1] रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥२६४-१५.

[2] महाभारत में लिखा है :—

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायता, ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः॥
(म० अ० ३४-३:

तीसरे प्रकार के सज्जन हैं अपने पूज्य कुटुम्बी और अपने इष्टमित्र। गोस्वामी जी कहते हैं :—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनमु जग जाय।

१९७-९, १०

उनका तो यहाँ तक कहना है कि पूज्य कुटुम्बियों के आदेशों से औचित्य और अनौचित्य पर तर्क करना ही एक पातक की बात है[1]। वे "मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी" (४०-७) का आदेश देते हुए "पितु आयसु सब धरम के टीका" (१९१-१६) तक कह देते हैं। परन्तु पूज्यत्व के सम्बन्ध के गोस्वामी जी की वह कसौटी न भूलनी चाहिये जो ब्राह्मणों के प्रकरण में ऊपर बताई गई है। इसी कसौटी पर कसकर कदाचित् मीराबाई को उन्होंने यह सिद्धान्त लिख भेजा था कि—

बृहद्धर्म पुराण में आया है :—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥

(उत्तरखंड २-४४)

मनुस्मृति में आया है :—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्।

मनु० ९-३१७

[1] गुरु पितु मातु स्वामी हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी।
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥

२३९-१, २

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी॥
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजवनितनि, भये सब मंगलकारी"॥
(आदि १७४वां पद)

गोस्वामी जी जानते थे कि युवक-मण्डली ही बहुधा क्रान्तिकारी विचारों वाली अथवा नई रोशनी वाली हुआ करती है जब कि उन्हें हिन्दू धर्म का संगठन अभीष्ट था तब पूर्वजों के प्रति श्रद्धा के भाव को दृढ़ करना भी आवश्यक था। यह श्रद्धा ऐसे ही पूर्वजों की ओर हो जो श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के अनुयायी हैं। इसीलिये गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में सामान्य और विशेष नियम दोनों बताकर युवकों को अनावश्यक क्रान्ति के बदले सच्चे समन्वयपूर्ण आर्यधर्म का मार्ग दिखा दिया।

इष्टमित्र ही बहुधा निर्हेतुक रूप से परोपकारी हुआ करते हैं इसलिये "श्रुति कह सन्त मित्र गन एहा" (३३१-६) कहते हुए गोस्वामी जी ने भगवान् के मुख से मित्रों का माहात्म्य सन्तों की बराबरी का दिखा दिया है।

अपने पूज्य सज्जनों की श्रेणी में अपने सद्गुरु का भी समावेश हो जाता है। गोस्वामी जी के मत में गुरु ही सर्वश्रेष्ठ सज्जन है क्योंकि उसके बिना कोई भी मनुष्य चाहे वह ब्रह्मा और शंकर के समान ही क्यों न हो भवसागर से पार नहीं हो सकता [1]। गोस्वामी जी का कहना है कि जो शिष्य के संशय, भ्रम, और शोक को हर सके वही सच्चा

---

[1] गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
४८५-७

गुरु है।[1] यह काम वही कर सकता है जिस में सदाचार, सद्विचार और सद्भाव पूरी मात्रा में विद्यमान हों। वह कृपा का समुद्र रहता है और उसे मनुष्य के रूप में साक्षात् ईश्वर ही समझना चाहिये। दूसरे सन्त तो जीवों को अपना सामान्य प्रभाव ही प्रदान करते हैं परन्तु गुरु अपनी विशेष शक्ति प्रदान करके शिष्य के कल्याण साधन का मार्ग विस्तृत करता है। इसलिये आचार्यों ने उसकी इतनी महिमा गाई है।

आजकल लोग "गुरु" पर भी बहुत व्यंगप्रहार करने लगे हैं। इसलिये इस विषय में भी कुछ अधिक स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। साधुमत में गुरुशब्द से अक्सर दीक्षागुरु का ही अर्थ लिया जाता है। लोकमत में मार्गप्रदर्शक नेता अथवा व्यवस्थापक को हम अक्सर गुरु कह दिया करते हैं। गुरु केवल जीवित व्यक्ति ही हो यह बात नहीं है। अतीतकाल के किसी सन्त, आचार्य या महापुरुष को गुरु मानकर कई लोगों ने अपना कल्याण साधन किया है। देवकोटि के किसी आराध्य को गुरु मानकर बहुतों ने सिद्धि प्राप्त की है। दत्तात्रेय के समान कई लोगों ने संसार की सामान्य वस्तुओं से भी उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरुरूप माना है। सब से बड़ा गुरु तो अपनी ही आत्मा है।

जिस प्रकार आयुर्वेद के ग्रन्थ पढ़ लेने मात्र से कोई अपना शारीरिक कष्ट दूर कर लेने में समर्थ नहीं हो जाता उसी प्रकार कल्याणमार्ग के ग्रन्थ पढ़ लेने मात्र से अथवा मंत्रमहोदधि सरीखे विशाल ग्रन्थों के पन्ने उलट लेने मात्र से कोई अपने मानसरोगों से मुक्ति नहीं पा जाता। यदि वह स्वतः प्रयत्नशील हुआ तो समझिये उसका आत्मा ही उसके लिये वैद्य अथवा गुरु का काम कर रही है। यदि स्वतः

---

[1] सद्गुरु मिले ते जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाय। ३३६-१४
हरइ सिस्यधन सोक न हरई सो गुरु घोर नरक महँ परई॥ ४८८-१
बन्दउँ गुरु पद कञ्ज कृपासिन्धु नररूप हरि। ३-११

का प्रयत्न पर्याप्त न हुआ, और अकसर स्वतः का प्रयत्न पर्याप्त होता भी नहीं है, तब तो वैद्य अथवा सद्गुरु की आवश्यकता रहती ही है। जिस प्रकार वैद्य रोग को पहिचानकर उसके उपयुक्त औषधि उपयुक्त मात्रा में उपयुक्त अनुपानों के साथ देता है और रोगी को अपने निरीक्षण में रखकर आरोग्य की प्रगति देखता हुआ रोगमुक्ति करा देता है उस प्रकार गुरु भी शिष्य की मानसिक स्थिति का पर्याप्त निरीक्षण करके उसके लिये उपयुक्त मन्त्र की, उपयुक्त साधना के साथ, व्यवस्था करता है और शिष्य की मानसिक प्रगति का निरीक्षण करता हुआ मानस रोगों से उसे मुक्ति दिला देता है। इतना ही नहीं वह शिष्य की क्रियाशक्ति में अपनी भी मनःशक्ति का योग देता है जिससे शिष्य का हृदय अनेक गुण अधिक बलवान होकर अपना कल्याणसाधन कर सकता है। इसीलिये गुरु की इतनी महिमा है।

जिस मनुष्य को जो मत्र सिद्ध हो गया वही उस मंत्र का गुरु अथवा ऋषि कहाता है। सिद्धमत्र ही शिष्यों के लिये विशेष लाभदायक है। ये मत्र यदि सिद्ध गुरु के द्वारा प्रदत्त होंगे तो निश्चय ही गुरु की सद्भावना, सदिच्छा और सत्प्रयत्न के कारण शिष्य उन्हें शीघ्र ही सिद्ध कर सकेगा। परन्तु सब मंत्र सब किसी को सिद्ध नही हो सकते। जो मत्र शरीरसम्पत्ति (कष्टसहिष्णुता आदि) मनःसम्पत्ति (निश्चय की दृढ़ता आदि) और हृदय की प्रवृत्ति (निर्गुण की ओर प्रवृत्ति, सगुण की ओर प्रवृत्ति, शिवविग्रह पर विशेष रुचि अथवा रामविग्रह पर विशेष रुचि आदि) के सर्वथा अनुकूल होगा वही सुगमता से सिद्ध हो सकेगा। इसीलिये शास्त्रों में लिखा है कि गुरु पहिले कम से कम एक साल तक तो शिष्य की स्थितिगति का निरीक्षण करता रहे फिर उसके ग्रह राशि नक्षत्र आदि तक का भी पूर्ण विचार करके उसे उपयुक्त मंत्र दे।

आजकल ऐसे ही लोग अकसर "गुरु" पद पर प्रतिष्ठित देखे जाते हैं जो शिष्यों का शोक हरने के बदले उनकी "दक्षिणा" हरने

की ओर ही रुचि रखते हैं। वे हर किसी का कान फूँकने के लिए हर वक्त तैयार रहते हैं। गोस्वामी जी ने ऐसे गुरुनामधारी जीवों को घोर नारकी कहा है[1]। जो घोर नारकी है वह निश्चय ही सर्वथा त्याज्य है। लोग ऐसे गुरुओं को भले ही त्याग दें परन्तु इनके कारण "गुरु" पद ही की तो अप्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इसलिये गोस्वामी जी ने गुरु की महिमा गाई है। हमने पहिले ही कह दिया है कि वे क्रान्ति के मार्ग से समाज का संस्कार अथवा उद्धार नहीं करना चाहते थे इसलिये रद्दी गुरुओं की अधिकता देखते हुए भी उन्होंने गुरुपद का तिरस्कार नहीं किया। हाँ, उन्होंने इतना अवश्य कर दिया है कि "राम" नाम सदृश महामंत्र प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रत्येक समय में सुलभ हो जावे। जब गोस्वामी जी के समान पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुष ऐसा महामंत्र दे रहे हैं तब फिर लोक में दीक्षागुरु ढूँढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? रामचरितमानस उन्हीं का जीवित रूप है। हम अपने जीवन की हर एक पहेली की सुलझन उसमें पा सकते हैं। साधना में कहीं भी संकट आते ही रामचरितमानस के पन्ने उलट कर देख लिये जावें। समाधान मिल जायगा और यही जान पड़ने लगेगा मानो गोस्वामी जी स्वतः गुरुरूप से उत्तर समझाकर शिष्य की हृदयग्रंथि का भेदन कर रहे हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अपने रामचरितमानस को भगवान् राम का ही शरीर बना छोड़ा है। "रामायण श्रीरामतनु" का कथन सर्वथा यथार्थ है। इसका आरम्भ उस दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि में तो हुआ ही है जिस दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि में भगवान् राम का जन्म हुआ था साथ ही इस वाङ्मय तनु ने कई साधकों के हृदयों के महामोहरूपी रावण को मारकर धर्मसंस्थापन का कार्य कर भी दिखाया है। तब भगवान् राम के इस वाङ्मय तनु से निःसृत महामन्त्र की दीक्षा जब गोस्वामी

---

[1] हरइ सिष्यधन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥४-८८-१

जी की कृपा से सर्वजनसुलभ हो गई है तब गुरु की खोज में इधर-उधर भटकना बेकार है। ढोंगी गुरु से बचने की ऐसी सुन्दर व्यवस्था सामने रखकर ही गोस्वामी जी ने सद्गुरु की महिमा में प्राचीनपरिपाटी का अनुसरण किया है।

गुरु पुकार कर नहीं कहता कि हम गुरु हैं हमसे कान फुँकाओ। सत्सङ्गी मनुष्य जिस सन्त से—जिस भक्त से—जिस ब्राह्मण से—जिस अतीत महापुरुष के वचनामृत से—जिस देव पुरुष के सिद्धान्तों से—परम शान्ति लाभ करता है, उसे गुरुरूप मे स्वीकार करने के लिये आप ही आप तैयार हो जाता है। ऐसे सज्जन के लिये उसकी श्रद्धा आप ही आप निर्बाध बढ़ चलती है। उसकी गुरुभक्ति ही उसके लिये ईश्वरभक्ति का प्रधान साधन बन जाती है। ऐसी साधना के लिये यह आवश्यक है कि वह गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर ही न समझे। "गुरु देव परब्रह्म" का तत्त्व ही उसे परम फलदायक बन सकता है। इतना ही नही, कई साधकों ने तो गोविन्द से भी ऊँचा दर्जा सद्गुरु को दिया है।[1] गुरु की इतनी ऊँची महिमा को समझने वाले अनेक सज्जन इसीलिये किसी मनुष्य को अपना गुरु मानने से बहुत हिचका करते हैं। उनके मत में सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा और कोई गुरुपदवाची हो ही नहीं सकता।[2]

अपने ही को अपना गुरु मानना है तो आसान परन्तु संकीर्ण बुद्धि वाले सामान्य जीव के लिये यह सिद्धान्त खतरे से ख़ाली नही है क्योंकि एक तो सद्विवेक द्वारा अपने ही भीतर से बोधमय सिद्धान्त प्राप्त करने की ओर उसकी प्रेरणा ही प्रबल नहीं रहती और यदि रही भी तो यह

---

[1] गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पायँ।
बलिहारी उन गुरू की (जिन) गोविन्द दिया बताय॥ कबीर

[2] धर्मपथ—प्रभु बड़े या गुरु—पृष्ठ ४४

निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि जो सिद्धान्त उसने निकाले हैं अथवा जो रास्ता उसने पकड़ा है वह वास्तव में निर्भ्रान्त है मनुष्य अपनी गलतियाँ मुश्किल से पकड़ पाता है। इसीलिये अपने से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति ही बहुधा गुरु बनाया जाता है। यदि वह व्यक्ति जीवित हो तो उसकी मनुष्यता के कारण उससे प्रमाद हो जाना भी सम्भव ही रहा करता है। यदि प्रमोद न भी हो तो शिष्य की दृष्टि म वह प्रमाद जान भी पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में शिष्य का "द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध की द्वैत कि बिनु अज्ञान" (४६६-२१) सरीखी श्रद्धाविघातक बातें सोचना स्वाभाविक है। अतीत के महापुरुष के विषय में यह बात बहुत कम हो सकती है क्योंकि वे लोग अपने प्रमाद तो अपने साथ ही ले जाते हैं केवल अपने सत्सिद्धान्त ही हम लोगों के लिये छोड़ जाते हैं। इसीलिये सच्चे साधुमत और लोकमत दोनों सिद्धान्त वालों ने जमाना देखते हुए जीवित मनुष्यों के प्रति गुरुभाव की पूर्ण आस्था रखने में बहुत कम आग्रह दिखाया है।

यद्यपि कसौटी पर खरा उतरने वाला गुरु इस संसार में दुर्लभ है तथापि पदप्रदर्शक लोगों की अब भी कमी नहीं है। उन्हें ही सापेक्ष दृष्टि से (अंश रूप से) हम गुरु मानकर अपनी साधना में अग्रसर हो सकते हैं। यदि हम ऐसा कोई भी व्यक्ति अपने सामने न रखेंगे और "मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा" (४८७-१६) वाले कलियुगी न्याय से 'गुरु' शब्द से ही चिढ़कर ऐसे सभी व्यक्तियों की पूज्यता पर कुठाराघात करने लगेंगे तो न तो हम साधुमत के ही साधक बन सकेंगे न लोकमत के ही। विशिष्ट सज्जनों की बात अलग है परन्तु सामान्य लोगों के लिये तो पथप्रदर्शक की आकांक्षा रखना और उसके प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। राष्ट्रीय नेताओं की पूजा गुरुपूजा का ही एक सामान्य रूप है।

चौथे प्रकार के सज्जन हैं भक्त लोग। वास्तव में इन्हें तो सज्जनों

का पर्याय ही समझना चाहिये क्योंकि भक्तों की कोटि के भीतर ही प्रथम तीनों प्रकार के सज्जनों का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्तों की महिमा में तो जो कुछ कहा जाय थोड़ा ही है। "राम तें अधिक राम कर दासा" वाली बात वास्तव में भक्तों ही के लिये है। गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर भक्तों की महिमा गाई और भक्तों के लक्षण बताए हैं। भक्तों के जिन विशिष्ट गुणों का गोस्वामी जी ने दो स्थलों में उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं:—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरसु सोकु भय नहि मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे ॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विजपद प्रेम ॥३६५-४से१२

इस प्रकरण में प्रथम दो पंक्तियाँ निकृष्ट अथवा कर्ममार्गी भक्त के लिये, बाद की चार पंक्तियाँ मध्यम अथवा ज्ञानमार्गी भक्त के लिये और अन्त का दोहा उत्तम अथवा उपासनामार्गी भक्त के लिये है।[1] इन पंक्तियों में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे हैं:—(१) निश्छल शरणागति (२) सर्वात्मा की ओर अनुराग (ममतात्याग) (३) समदर्शिता (४) निरीहता (५) निर्द्वन्द्वावस्था (६) सगुणोपासना पर रुचि (७) परहितव्रत (८) धर्मनीति में स्थैर्य और (९) ब्राह्मणभक्ति।

---

[1] देखिये "मानस पीयूष" सुन्दरकाण्ड पृष्ठ ३९९

वयरु न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ विग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहि सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानन्द सन्दोह॥ ४६३-२७
४६४-१ से ५

इस प्रकरण में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे हैं :—(१) निर्वैरत्व (२) आशाहीनता (निराशिता) (३) अभयत्व (४) अनारम्भता (कार्यारम्भ में अहङ्कारहीनता) (५) अनिकेतना (संसार की बस्ती में अपनी आसक्ति न रखना) (६) अमानिता (७) अनघता (८) अरोषता (९) दक्षता (१०) विज्ञान (अनुभवपूर्णता) (११) सत्सङ्ग (१२) परम वैराग्य (१३) भक्तिपथ पर एकान्तनिष्ठा (१४) सरलता (१५) अदुराग्रह (१६) जप कीर्तन प्रेम और (१७) निर्विकारिता[1]।

---

[1] इन दोनों प्रकरणों में गीता के अनेक श्लोकों का सार आ गया है। उदाहरण के लिये कुछ श्लोक दे दिये—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ गीता ९। ३०
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत॥ गीता १८। ६२
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ गीता १२। १५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गीता १२। १६
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥ गीता १२। १९

इन गुणों के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने चौदह प्रकार के भक्तों की चर्चा में (यह चर्चा वाल्मीकि जी ने श्री रामचन्द्र जी को निवास योग्य भवन बताते समय की थी) कुछ और गुणों का भी उल्लेख किया है।

यह नहीं कहा जा सकता कि भक्तों में इतने ही गुण रहते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये सब गुण एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि संतों के जिन गुणों का पहिले उल्लेख हो चुका है उनसे ये गुण किसी प्रकार पृथक् हैं। हम तो समझते हैं कि जिस प्रकार सन्तों के अनन्त लक्षण मानते हुए भी गोस्वामी जी ने बानगी के तौर पर कुछ लक्षण लिख दिये हैं उसी प्रकार उन्होंने भक्तों के विषय में भी किया है। उनके दिये हुये लक्षणों पर विचार करने से (१) विवेक (२) वैराग्य (३) भगवत्प्रेम और (४) परोपकार ही वे प्रधान लक्षण जान पड़ते हैं जिनके भीतर शेष सब लक्षणों और गुणों का समावेश हो जाता है।

रामचरितमानस में भगवान् और उनके भक्तों की चर्चा तो है ही। इसलिये भक्तों के विषय में हमें स्थल स्थल पर इस ग्रन्थरत्न में बड़ी सुन्दर सूक्तियाँ मिल सकती हैं। क्या उनकी नम्रता और प्रतीति क्या उनकी अनन्यता, क्या उनकी भगवद् विषयक आसक्ति, क्या उनका त्याग और क्या जगद्बन्धुत्व, क्या उनकी शक्ति—जिस विषय में देखिये उसी विषय में सुन्दर वाक्य मिल जावेंगे। उनके सेव्यसेवक भाव से सम्बन्ध रखने वाली जिन प्रधान भावनाओं का विस्तृत उल्लेख गोस्वामी जी ने अपने मानस में किया है वे इस प्रकार हैं—

(१) भक्त के मन में निर्गुण की अपेक्षा सगुण (मूर्तिमान परमात्मा) की ओर विशेष रति रहती है।

(२) आराध्य को सुखी देखना ही भक्त की एकमात्र इच्छा रहती है।

(३) जो वस्तु आराध्य के काम आई वह धन्य है और जो आराध्य के काम न आई वह व्यर्थ है।

(४) आराध्य के दर्शन पाकर ही भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। सान्निध्य बना रहा तब तो कहना ही क्या। और यदि वह दर्शनप्रद सान्निध्य अन्तकाल के समय भी बना रहे तब तो फिर उस आनन्द की बात ही न पूछिये।

(५) यदि आराध्य के चरणकमल, वरदहस्त, प्रेमपूर्ण भाव आदि मिल गये तब तो फिर समझिये कि कृतकृत्यता ही हो गई।

(६) वे भेदभक्ति के आनन्द के लिये अविनाशी जीव बना रहना ही पसन्द करते हैं और इसीलिये मुक्ति की इच्छा नहीं करते।

(७) वे भक्ति के आनन्द के लिये ही भक्ति करते हैं। यदि वे "भवभीर' भजन कराना चाहते हैं तो केवल इसीलिये कि अविद्या के विनाश के अनन्तर उन्हें भक्ति का निर्बाध आनन्द मिलेगा। सन्तों से अथवा परमात्मा से वे इसके अतिरिक्त और कोई याचना ही नहीं करते।

इन विषयों पर गोस्वामी जी ने इतना अधिक लिखा है कि सामान्य पाठक भी सरलतापूर्वक इस सम्बन्ध की पंक्तियाँ खोज सकते हैं। प्रमाण के लिये उनमें से कुछ पंक्तियाँ भी देना निबन्ध को अनावश्यक कलेवर वृद्धि करना ही होगा।

इस परिच्छेद में हमने पहिले त्रिविध जीवों का दिग्दर्शन कराया फिर दुर्जन और सज्जनों की चर्चा की। अब अन्त में अन्य कुछ जीवों की चर्चा करके हम यह प्रसङ्ग समाप्त करते हैं।

भारतीय विचारपद्धति के अनुसार गोस्वामी जी जीवों का अस्तित्व केवल मनुष्ययोनि ही में नहीं वरन् वानर, भालू, गिद्ध, काक आदि पशुपक्षियों और कीट पतंगों तक में मानते थे। जीवों का एक योनि से

दूसरी योनि में संक्रमण भी उन्हें मान्य था[1]। वे जीवों को शरीर से भिन्न और शरीर की दृष्टि से अविनाशी मानते थे[2]। मनुष्य की मृत्यु के बाद भी उसके जीव का अस्तित्व उन्हें मान्य था[3]। देवयोनियों पर भी उन्हें पूर्ण विश्वास था और देवताओं को भी वे जीवकोटि में रखना पसन्द करते थे[4]।

इन्द्रादि देवताओं को यद्यपि "विषयी" मानकर उन्होंने बहुत फटकार बताई है और उनके प्रधान कार्यों में केवल दुन्दुभी बजाने और फूल बरसाने का ही स्थल स्थल पर उल्लेख किया है तथापि गोस्वामी जी ने कुछ स्थानों पर उनके प्रशस्त कार्यों की भी चर्चा की है। राम के लिये पर्णकुटी और रुचिर गिरि गुहाएँ बना देना, उनके आरोहण के लिये दिव्यरथ भेज देना आदि ऐसे ही कार्य हैं। भरत के सम्बन्ध में लक्ष्मण जी ने जो कटूक्ति कही थी उसके लिये उन्हें चेतावनी देकर सुरों ने अपने गौरव की बहुत कुछ रक्षा कर ली है। गोस्वामी जी ने राम लक्ष्मण सीता को इन्द्र, जयन्त और शची से, मदन मधु

---

[1]आकर चार लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करमु सुभाव गुन घेरा॥
४६३-६, ७

[2]छिति जल पावक गगन समीरा। पचरचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।
३३७ १७, १८

[3]देखिये लंकाविजय के बाद दशरथ का आगमन।

[4]विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी॥ ३७३-२१
देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिशाच भूत बेताला॥४३-२३
इनकी दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥४४-१
इस देवता परम अधिकारी। स्वारथ बस तव भगति बिसारी॥४३१-२१

और रति से तथा विधु, बुध और रोहिणी से तुलना करके इन देवों को आदरणीय ही बना दिया है। राम बनवास के प्रकरण में भी इनके मुख से सुन्दर तर्क की चर्चा करके गोस्वामी जी ने एक प्रकार से इनकी सम्मानरक्षा ही की है। फिर भी मानना ही होगा कि इन देवों के प्रति गोस्वामी जी की कुछ विशेष श्रद्धा नहीं थी।

त्रिदेवों और पञ्चदेवों के सम्बन्ध में अश्रद्धासूचक एक शब्द भी गोस्वामी जी के मुख से नहीं निकला है। उन्होंने इन देवों का न केवल उल्लेख ही किया है[1] वरन् उनकी वन्दना भी की है और उन्हें सम्मान्य समानता ही प्रदान की है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार यद्यपि ब्रह्मा जी पितामह हैं शिव जी पिता हैं और गणेश जी पुत्र हैं तथापि शिव-विवाह के समय ब्रह्मा जी कहते हैं :—

"कह विधि तुम्ह प्रभु अन्तरजामी। तदपि भगति बस विनवउँ स्वामी॥
सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर असित उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार विवाहु॥" ४५-२२ से २६

और स्वत. शंकर जी के सम्बन्ध में कहा गया है :—

"सुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि सुर अनादि जिय जानि॥" ५२-६,१०

वैष्णव ग्रन्थों में चतुर्व्यूह और पंचायतन की भी पर्याप्त चर्चा है। रामावतार में भी चतुर्व्यूह और पंचायतन विद्यमान हैं परन्तु गोस्वामी

---

[1] देखिये पृष्ठ ३ पंक्ति ५ से १०, पृष्ट ५२ पंक्ति ७, ८ तथा निम्न उद्धरण—

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥
रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी॥
२७५-२३, २४

जी ने चतुर्व्यूहत्व अथवा पञ्चायतनत्व को कहीं स्पष्ट नहीं किया। उन्होंने अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर लक्ष्मण जी को तो स्पष्ट ही शेषावतार लिखा है। भरत और शत्रुघ्न किसी भी देवता के अवतार नहीं बताये गये। भगवान् ने "अंशन्ह सहित मनुज अवतारा, लैहौं दिनकर बंश उदारा" कहकर उन्हें भी अपना अंश बताया है अवश्य, परन्तु यों तो "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" के सिद्धान्तानुसार सभी जीव उनके अंश हैं[1]।

त्रिदेव, पंचदेव, चतुर्व्यूह और पंचायतन से व्यक्तियों पर यदि भली भाँति विचार किया जाय तो विदित होगा कि सूर्य गणेश और शत्रुघ्न जी की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं के बराबर है। राम से व्यतिरिक्त विष्णु का एक तो बहुत कम उल्लेख है और यदि कहीं है भी तो उनका कोई विशेष महिमा नहीं। सतीमोह और विधिविधान की विचित्रता तथा गुणदोषमयता की चर्चा करके गोस्वामी जी ने उन दोनों को भी कोई विशेष प्रधान्य नहीं दिया है। लक्ष्मण जी को शेषावतार मानते हुए भी और विशेष महत्त्व देते हुए भी सर्वेश नहीं कहा है[2]।

[1] श्री जयरामदास जी दीन ने "श्रीरामचरितमानस में रामावतार" शीर्षक लेख लिखकर (देखिए कल्याण भाग ११ संख्या ७ पृष्ठ १५६१) यह दिखाने की चेष्टा की है कि भरत जी विष्णु के अवतार, लक्ष्मण जी शिव के अवतार, और शत्रुघ्न जी ब्रह्मा के अवतार थे तथा विशेष प्रयोजन के कारण भगवान् ने अपने इन त्रिदेवरूपी अंशों का अवतार कराया था। हमें तो यह चेष्टा कष्ट-कल्पना ही जान पड़ी।

[2] लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥
३१३-२५

सो माया रघुबीरहिं बांची। लछिमनु कपिन्ह सो मानी साँची॥
४१३-२१

अब रहे भगवान् रामचन्द्र, भगवती सीतादेवी; भगवान् शंकर और महात्मा भरत। इन चारों का चरित्र परम उज्ज्वल और एकदम निर्दोष चित्रित किया गया है[1]। इतना ही नहीं गोस्वामी जी ने इन चारों में अभेद भी बताया है। भगवान् के साथ सीता जी के अभेद के सम्बन्ध में "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" (१४-१९) का उद्धरण ही पर्याप्त है। भगवान् के साथ भरत के अभेद के सम्बन्ध में देवगुरु बृहस्पति ने ठीक ही कहा है कि "मन थिर करहु देव डरु नाहीं। भरतहिं जानि राम परछाहीं" (२७३-७)। भगवान् के साथ शंकर जी के अभेद के सम्बन्ध में तो अनेकानेक उक्तियाँ हैं। रुद्राष्टक (४९३-४ से २३) में तो यह विषय स्पष्ट ही है। सप्तर्षियों के पार्वती के प्रति इस कथन में कि "तुम्ह माया भगवान् शिव सकल जगत पितु मातु" (४१-७) यही बात ध्वनित हो रही है। "जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी" (३५-३) आदि वाक्य भी इसी अभेद की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।

महात्मा नाभादास जी ने एक स्थल पर लिखा है कि "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक"। हमारी समझ में गोस्वामी जी ने भी इसी सिद्धान्त के अनुसार राम सीता भरत और शंकर को "चतुर नाम बपु एक" बता दिया है। सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो भक्ति

कहु राम, लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥

४१८-१,२

[1] लक्ष्मण जी को मर्मवचन बोलने वाली सीता छायासीता थीं न कि प्रकृत सीता। फिर पूर्वापर प्रसङ्ग देखते हुये कहना ही पड़ेगा कि यह मर्मवचन बोलना भी हरिइच्छा के कारण एकदम आवश्यक और सर्वथा समुचित था।

के साथ सीता जी का, भक्त के साथ भरत जी का और गुरु के साथ शङ्कर जी का तादात्म्य भी खूब जमकर बैठता है।

शङ्कर जी के सम्बन्ध के कुछ वाक्य देखिए —

इच्छित फल बिनु शिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे॥
३७-१४

शिव पद कमल जिनहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहु न सुहाहीं॥
५४-६

जेहि पर कृपा न करहि पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
६८-५

शिव सेवा के फल सुत सोई। अविरल भगति रामपद होई॥
४९९-७

अब गुरु के सम्बन्ध के निम्न वाक्यों से उन्हें मिलाइये :—

गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥
४१-२०

जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं॥
१७१-६

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
४८५-५

फिर इस बात का विचार कीजिये कि रामनाम रूपी महामन्त्र के आदि गुरु भगवान् शङ्कर ही हैं और रामकथामृत का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम उन्हीं से हुआ है इन वाक्यों के साथ गोस्वामी जी की इन वन्दनाओं पर भी विचार कीजिये :—

"गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी" ॥१२-१३

तथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते" ॥ (१-५,६)

तब स्पष्ट हो जायगा कि गोस्वामी जी ने किस प्रकार गुरु और शङ्कर का तादात्म्य दिखाया है।

भरत जी के सम्बन्ध की तो अनेकानेक पंक्तियाँ दर्शनीय हैं। उदाहरण के लिये हम यहाँ कुछ पंक्तियाँ दे देना ही पर्याप्त समझते हैं:—

तात भरत तुम सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥ २४९-२३
तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥ २५१-२०
भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥ २५४-२५
भगतसिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल—२५५-१०
जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥
२६०-१५

होत न भूतल भाउ भरत को अचर सचर चर अचर करत को॥
प्रेमु अमिय मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटे सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥२६२-१८ से २० तक
अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
२६३-२०

कहउँ सुभाउ सत्य शिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥२७०-१०
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम पद होत न रत को॥
२८७-१४

सुमिरत भरतहिं प्रेमु राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥
२८७-१५

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरमसारु जग होइहि सोई॥२९५-२
सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥३९६-६-७
भरत चरित करि नेमु, तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥ २९६-१०, ११

आदर्श भक्त के विषय में इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है।

अध्यात्म-रामायण आदि ग्रन्थों के आधार पर यद्यपि सीता जी आदिशक्ति मूलप्रकृति महामाया की अवतार मानी गई हैं और अन्य पुराणों के मतानुसार वे "रमा" भी कही गई हैं तथापि गोस्वामी जी की वाक्यावली पर विचार करने से वे निःसंकोच भक्ति का प्रत्यक्ष रूप भी कही जा सकती हैं। काकभुशुण्डि जी ने एक स्थल पर कहा है—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापहिं तेहिं विद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहंगवर॥
४८८-६,७

सो भेद भक्ति (जो भक्तों के लिये परम वांछनीय भक्ति है) के लिये तो विद्यामाया की आवश्यकता होती ही है। इस दृष्टि से माया (विद्या-माया) और भक्ति कोई विरुद्ध शक्तियाँ नहीं हैं। परन्तु सामान्यतः माया से अविद्या-माया की ओर ही विशेष ध्यान जाता है। इसलिये गोस्वामी जी ने भी माया और भक्ति का अलग अलग वर्णन करते हुए माया को "नर्त्तकी" (भगवान् की खेलनी) और भक्ति को "प्रियतमा" (भगवान् की ब्याही) कहा है।[1] भक्ति के इस विशेषण के अनुसार सीता जी को "अतिसय प्रिय करुना निधान की" (१४-७) बताते हुए गोस्वामी जी ने स्पष्ट ही उन्हें भक्ति का प्रतिरूप माना है। फिर ग्रन्थारम्भ में सीता जी की वन्दना करते हुए वे उन्हें न केवल "उद्भव-स्थितिसंहारकारिणी" कहकर विद्यामाया का ही अवतार बताते हैं वरन् "क्लेशहारिणी" "सर्वश्रेयस्करी" और "रामवल्लभा" कहकर साफ

---

[1]पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्त्तकी बिचारी॥
भगतिहिं सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥
४९९-२६,२७

शब्दों में भक्ति का प्रतिरूप भी कह देते हैं।[1] सीता जी भगवान् की परमशक्ति हैं क्योंकि भगवान् "परम शक्ति समेत अवतरिहउँ" (८९-६) कहा है। इसलिये यदि इनमें मूर्तिमन्त भक्तितत्त्व नहीं है तो फिर ये परमशक्ति कैसी! गोस्वामी जी ने इसीलिये उन्हें यदि कहीं 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी' (६०३-३) कहा है तो कहीं "ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चितानन्दु" (२६३-५) तथा "भगति ग्यान बैराग जनु सोहत धरे शरीर" (२९४-६) कह कर भक्ति से भी उपमित कर दिया है। भक्ति वैराग्यशील सज्जनों के हृदय में उत्पन्न होती है और भगवान् को ओर अर्पित की जाती है। सीता जी भी विदेहराज की अयोनिजा आत्मजा थीं और भगवान् के साथ ब्याही गई थीं। भगवान् ही भक्ति के प्रकृत अधिकारी हैं; यदि कोई मनुष्य अहंकारवश अपने ही को भक्ति का अधिकारी मानकर लोकपूज्यता के आसन पर, भगवान् को हटाकर स्वयं बैठना चाहेगा तो वह अपने प्रयत्न में उसी प्रकार अकृतकार्य होगा जैसा रावण हुआ था। इस प्रकार सीता जी का सम्पूर्ण चरित भी भक्ति का कलापूर्ण चरित बन जाता है। फिर सीता जी की रामपदाब्जसेवा की ओर उनके साहचर्य की ओर, उनकी दिनचर्या की ओर दृष्टि डालिये तो हर कहीं भक्ति का ही रूप प्रस्फुटित होता हुआ पाया जायगा। इस तरह सीता और भक्ति की एकात्मता स्थापित हो जाती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर रामचरितमानस में सीताचरित, भरतचरित और शङ्करचरित भी साधकों के लिये बड़े महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। उनका परायण करना मानो भगवच्चरित्र का परायण करना ही है। विशेषकर भरतचरित तो साधक भक्तों के लिये अमूल्य

---

[1] उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ २-३, ४

सम्पत्ति है। ये तीनों महानुभाव भगवान् से अभिन्न हैं परन्तु फिर भी भगवान की लीला में इनका प्रत्यक्ष भेद देखा और माना जाता है। इसलिये हमने भी इन्हें जीवकोटि में ही रखा है।

गोस्वामी जी की इन जीवकोटियों पर विचार करने से विदित होगा कि जहाँ एक ओर उन्होंने साधुमत (आत्मकल्याण) की प्रथा के अनुसार व्यक्ति के कल्याण साधन पर पूरा विचार रखते हुए विषयी, साधक, सिद्ध आदि जीवों की चर्चा की और सत्सग का महत्त्व बताया है वहाँ दूसरी ओर लोकमत (राष्ट्रकल्याण) की प्रथा के अनुसार पूरे हिन्दू समाज के कल्याणसाधन पर पूरा विचार रखते हुए सन्तों, ब्राह्मणों, गुरुजनों (गुरु तथा पूज्य कुटुम्बियों) और भक्तों के सगठन की चर्चा करके (रामराज्य के प्रकरण मे) अपनी यही कामना प्रकट की है कि :—

"सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधरमनिरत श्रुतिनीती॥"
४५३-१५

———

चतुर्थ परिच्छेद

तुलसी के राम

परम अनुराग जब ईश्वर की ओर हो तभी वह भक्ति कहाता है। ईश्वर के तो अनेक नाम हैं। अल्लाह, खुदा, गाड, आलमाइटी तथागत आदि नामों को छोड़कर विशुद्ध सनातनी हिन्दू धर्म को नाम सूची में भी उस "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" के हजारों नाम मिल जावेंगे। भक्तों ने नाम के साथ रूप का संयोग देखा और इस प्रकार एक ही ईश्वर विष्णुरूपधारी, शिवरूपधारी, शक्तिरूपधारी आदि बन गया। किसी भक्त ने अपनी भावना के अनुसार शंकर को इष्टदेव माना, किसी ने दुर्गा को किसी ने गणेश को, और किसी ने कृष्ण को। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रघुवीर रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव माना है[1]। आराधना के लिए इस प्रकार का एक इष्टदेव चुन लेना वाञ्छनीय है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि वह इष्टदेव ईश्वर (परब्रह्म परमात्मा) का ही प्रतिरूप माना जाय, क्षुद्रदेव का नहीं; अन्यथा आराधक का परम अनुराग भक्ति न कहावेगा।

गोस्वामी जी ने अपने इष्टदेव की ईश्वरता पर बहुत जोर देकर लिखा है। एक तो उस समय रामभक्ति का प्रचार ही बहुत कम था

---

[1] जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥

२९-२२-२३

और दूसरे यदि था भी तो लोग अकसर कृष्ण के आगे राम को न्यूनपद ही प्रदान किया करते थे। श्रीमद्भागवत आदि लोकमान्य ग्रन्थों के आधार पर वे श्रीकृष्णचन्द्र जी को पूर्णावतार और श्रीरामचन्द्र जी को अंशावतार ही कहा करते थे[1]। कई कारणों से गोस्वामी जी का उद्देश्य था कि भारतवर्ष में रामभक्ति का प्रचार विशेष रूप से हो और रामचन्द्र जी ही अधिक से अधिक लोगों के इष्टदेव बन जायँ। इसलिए रामचन्द्र जी की पूर्ण ईश्वरता पर जोर देना गोस्वामी जी के लिए आवश्यक ही था[2]।

जिस तरह व्यासदेव ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" से अपने ब्रह्मसूत्रों की रचना प्रारम्भ की है उसी प्रकार गोस्वामी जी ने "अथातो रामजिज्ञासा" से अपने वर्ण्य विषय की रचना प्रारम्भ की है। "राम कवन मैं पूछहुँ तोही। कहहु बुझाय कृपानिधि मोही।" (२७-१८) ही इस ग्रन्थ का मूल प्रश्न है। राम के प्रभुत्व का प्रतिपादन ही इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप, इस ग्रन्थ में अन्तर्गत है। "जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥ (४७०-४)

गोस्वामी तुलसीदास जी के राम न केवल ब्रह्म हैं (निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण अशरीरी परमात्मा हैं) न केवल महाविष्णु हैं (सगुण शरीरी परमात्मा हैं) न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम हैं (आदर्श मनुष्य हैं) वरन् तीनों के सामञ्जस्य से पूर्ण परम आराध्य हैं। हम उनके ब्रह्मत्व, उनके महाविष्णुत्व और उनके मर्यादापुरुषोत्तमत्व का अलग

---

[1] एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भागवत)

[2] न तो गोस्वामी जी ने रामचरित को अपना वर्ण्य विषय चुनने में कोई गलती ही की और न राम के ईश्वरत्व प्रदर्शन की ओर उनका कोई शौक ही था। उन्होंने जो कुछ लिखा है सोच समझकर लिखा है। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं की सम्मति हमें ग्राह्य नहीं जचती।

अलग विवेचन करके एक आराध्य के इस त्रैविध्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है, इस विषय को गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर प्रकट किया है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥ (१०-२०)
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥ ७२-११,१२
- व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप ॥९७-५

आदि अनेकानेक प्रमाण इस ग्रन्थ में मिल सकते हैं। इस निर्गुण ब्रह्म से उन्होंने अपने आराध्य राम का भली भाँति तादात्म्य बताया है। देखिये—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥
२०६-९,१०

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥
२१९-१५, १६

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज विग्यान रूप बल धामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। समदरसी, अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
४७५-३ से ७

गोस्वामी जी ब्रह्म की निर्गुन अवस्था को सगुण अवस्था से भिन्न समझते हैं। इसलिये कहते हैं—

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥ ३३६-६

इस निर्गुन ब्रह्म का न तो कोई नाम ही हो सकता है और न रूप ही[1]। जब इसमें कोई गुण ही नहीं तब यह किस प्रकार समझा समझाया जाय! गोस्वामी जी कहते हैं कि जो आदमी सगुण का सहारा लिये बिना निर्गुण की चर्चा कर सके, हम उस मनुष्य के दास बनने के लिये तैयार हैं।[2] ऐसी चर्चा संभव ही नहीं। इसीलिये अलख के लिखनेवालों को गोस्वामी जी ने करारी फटकार बताई है[3]। इन्हीं कारणों से "अनध्यस्त विवर्त"[4] का सहारा लेते हुए ऋषियों और आचार्यों ने ब्रह्म की सगुण अवस्था भी मानी है।

वही ब्रह्म निर्गुण भी है और वही सगुण भी। इसलिये स्थान-स्थान पर ब्रह्म का निर्गुण सगुण-भावात्मक वर्णन भी पाया जा सकता है। उपनिषद कहती है:—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
ईश, ८

गीता का कहना है:—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ गीता १३-१२

श्रीमद्भागवत की उक्ति है:—

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्।
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ भा० ७-९, ४८

गोस्वामी जी महाराज कहते हैं:—

---

[1] नाम रूप दुइ ईस उपाधी। १५-१०

[2] निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास ॥ दोहावली (५१)

[3] तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच ॥ दोहावली (१९)

[4] यह विषय आगे समझाया जायगा।

अनवद्य अखंड अगोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न सो।
इति वेद वदन्ति न दन्तकथा। रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा।।

४३२-१५. १६

सगुन अगुन गुनमन्दिर सुन्दर। भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर।।

४३४-२३

अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय।।
मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम वपु धरी।।

४३१-१६. १७

जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने।। ४४८-१९

निर्गुन सगुन विषम समरूपं ज्ञानगिरा गोतीतमरूपम्।। ३५-१३

जय भगवन्त अनन्त अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय।।
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमन्दिर सुन्दर अति नागर।।

४५९-३. ७

जय जय अविनासी सब घट बासी। व्यापक परमानन्दा।।
सर्व सचराचर सर्व उरालय। बसहि सदा हम कहुँ परिपालय।।

सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्टद्दशांगुलम् ॥

(देखिये ऋग्वेद का पुरुषसूक्त)

उपनिषदें कहती हैं :—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशःश्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ।

मुण्डक २-१. ४"

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

श्वेताश्वतर ३-३

गीता भी श्वेताश्वतर के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती है —

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखं ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥ गीता १३-१३

(श्वेताश्वतर ३-१६)

श्रीमद्भागवत का कहना है :—

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रि-मूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगोह्यादिवृक्षः ॥

भागवत १० पू०-२.२१

हमारे गोस्वामी जी महाराज भी कहते हैं :—

अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागमन भने ।
षट कंध साखा पञ्चबीस अनेक परन सुमन घने ॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥४४९-६ से १८

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

पद पाताल शीश अजधामा । अपर लोक अंग अंग बिस्रामा ॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
स्रवन दिसा दस-बेद बखानी । मारुत स्वास निगम निजु बानी ॥
अधर लोभ जमु दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
रोमराजि अष्टादस भारा । अस्थि सयल सरिता नस जारा ॥
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु की बहु कलपना ॥

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
अनुज बास चर अचरमय रूप राम-भगवान[1] ॥

३७९-२१ से २६, ३८०-१ से ६

ब्रह्म की इस निराकारता अथवा विश्वरूपता को भगवद् विग्रह के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक प्रधानता देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ गीता ७-२३

---

[1]कारपेण्टर साहेब ने अपने "थिओलाजी आफ तुलसीदास" में (देखिये पृष्ठ ९८-९९) इस विश्वरूप वर्णन को गोस्वामी जी के सिद्धान्त के प्रतिकूल बताया है। और लिखा है कि ठीक ही हुआ जो यह वर्णन एक अनार्य नारी मन्दोदरी के मुँह से कहाया गया है। यदि यही बात है तो वेदों ने उपर्युक्त संसार विटप का वर्णन कैसे किया? असल में यह विश्वरूपवर्णन गोस्वामी जी के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है जैसा उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा।

गोस्वामी जी इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

राम स्वरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ॥ २१९-१५,१६

सगुण का अर्थ होता है (हेय गुणों से रहित) कल्याण गुण-गणों का आकर। उस परमात्मा में अनन्त कल्याण गुणगण हैं परन्तु मानव समाज के लिये जो गुण विशेष उपयोगी और विशेष आकर्षक जान पड़े हैं उन्हीं की चर्चा आचार्यों और भक्तजनों ने की है। परमात्मा के कुछ कल्याणगुणों की चर्चा आगे आनेवाली है इसलिये राम के ब्रह्मत्व को यहीं स्थगित किया जाता है।

राम की दूसरी झाँकी है उसका महाविष्णुत्व। जो राम निराकार और सर्वदेशीय बताए गये हैं वे ही इस झाँकी मे साकार और एक-देशीय बन गये हैं। जो विश्वरूप कहे गये थे वे सुर रूप होकर भक्तों के सामने आ रहे हैं। जिनके अनन्त नाम थे, अनन्त रूप थे, अनन्त लीलाएँ थीं और अनन्त धाम थे उनके विशिष्ट नाम, विशिष्ट रूप, विशिष्ट लीलाएँ और विशिष्ट धाम की कथा चल पड़ती है।

परमात्मा सृजक भी हैं, पालक भी हैं; संहारक भी हैं; परन्तु आत्म-कल्याण और लोककल्याण की भावनाएँ रखनेवाला भक्त उनके पालक भाव की ओर ही विशेष रूप से आकृष्ट होता है। इस पालक तत्त्व का गोस्वामी जी ने कल्याणधाम शिव के रूप में नहीं वरन् जगद्भर्ता विष्णु के रूप में देखा था। इसीलिये उन्होंने अपने आराध्य राम का तादात्म्य विष्णु के साथ किया है। रामावतार के उपक्रम में ब्रह्मा और शंकर समेत अन्य देवगण विष्णुलोक (वैकुण्ठ और क्षीरसागर) ही की चर्चा कर रहे थे। और उन्होंने "सिंधु सुता प्रिय कन्ता" की ही स्तुति की थी। फिर, जहाँ रामचन्द्र जी के रूप का वर्णन आया है वहाँ हृदयस्थल पर पड़े हुए भृगुचरण के चिह्न की—उर 'श्रीवत्स' की—भी बराबर चर्चा की गई है। इतना ही नहीं, उनके "निज

आयुध भुज चार" का भी एक से अधिक स्थलों पर उल्लेख है। इसलिये वे अपनी इस दूसरी झाँकी में विष्णु से व्यतिरिक्त कोई अन्य देव नहीं हैं। परन्तु वैष्णव भाव वाले होते हुए भी राम परब्रह्म परमात्मा के पूर्णरूप होने के कारण अनेक कल्पों के करोड़ों विष्णुओं की शक्ति रखते थे—"विष्णु कोटि सम पालन करता" थे। इसलिये गोस्वामी जी ने त्रिदेवों तथा पञ्चदेवों में सम्मिलित करके विष्णु को न केवल राम का भक्त ही बताया है वरन् उनकी शक्ति के आगे इन्हें (विष्णु को) नीचा दिखाने में भी नहीं हिचके हैं।

गोस्वामी जी के राम देवाधिदेव हैं—महाविष्णु हैं—इसलिये निश्चय ही वे अद्वितीय होंगे। गोस्वामी जी कहते हैं :—

देखे सिव विधि विस्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। विविध वेष देखे सब देवा॥

× × ×

पूजहिं प्रभुहि देव बहु वेखा। राम रूप दूसर नहिं देखा॥
३१-५, ६ और ११

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
९५-१३ से १५

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिस्नु सिव मनु दिसि त्राता॥

× × ×

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
४७९-३ और ११, १२

जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायेउ परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥
५०९-२१, २२

भगवान् राम की यह देवाधिदेवता गोस्वामी जी ने अनेक प्रकार से प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। स्वतः जो कुछ कहा सो तो कहा ही। इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन तत्त्वों पर उनका प्रभाव प्रकट करके तथा सम्मान्य देवों द्वारा उनके महत्त्व को व्यक्त कराकर उन्होंने इसी विषय की पुष्टि की है।

जड़ तत्त्वों पर राम के प्रभाव की प्रक्रिया देखिये। विधि-गति को अथवा नैसर्गिक नियम को बदल देना सामान्यतः संभव नहीं रहा करता। परन्तु "गोसाईं" (प्रभु) तो वही है जो विधिगति को भी "छेंक" दे।[1] तब जब कि राम प्रभु हैं तो क्षिति जल नभ पावक पवन के नैसर्गिक नियमों में भी विपर्यय कर देना उनके लिये सामान्य बात होनी ही चाहिये। यही बताने के लिये गोस्वामी जी ने उनके कुछ अलौकिक कृत्यों का उल्लेख किया है। पत्थर की शिला को बात की बात में नारी तनु बना देना एक ऐसी बात है जो क्षिति तत्त्व पर राम की स्पष्ट विजय-घोषणा कर रही है। शरसंधान करते ही समुद्र के हृदय में ज्वाला उठने लगना एक ऐसी बात है जो जल तत्त्व पर भी राम की विजय बता रही है। अग्नि का सीतारूपी धरोहर अपने पास रखना और समय पर वापिस कर देना राम की अग्नितत्त्व पर विजय का साक्षी है। (लङ्का को जलाकर हनूमान् अछूते बच गये यह भी गोस्वामी जी के मतानुसार राम का ही प्रभाव था[2]।) लङ्कादहन के समय सब प्रकार के

---

[1] सोइ गोसाईं बिधिगति जेहि छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥

[2] ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरजा॥
२५६-१३

पवनों ने आकर हनूमान् की सहायता की थी। पवन तत्त्व ... ...
विजय वैजयन्ती का आन्दोलन करानेवाले गोस्वामी जी कहते हैं, "हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।" (३५६-५)। काकभुशुंडि के उपाख्यान में भी वे कहते हैं "बिहँसत तुरत गयेउँ मुख माहीं" (४७८-१८)। न तो हवा का झोंका पीछे से आया न बालक रूप राम ने ही किसी प्रकार की साँस खींची। फिर भी काकभुशुंडि महोदय भगवान् के मुँह में खिंचे चले आये। यह भगवान् राम की पवन तत्त्व पर विजय नहीं तो और क्या है? अब आकाश तत्त्व का हाल देखिये। महाकाश का समूचा विषय अखिल ब्रह्माण्ड का समग्र दृश्य, काकभुशुंडि को अपने उदराकाश में और कौशल्या माता को अपने ठोस शरीर ही में दिखा देनेवाले भगवान् रामचन्द्र क्या निश्चय ही आकाशतत्त्व पर पूर्ण विजय प्राप्त करनेवाले नहीं कहे जा सकते? इस तरह इन अलौकिक बातों का उल्लेख करके गोस्वामी जी ने अपने राम के प्रभुत्व का संस्थापन किया है।

जो भगवान् रामचन्द्र पञ्चतत्त्वों के नैसर्गिक नियमों में भी इस प्रकार के परिवर्तन कर सकते थे उनके लिये :—

देत चापु आपुहिं चढ़ि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥
(१३०-२०)

परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी॥ २८४-१
सरिता वन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहि बर बाटा॥
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया॥
३०३-४,५

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥
३७५-६

आदि बातें लिखना कोई आश्चर्यजनक नहीं।

जीवतत्त्व पर भी राम की विजय बताने के लिए गोस्वामी जी ने न केवल देवेन्द्र आदि बड़े-बड़े जीवों से उनकी स्तुति कराकर उनकी महत्ता स्थापित कराई है वरन् जीव के प्रति शरीर-भिन्नत्व धर्म का उच्छेद कराते हुए राम के विषय में वे लिखते हैं :—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन विसेखा ॥९५-११
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला ॥
४४४-२६,२७

राम भक्ति में निरत त्रिदेवों और पञ्चदेवों के सम्बन्ध की पंक्तियों का भी मुलाहिजा कर लिया जाय :—

ब्रह्मा—ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जाकरि तैं दासी सो अविनासी हमरउ तोर सहाई ॥
८७-१७ १८

विष्णु हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ॥
१४४-५

महेश—जय सच्चिदानन्द जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥
६९-८

गौरी—तब कर अस बिमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं
५६-१५

गणेश—महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥
१४-१६

सूर्यदेव—यह रहस्य काहू नहि जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना ॥
९३-३

सुराकार ईश्वर के विशिष्ट नाम, विशिष्ट रूप, विशिष्ट लीलाविलास और विशिष्ट धाम रहा करते हैं यह आचार्यों का मत है। विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ विशिष्ट नाम रूप लीलाधाम का संयोग अनिवार्य है।

दुर्ग का अधिपति महामोह अलंकार रूपी रावण जिस समय शान्ति अथवा आस्तिकता रूपिणी सीता को अपनी वशवर्तिनी बना लेना चाहता है उसी समय राम रावण युद्ध का सूत्रपात प्रारम्भ हो जाता है। साधक का हृदय राम रावण युद्ध—भगवान् और शैतान की लड़ाई का—भगवत् कृपा और अविद्या के संघर्ष का---समरक्षेत्र ही सा तो बना रहता है। मानो इसी चिरतन युद्ध की ओर लक्ष्य करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है:—

श्रीराम रावण समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कवि तेउ तदपि पार न पावहीं॥
ताके गुनगन कछु कहे जड़ मति तुलसीदास।
निज पौरुष अनुसार जिमि मसक उड़ाहि अकास॥

४१६ १ से ४

जहाँ एक ओर वे अभिमान चूर्ण करने में इतने पटु हैं वहाँ दूसरी ओर क्षमाशीलता में भी इस हद के हैं कि—

जेहि अघ बधेउ ब्याल जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥
ते भरतहिं भेटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान॥ १९-१ से ५

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयरुभाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रमत्यागी। नर मतिमन्द ते परम अभागी॥
३९४-१६ से १९

क्षमाशीलता की यह मात्रा किसी अन्य पक्षपात को लिए हुए नहीं है। सुग्रीव और विभीषण के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जो उपर्युक्त वाक्य कहे हैं उनके ठीक पहले वे कहते :—

रहित न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥
१८-२५

भगवान् भावग्रही हैं' कृत्यग्राही नहीं। बालि का भाव दुष्ट था इसलिये वह 'अघ'-लिप्त समझा जाकर मारा गया। सुग्रीव और विभीषण ने भी पीछे यद्यपि वही कुकृत्य ("कुचाली" "करतूति") किया परन्तु उनका भाव दूषित न था इसलिये वे सम्मान्य ही रहे।[1]

---

[1] अनार्यों मे रिवाज है कि कोई भी मनुष्य अपनी भौजाई को चूड़ी पहिनाकर अपनी स्त्री बना सकता है। आर्य लोगों की दृष्टि में यह 'कुचाल' ही है। परन्तु विभीषण और सुग्रीव ने अपने समाज की परम्परा के

भगवद्गीता का "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" (९-३७) भी इसी बात की घोषणा कर रहा है। जिसका भाव शुद्ध है वह सम्यग्व्यवसित है। उसका आचार निश्चयपूर्वक आप ही सुधर जायगा।

भगवान् के न्याय और दया का सामञ्जस्य दिखाने के लिये गोस्वामी जी ने बड़ी सुन्दर सूक्तियों का प्रयोग किया है। रोगी कुपथ्य माँगता है। परन्तु वैद्य उसे नहीं देता।[1] माँ खड़ी होकर अपने बच्चे का फोड़ा चिरवाती है और बच्चा कितना भी रोये फिर भी माँ अपने इस प्रयत्न से बाज नहीं आती[2]। संसार में केवल व्यष्टि ही व्यष्टि तो नहीं है। इसलिये ईश्वराभिमुख होने पर भी व्यक्ति का केवल वैसा ही कल्याण हो सकेगा जो समष्टि के कल्याण का किसी प्रकार से बाधक न हो। यही जगन्नियन्ता राम का न्याय है। इस न्याय में रोग

अनुसार इस तरह का सम्बन्ध अङ्गीकार कर लिया तो वह कोई भाव-दूषित क्रिया नहीं हुई। बालि ने जो कुछ किया वह अवश्य भावदूषित क्रिया थी क्योंकि एक तो छोटे भाई की स्त्री को चूड़ी पहिना कर अपनी स्त्री बना लेने की प्रथा अनार्यों में भी नहीं है दूसरे उसने बलपूर्वक सुग्रीव की नारी का हरण किया था।

[1] कुपथ माँगु रुज व्याकुल रोगी। वैद न देहि सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अन्तर हित प्रभु भयऊ॥
१६-१,

[2] जिमि सिसु तन व्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
व्याधिनास हित जननी गनत न सो सिसु पीर।
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि॥

का कोई स्थान नहीं। जो हाल न्याय का है वही दया का है। यदि न्याय में रोष का स्थान नहीं तो दया में पक्षपात का स्थान नहीं। जिस प्रकार अग्नि के सम्मुख पहुँचाया जाने पर हिम आप ही आप गल जाता है उसी प्रकार उनके अभिमुख होने पर जीव का "शोक, मोह भ्रम" आप ही आप नष्ट हो जाता है[1]। जिस प्रकार डामर से भरे हुए काँच में निकट की प्रत्यक्ष वस्तु का भी प्रतिबिम्ब भली भाँति आविर्भूत नहीं हो सकता उसी प्रकार अभक्त अथवा विषयी हृदय में भी ईश्वर का विषम विहार ही जान पड़ता है[2]। जो छलछन्द युक्त हैं - अभक्त हैं—वे भगवान् के सम्मुख हो ही नहीं सकते और जो उनके सम्मुख हो नहीं होते वे उनके प्रकाश से—उनके तेज से—उनकी कृपा से—लाभ ही कैसे उठा सकते हैं।[3] जो लोग भगवान् के न्याय और दया के इस रहस्य को समझ सकते हैं, वे ही तुलसीदास जी के सुराकार राम को समझने के सच्चे अधिकारी हैं।

---

[1]इस सम्बन्ध मे पार्वती जी की उक्ति देखी जावे :—

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेश की नाई॥
४६-१७, १८

[2]जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गनहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥
करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
तदपि करहि सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
२५५-३ से ५

[3]जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई।
निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥
३६३-२०, २१

सर्वसाधारण के हितार्थ अपने राम को परम आकर्षक सिद्ध करने के लिये ही गोस्वामी जी ने उनके परम औदार्य परम कारुण्य और परम शरण्यत्व की स्थल स्थल पर बड़ी सुन्दर चर्चा की है।

उनका परम औदार्य देखिये :—

अरिहु क अनभल कीन्ह न रामा। २४१-१०
मैं जानहुँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ २७१-१
देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥२७३-२१
क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनामु किये अपनाये॥
२८५-१५, १६
जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे अस विस्वास तजहु जनि भोरे॥
३२३-२४
जो सम्पति सिव रावनहि दीन्हि दिये दश माथ।
सोइ सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ ३६५-१५, १६
उनका परम कारुण्य देखिये :—
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय वार हिये की॥
१८-२५
मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥ ९४-२४
सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सोइ जरई॥
२५४-२२, २३
अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह। २६९-११
कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
३१९-१२
अति कोमल रघुवीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ।

मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीं । उर अपराध न एकउ धरिहीं ॥
३६८-२६, २७

उनका परम शरणगत्व देखिए :—

प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि
गये सरन प्रभु राखिहहि तव अपराध बिसारि ॥
३५४-२६, २७

मम पन सरनागत भयहारी । ३६३-१३
कोटि विप्र बध लागहि जाहू । आये सरन तजउँ नहि ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं । जनम कोटि अघ नासहि तबहीं ॥
जौं सभीत आवा सरनाई । रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥
३६३-२४

जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवइ सरन सभय तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
३६५-४, ५

गिरिजा रघुपति कै यह रीती । सन्तत करहिं प्रनत पर प्रीती ॥
३६४-१६

रामचन्द्र जी की लीलाओं में जहाँ कहीं गोस्वामी जी को इन परम सद्‌गुणों के पोषक प्रमाण मिले हैं वहीं उन्होंने इनकी चर्चा कर दी है।

महात्मा तुलसीदास जी ने अपने राम की लीलाओं के सम्बन्ध में उनके गुण कर्म स्वभाव का महात्म्य जी खोलकर कहा है। उनके गुण अनन्त हैं उनके कर्म अनन्त हैं और उनके स्वभाव का माधुर्य भी अनन्त है। वे भावग्राही हैं, भक्तवत्सलता से भरपूर हैं और "करुणा-निधान" तो उनकी खास 'बानि' है। उनका कोमल स्वभाव भक्तों के

सर्वथा अनुकूल है। उनके अनुग्रह की प्राप्ति के लिये जाति गुण रूप सम्पत्ति वयस् आदि की अपेक्षा नहीं; यहाँ तक कि मानवयोनि की भी अपेक्षा नहीं। दीन और सेवक तो इन्हें खास तौर से प्यारे हैं (क्योंकि वे ही आर्त्त होकर सच्चे हृदय से उन्हे पुकार सकते हैं)। उनके आनन्द सिंधु के एक सीकर से त्रैलोक्य "सुपासी" हो सकता है। उनके बल के लवलेश से त्रैलोक्य चराचर पर विजय प्राप्त हो सकती है। वे निरवधि हैं। उनकी कोई उपमा नहीं। राम के समान बस, राम ही हैं, यह बात, गोस्वामी जी के मत में, आगम निगम पुराण सभी से सिद्ध है[1]।

भगवान् राम ने जीवों पर करुणा करके स्वतः ही उन्हें अपनी भक्ति का उपदेश दिया है। वे कहते हैं :—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़नेम।
सदा सरबगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम॥

४५१-१५, १६

---

[1]राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित स्रुति गाये।
जथा अनन्त राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥

५८-१, १८

जो आनन्दसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी।
सो सुखधामराम अस नामा। अखिल लोकदायक बिस्रामा॥

६३-१७ १८

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि। ३५४-१४
निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।

४८४-१६ से २२

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम वचन धरम अनुसरेहू॥
४५३-६

ये केवल नराकार व्यक्तित्व की उपासना करने को नहीं कहते वरन् अपने निराकार और सुराकर भाव की ओर लक्ष्य करते हुए भक्ति का परम उपदेश दे रहे हैं। जो परमात्मा यह कह सकता है कि:—

कोटि विप्र वध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहि ताहू॥
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहि तबहीं॥
३६३-१७, १८

वही यह भी कह सकता है कि:—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सरबगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम॥
४५१-१५ १६

इसमे अनौचित्य का वहीं लेश भी नहीं। गोस्वामी जी के राम केवल नराकार मर्यादापुरुषोत्तम ही तो नहीं थे। इसलिये यदि गीता के भगवान् कृष्ण की तरह उन्होने भी आस्तिक्य भाव वाले अपने भक्तो के सम्मुख भक्ति का परम तत्व कह दिया तो कौन सा अनौचित्य हो गया।[1]

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने जो मानस चरित किये थे उनका आध्यात्मिक अर्थ निकाल कर वे सब सुराकार राम की लीलाओं मे

---

[1] इस सम्बन्ध में श्री श्याम सुन्दरदास तथा बड़थ्वाल महोदय ने जो विचार अपने "गोस्वामी तुलसीदास" नामक ग्रन्थ में प्रकट किये हैं (देखिये पृष्ट १४७) वे कदाचित् नराकार आराध्य ही को दृष्टिकोण में रखकर लिखे गये हैं।

सम्मिलित कर लिये गये हैं। उनके साथ ही साथ कौ अतिमानव चरित्रों का भी योग कर दिया गया है। लीला के सम्बन्ध की कई अपूर्व बातें भी लिखी गई हैं जो अनन्त हैं उनकी लीलायें भी अनन्त होनी ही चाहिये। उन सब का विस्तृत वर्णन कर ही कौन सकता है भक्त लोग उनकी लीलाओं का जो गान करते हैं वह चरित्र-ज्ञान के लिये नहीं वरन् भाव वृद्धि के लिये—भावुकता की तृप्ति के लिये - लोकोत्तर आनन्दमय रस की प्राप्ति के लिये करते हैं। प्रभु की प्रभुता के परिचायक अनेक ग्रन्थों के रहते हुए भी सन्त लोग इसी अभिप्राय से नये नये ग्रंथ लिखते चले जाते हैं और कई बार सुनकर भी इस लीलामृत के लिये फिर फिर लालायित रहते हैं। जो रामकथा सुनकर अघा गये उन्होंने रस विशेष जाना ही नहीं। जो निरन्तर इस रस का पान करते हैं उनके हृदय में भगवान की ओर प्रीति अवश्य उत्पन्न होती है।[1] गोस्वामी जी ने भी इसीलिये सुराकार राम की खास खास लीलाओं का उल्लेख किया है और हमने भी इसी अभिप्राय से उनकी लीलाओं की थोड़ी बानगी पाठकों के सामने रख दी है।

कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी।
रामकथा कै मिति जग नाहीं। अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
२१-१३, २४

करिय न ससय अस उर जानी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥
२१-१७

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥
१०-२०, २१

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं॥
४६६-१६

सुराकार ईश्वर के किन किन विशिष्ट गुणों के समर्थन में उनकी लीलाएँ होनी चाहिये इस विषय में आचार्यों ने बहुत कुछ कहा है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

विष्णु पुराण ६-५, ७४

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

विष्णु पुराण ६-५, ७८

ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः॥

विष्णु पुराण ६-५, ७९

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥

(महारामायण)

आदि अनेकानेक श्लोक भगवान् के विशिष्ट गुणों का परिचय दे रहे हैं। इनमें से प्रत्येक गुण का समर्थन भगवान् राम की किसी न किसी लीला से हो ही जाता है। स्थल संकोच हमे बाध्य करता है कि इस सम्बन्ध का अन्वेषण हम पाठकों ही के ऊपर छोड़ दें।

सुराकार परमात्मा की न तो उत्पत्ति होती है और न मृत्यु। उनका तो आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि "हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना"। (८८-१) "अगजग मय सब रहित बिरागी, प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी" (८८-३)"। इसीलिये उन्होंने राम-जन्म के समय लिखा है "जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम (९१-२)"। "भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी (९२-२)"। इसीलिये उन्होंने रामचन्द्र

जी के निधन अथवा परलोक गमन की बात ही उड़ा दी है। यदि गोस्वामी जी केवल इतिहास लेखक होते तो उमा के नवें प्रश्न पर शंकर जी से कुछ न कुछ उत्तर अवश्य दिलाते।

राम की तीसरी झाँकी है उनका मर्यादा पुरुषोत्तमत्व। इस झाँकी में वे आकृति प्रकृति और परिस्थिति तीनों दृष्टियों से आदर्श पुरुष हैं। भारतवर्ष के परम प्रख्यात सूर्यकुल में उनका जन्म हुआ। इन्द्र की भी बराबरी करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ उनके पिता थे। वशिष्ठ के समान अद्वितीय ब्रह्मर्षि और विश्वामित्र के समान अद्वितीय राजर्षि से उन्होंने शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा पाई। लक्ष्मण के समान परम पराक्रमी और भरत के समान परम साधु भाई उन्हें मिले। सीता के समान परमसुन्दरी सती शिरोमणि पत्नी उन्हें मिलीं और विदेहराज के समान परम विवेकी श्वसुर उन्हें मिले। हनुमान् के समान परम-शक्तिशाली सज्जन ने स्वेच्छापूर्वक उनका आजीवन दास्य स्वीकार किया। ऐसी उत्तम परिस्थिति आदर्श नहीं तो और क्या है?

आकृति के आदर्श पर तो गोस्वामी जी ने खूब ही लिखा है। रामचरितमानस के अंत में 'सतपंच चौपाई' का जो उल्लेख है वह, कई सज्जनों के मत में, रामचन्द्र जी के नख शिख ही से सम्बन्ध रखने वाली १०५ चौपाइयों की ओर लक्ष्य कर रहा है[1]। उनकी आकृति के सौन्दर्य ने नर और पशु, शिष्ट और दुष्ट सभी पर अपनी मोहिनी डाल दी थी तथा अभक्तों का भी भक्त बना दिया था। इस सम्बन्ध की पंक्तियाँ कुछ विस्तृत रूप से उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

---

[1] सतपंच का अर्थ कई लोगों ने कई प्रकार किया है। जो लोग इसका अर्थ १०५ मानते हैं उन लोगों ने भी १०५ चौपाइयों के भिन्न भिन्न समूहों की चर्चा की है। "नख सिख" वाले समूह के सम्बन्ध में हमने एक पुस्तक देसाई भाई दारू भाई पटेल द्वारा छपाई हुई देखी है। उन्होंने

राम लषन सिय रूप निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी॥
२१३-२

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा।
२१४-२८

होहिं प्रेमबस लोग इमि राम जहाँ जहँ जाहिं। २१७-१३

खग मृग मगन देखि छवि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही।
२१८-५

अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं।
२३३-५

सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।
जब ते प्रभुपद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥
२६७-१४, १५

जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं विषम विष तामस तीछी।
तेहि रघुनन्दनु लखनु सिय ......
२७१-२४, २५

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृप बालकु नरभूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जनमु सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई॥
३१०-७ से १०

यह "नख सिख" माधोदास मलसरवाला से पाया था। उसकी आदिम पाण्डुलिपि सं० १७८१ की कही जाती है जो जगन्नाथपुरी के रामदास खरिया द्वारा लिखी गई थी। सं० १६५१ में महात्मा लक्ष्मणदास ने उसकी प्रतिलिपि की और वही १६८६ सं० में प्रकाशक को माधोदास मलसरवाला से मिली।

देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जलचरवृन्दा॥
मकर नक्र झख नाना व्याला। सत जोजन तन परम विशाला॥
ऐसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं॥
प्रभुहिं बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
३७४-२५ से २८

आकृतिजन्य सौन्दर्य के मौन प्रभाव का निष्कलंक चित्र इससे उत्तम शायद ही कोई और खींच सका हो। जो लोग समझते हैं कि आकृतिजन्य सौन्दर्य के आकर्षण का अवसान दाम्पत्य प्रेम में ही पूरा पूरा बन सकता है वे तुलसीदास जी के इस चित्रण को देखें। मनुष्यों की कौन कहे खग मृग मीन और यहाँ तक कि साँप बिच्छू भी अपने हृदय की कुटिलता भूलकर मंत्रमुग्ध से बने हुए राम का दासत्व करने के लिये तैयार हैं। आततायी खरदूषण भी अपनी आसुरी शत्रुता भूलकर क्षणभर के लिये विस्मय विमुग्ध होकर उस अनुपम सौंदर्य के वशीभूत हुए जा रहे हैं। कैसी आदर्श आकृति है। बड़े बड़े भगीरथ प्रयत्न एक ओर और ऐसी अनुपम आकृति का मौन प्रभाव एक ओर। पाठक स्वयं ही विचार कर देखें कि इन दोनों में किसका पल्ला भारी समझा जायगा।

जो हाल रामचन्द्र जी की आकृति का है वही उनकी प्रकृति का भी है।

वे ऐसे आदर्श पुत्र हैं जिन्होंने माता और विमाता में कभी कोई भेद ही नहीं माना और पिता के वचनों की रक्षा के लिये सहर्ष १४ वर्ष का वनवास स्वीकार कर लिया। वे ऐसे आदर्श बन्धु हैं जिन्होंने भरत के लिये सर्वस्वत्याग पर ही रुचि दिखलाई थी और लक्ष्मण की संकटापन्न अवस्था पर अपना सहज धैर्य तक भूल गये थे। वे ऐसे आदर्श पति हैं जिन्होंने सीता के लिये रावण के समान प्रबल पराक्रमी शत्रु से एकाकी लोहा लिया था और एक—पत्नीव्रत का आजन्म निर्वाह करते हुये सीता की सुवर्ण प्रतिमा से यज्ञ का काम चलाया परन्तु वशिष्ठ आदि महर्षियों की सम्मति पाकर भी दूसरा विवाह न किया१। वे ऐसे आदर्श मित्र हैं जिन्होंने सुग्रीव और विभीषण के समान विपद्ग्रस्त व्यक्तियों को सहर्ष अपनाया और अपनी विपन्न अवस्था की चिन्ता न करते हुए उन्हें परम ऐश्वर्य सम्पन्न किया। वे ऐसे आदर्श पिता हैं जिन्होंने न केवल अपने पुत्रों को वरन् अपने भतीजों को भी समान समझा और सब पर समान दृष्टि से स्नेह करते हुए सबके लिये समान रूप से अलग अलग राज्य प्रबन्ध कर दिया। वे ऐसे आदर्श राजा हैं जिनका राज्य संसार में

लोग कहते हैं कि सीता-निर्वासन करके उन्होंने बड़ा अत्याचार का काम किया। ऐसे लोग जरा इस बात को सीता जी की आँखों से देखें। यदि सीता जी रामचन्द्र के साथ बनी रहतीं तो शक्की लोग अपनी शंका का समाधान कराने के बदले मन ही मन रामचन्द्र जी को पक्षपाती अथवा कमजोर तबियत वाला समझा ही करते। सती सीता जी अपने पति पर आरोपित होने वाले इस कलंक को कभी भी न सह सकती थीं। उधर वनवास के लिये एक तो उनका अभ्यास हो गया था दूसरे रुचि भी थी। इसलिये उन्होंने राम के इस निर्णय को किसी प्रकार का अत्याचार नहीं समझा। राजा अच्छा रहे यही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह लोगों को अच्छा जँचे।

सर्वदा के लिये एक सुन्दर दृष्टान्त बन गया है। जो राजमुकुट को सुवर्ण का नहीं वरन् काँटों का मुकुट समझ कर धारण कर रहा हो और उसके निष्ठुर कर्त्तव्य की पूर्ति में अपनी कौटुम्बिक शान्ति का भी बलिदान कर रहा हो उसके राज्य के सम्बन्ध में वे पंक्तियाँ सर्वथा समुचित हैं कि :—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
४५३-१२

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहि काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधरम निरत श्रुति नीती॥
४५३-१५, १६

अलप मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
४५३-१९, २०

मर्यादापुरुषोत्तम राजा राम का जिस समय आविर्भाव हुआ था उस समय क्षत्रिय लोग उत्पाती हो गये थे। महाभारत में जिन सज्जनों ने और्व ऋषि की उत्पत्ति की कथा पढ़ी होगी वे इस कथन का रहस्य अच्छी तरह समझ सकेंगे। छोटे छोटे भूमि खण्ड के लिये वे आपस में लड़ पड़ते थे। ब्राह्मण लोगों ने तो आर्य संस्कृति के प्रसार और ज्ञान विज्ञान के विचार और प्रचार के लिये तपोवनों में विश्वविद्यालय खोलकर शासन के कार्य से उदासीनता सी धारण कर ली थी। उद्धत क्षत्रियों को इसीलिये उनकी उपेक्षा का निर्बाध अवसर मिल गया। फलतः वे कभी किसी ऋषि की गायें चुरा लेते तो कभी किसी का सिर ही काट डालते थे। राष्ट्रीयता तो उस समय विलुप्तप्राय थी। यही देख लीजिये कि पूर्वोत्तर प्रदेश के नरेश (विदेहराज) के यहाँ जब स्वयंवर हुआ तो पश्चिमोत्तर प्रदेश के नरेश (दशरथ) के यहाँ

निमंत्रण तक न गया। भारत की ऐसी अस्त व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा यदि किसी ने की तो उपनिवेशाकांक्षी लङ्काधिप रावण ने की। वह भौतिक विज्ञान का महापण्डित था। विद्युत्शक्ति (इन्द्र) का तो वह स्वामी हो चुका था। समृद्धि की वृद्धि मे उसने अपनी लङ्का को मानो सोने की ही बना डाला था। लङ्का ठहरा एक टापू। इसलिये वह लंकेश्वर भारत के समान महाप्रदेश को अपना उपनिवेश बना लेने की घात में था। उसने भारत के चक्कर लगाकर यहाँ की स्थिति का निरीक्षण किया। उसने देखा कि यहाँ आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते हैं और यहाँ के मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हें दनु की सन्तान अथवा दानव कह कर दूर-दूर रखते हैं। यहाँ तक कि जिन मूल निवासियों ने उनकी आर्य संस्कृति के कई तत्त्व स्वीकार करके उनसे मैत्री भी स्थापित कर ली है उन्हें भी वे पूरा मानव न समझ कर वानर (मनुष्य कोटि में संदिग्ध जीव) समझते हैं। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने सबसे पहिले दानवों को अपने पक्ष में मिलाया और उनके द्वारा आर्य संस्कृति के केन्द्र उन तपोवनस्थ विश्वविद्यालयों ही को उड़वा देना चाहा। वह जानता था कि नरेश लोग यों ही तपोवनों से उदासीन हैं इसलिये जब तक शहरों पर धावा न बोला जायगा तब तक शायद वे उसके विरुद्ध लोहा लेने के लिये सम्मिलित होंगे ही नहीं। दानवों को मिलाने के बाद उसने बालि आदि वानर नरेशों से मित्रता की। फिर कुछ आर्य नरेशों को भी अपने पक्ष में सम्मिलित करने के अभिप्राय से वह बिना बुलाए ही मिथिला के स्वयंवर में, सम्बन्ध स्थापन की इच्छा से जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि उसके समान ही पराक्रमी दूसरा अनार्य नरेश बाणासुर कुछ ऐसी ही इच्छा लेकर पहिले ही से पहुँचा हुआ है। न रावण पीछे हटना चाहता था न बाण। अन्त में दूरन्देश रावण ने सोचा कि आर्यों के आगे अनार्य नरेशों का इस प्रकार लड़कर

शक्तिहीन बन जाना भी ठीक नहीं और आर्य सम्बन्धस्थापन का सेहरा प्रबल बाणासुर के सिर पर बँध जाने देना भी ठीक नहीं। इसलिये वह स्वयं भी हट गया और बाणासुर को भी वहाँ से हटा ले गया। इधर ब्राह्मण लोग भी इस परिस्थिति से कुछ सजग हो चले थे और उनमें भी परशुराम के समान क्रान्तिकारी योद्धा का आविर्भाव हो गया था। परशुराम ने असीम शक्ति सम्पादन करके क्षुद्र क्षत्रिय नरेशों का संहार तो खूब किया और इतनी प्रचण्ड शक्ति दिखाई कि ईश्वर के अवतार की कोटि में भी माने जाने लगे परन्तु आखिर वे सैनिक ही निकले, शासक नहीं। इसलिये बार बार राजकाज का जिम्मा ब्राह्मणों को देते हुए भी वे बार बार अकृतिकार्य ही बनते गये और भारत का राष्ट्रीय संगठन उनके द्वारा न हो पाया। विश्वामित्र पहिले स्वतः राजा रह चुके थे। उन्हें क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व दोनों का पूर्ण अनुभव था। इसलिये उन्होंने सद्वैद्य की तरह सदौषधि का अनुसंधान किया और इस कार्य के सुचारु सम्पादन के लिये सच्चे जौहरी की तरह रामचन्द्ररूपी अमूल्य रत्न को ढूँढ़ निकाला। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि रामचन्द्र जी तपोवनों की रक्षा और दुष्ट दानवों के दमन के लिये प्रवृत हुए। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि अनिमन्त्रित होते हुए भी रामचन्द्र जी सीतास्वयम्बर के अवसर पर मिथिला गये और अपना पराक्रम दिखाकर उत्तरीय भारत के—आर्यावर्त के—दो दूरस्थ संभ्रान्त राजकुलों को स्नेहसूत्र में बाँधकर आर्य-संगठन का प्रथम सूत्रपात किया। रामचन्द्र जी केवल सैनिक ही नहीं वरन् शासक भी थे। परशुराम तक ने इस बात का अनुभव कर के अपना कार्य उन्हें सौंपा और स्वतः राजनीतिक सन्यास ले लिया। शासक राम की प्रबन्धचातुरी का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि चौदह वर्ष तक उनके बनवासी रहने पर भी न तो किसी दूसरे नरेश ने अयोध्या पर धावा करने की हिम्मत की न स्वतः उनके सम्बन्धियों ने ही राज्यशासन के लिये कोई सतृष्णता प्रकट की बनवासी होकर

उन्होंने जो सबसे बड़ा कार्य किया वह था आर्य ऋषियों और अनार्य हरिजनों के बीच सम्बन्ध स्थापन। नीचातिनीच मनुष्य ने भी उनमें आत्मीयता का अनुभव करके उनका साहचर्य प्राप्त किया। कोल, किरात, निषाद, शबर, वानर (उराँव), भालू आदि अनेकानेक अनार्य जातियाँ उनके मौन प्रभाव से प्रभावित होकर उनकी ओर खिच आईं। उनके उस मौन प्रभाव का इतना महत्व था कि अत्रि, अगस्त्य, वाल्मीकि, सुतीक्ष्ण, शरभंग प्रभृति बड़े बड़े महात्मा भी उनके आगे नतमस्तक हो गये। आर्यों और अनार्यों को इस प्रकार वशीभूत कर लेने वाले राम ने अपने लिये कभी कोई स्वार्थ भावना नहीं रक्खी। न तो उन्होंने विलास चाहा न वैभव न सम्पत्ति न राज्य। न तो ऐश्वर्य-सिद्धि की ओर ही उनका विचार गया न प्रभुत्व-प्रख्याति की ओर। उन्होंने कभी यह भी नहीं चाहा कि दो चार पिट्ठू (पृष्टपोषक) उनके स्वयसेवक से बन कर उनके साथ रहा करें। उन्होंने जहाँ तक बन पड़ा युद्ध एकदम बचाए। फिर भी जब उन्हें बालि और रावण सरीखे वैभवशाली चक्रवर्तियों का संहार करना ही पड़ा तब उस काल की नीति के अनुसार उनका राज्य हड़प लेने के बजाय उन्हीं के भाइयों को उन्होंने वे राज्य दे दिये। साम्राज्यविस्तार की कूटनीति का परित्याग करते हुए भी उन्होंने अपनी शक्ति अपने शील और अपने सौहार्द भाव से जिस तरह अखिल भारत और भारत ही क्यों, कहना चाहिये कि अखिल जगत्—के हृदय पर अपना अविनश्वर साम्राज्य स्थापित कर लिया है वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है।

मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र जी को जिस प्रकार अपने शील और सौंदर्य का पता था उसी प्रकार अपनी शक्ति का भी पता था। वे जानते थे कि वे समाजपुरुष के सेवक ही नहीं शासक भी हैं। जैसे शरीर-रक्षा के लिये फोड़े का चीरना और शस्यराशि की वृद्धि के लिये घास फूस का उखाड़ना अनिवार्य है वैसे ही भारतवर्ष की रक्षा और सद्भावों की

वृद्धि के लिये रावण राज्य का विध्वंस अनिवार्य था। राम ने इसीलिये भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की थी कि वे मही को निशिचर हीन कर देंगे—ऐसे मनुष्यों के प्रभाव से हीनकर देंगे जो जीव कोटि में दी गई परिभाषा के अनुसार निशाचर कहलाते हैं। यदि वे मनुष्य सुधर जायँ तो विभीषण के अनुयायियों की तरह मजे में राजसुख भोगें। यदि हठपूर्वक आततायी और अत्याचारी ही बने रहना चाहें तो चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, वे ताड़का और खरदूषणादि की तरह अपने कृत्यों का मजा चखें।-जगत् में व्यवस्था का स्थापना के लिये राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। यदि वह अपनी शासनप्रक्रिया में कर्त्तव्य की प्रेरणा से, न कि किसी विद्वेषभाव से, अत्याचारी के विषैले दाँत उखाड़ देता है, जगत् का सर्वथैव अहित करने वाली कँटीली और विषैली बेलों का समूल उन्मूलन कर देता है, तो जगद्रक्षा के नाते यह भी उसका अहिंसा धर्म ही माना जायगा। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने ऐसे ही धर्मभाव से प्रेरित होकर रावण और बालि का वध किया था।

परम कूटनीतिज्ञ रावण आसानी से नहीं पछाड़ा जा सकता था। यदि उसे राम की पूरी शक्ति का पहिले ही से पता होता तो वह उनसे लड़ता ही नहीं या अन्य आर्य नरेशों अथवा भारतवासी अनार्य नरेशों ही को उनके विरुद्ध उकसाकर दूर से तमाशा देखने की भी पहिले कोशिश कर लेता। विधिविधान कुछ ऐसा था कि रावण पूरी परिस्थिति का अध्ययन भी न कर पाया था कि सूर्पणखा ने छेड़छाड़ प्रारम्भ करा ही दी। स्वैरिणी सूर्पणखा को अनार्य नरेश तो किसी प्रकार का दण्ड देते ही न थे और प्रजा में इतनी शक्ति ही नहीं थी कि वह एक प्रबल सम्राट् की भगिनी का मानमर्दन कर सके। इसीलिये पड़ोसी नरेश की हैसियत से राम का परम कर्त्तव्य था कि वे उस अत्याचारिणी को दण्ड दें। नरेश न सही तो एक सामान्य प्रजा की हैसियत से भी उन्हें यह अधिकार था कि वे आततायी के सम्मुख आत्मरक्षा के उपायों से

काम लें। सूर्पणखा न बातों से मानने वाली थी न लातों से। वह तो कामान्ध होकर कभी राम के पास कभी लक्ष्मण के पास कभी फिर राम के पास दौड़ दौड़ कर जब अपनी इच्छा की विफलता देखने लगी तब भूखी बाघिन की तरह सीता जी ही को साफ कर देने के इरादे से उस ओर झपट रही थीं। ऐसी स्वैरिणी न तो किसी की बातें सुन सकती है और न अपनी कुलमर्यादा की लज्जा का ही उसे कुछ ध्यान होता है। इसलिये उसके कान और नाक काट लेना ही उसके लिये परम उचित दण्ड समझा गया। स्वैरिणी स्त्री की नाक तो आज दिन तक कटा करती है। इसलिये राम ने यदि उसे इस प्रकार दण्ड दिलाकर केवल विरूप करा दिया तो अपनी दूरदर्शिता ही दिखाई अन्यथा उस समय के नियमानुसार ऐसी आततायिनी स्वैरिणी का वध भी कर दिया जाता तो कोई बुरा न मानता।[1] इस दूरदर्शिता ने अपना अभीष्टफल दिखाया भी। सबसे पहिले तो खरदूषण ही उस स्वैरिणी का अनुचित पक्ष लेकर मैदान मे उतर आये और राम से लड़कर उन्होंने खूब मुँह की खाई। फिर रावण को भी अपने गौरव की रक्षा के लिये राम से छेड़छाड़ करनी ही पड़ी। यदि वह खरदूषण के वध पर भी सूर्पणखा का पक्ष न करता तो भारतीय अनार्यों की जनतामनोवृत्ति के आगे निःसन्देह अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता। इसलिए वह सूर्पणखा के अपमान (?) का बदला तो अवश्य लेना चाहता था परन्तु खरदूषण का वध करनेवाले बीर से उसी के देश भारतवर्ष में आकर मोरचा नहीं लेना चाहता था। इसीलिए उसने नारीहरण की तरकीब निकाली। अपनी इसी चाल मे उसने धोखा खाया और अन्त तक इस उलझन में फँसता ही चला गया। वह

---

[1] न जाने क्यों मिश्र बन्धुओं ने लिखा है कि सूर्पणखा का विरूपकरण एक ऐसा आक्षेपयोग्य कृत्य है जिसका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता। सुधा, वैशाख ३१६ (तु० सं०) पृष्ठ ४४०।

शायद जानता था कि रामचन्द्र जी अकेले आकर सुदृढ़ लङ्का को कोई क्षति पहुँचावें यह तो असंभव ही है और यदि वे सेना एकत्र करके आये तो उसका मित्र बालि पहिले ही उन्हें रोकेगा और इस प्रकार उसे (रावण को) सजग हो जाने का पूरा अवसर दे देगा। इसके बाद यदि राम लङ्का के किनारे पहुँच भी गये तो आसानी से जीत लिए जावेंगे और यदि वे वहाँ तक न आये या न आ सके तब तो जनक राज-कुल से सम्बन्धस्थापन की पुरानी भावना को चरितार्थ होने का अनायास अवसर मिल जावेगा। श्रीरामचन्द्र जी ने भी शायद अपनी दूरदर्शिता से रावण की यह विचारप्रणाली समझ ली थी। इसीलिये घटनाचक्र की अनुकूलता होते ही उन्होंने बालि को बिना किसी आडम्बर के उखाड़ फेंका। जब यह निश्चित था कि अपने ही छोटे भाई की स्त्री का हरण करने वाला बालि केवल स्त्रीहरण का मामला लेकर अपने पुराने मित्र रावण से न तो शत्रुता ही कर सकता था और न राज्यनिर्वासित एकाकी राम की सहायता ही में मन लगा सकता था तब धर्म युद्ध के लिये उसे ललकारने में लाभ ही क्या था? यदि राम और बालि का खुला हुआ युद्ध हुआ होता तो अंगद, जम्बवान् आदि के समान सद्वीरों को ठीक उसी प्रकार बालि की सहायता करनी पड़ती जैसी भीष्म, द्रोण आदि ने दुर्योधन को की थी। रामचन्द्र को ऐसे सद्वीरों का वध अभीष्ट न था। यदि बालि बन्दी भी होता तो भी अंगदादि का युद्ध अनिवार्य रहता। बालि का जीवन भारतीय शान्ति के लिए कण्टक रूप था। अतएव जब उस जीवन का अन्त अवश्यभावी था तब वह सम्मुख समर में मारा गया तो क्या अथवा एकाएक उखाड़ फेंका गया तो क्या—बात एक ही थी। आजकल की सरकार भी नामी डकैतों के लिए दोनों प्रकार के दण्ड की व्यवस्था करती है। यदि वह पकड़ा गया और बाकायदा अदालती कारवाइयों से होता हुआ फाँसी पर लटकाया गया तो भी ठीक और यदि किसी भी नागरिक द्वारा

एकदम गोली से उड़ा दिया गया तो भी ठीक। ऐसे डकैत को मार डालने वाला भी उसी प्रकार पुरस्कार योग्य समझा जाता है जिस प्रकार उसको पकड़ने वाला।[1]

रामचरित के इतिहास को हमने जिस दृष्टिकोण से देखने और दिखाने की चेष्टा की है उसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिकोण ही नहीं है। यह हमारा कहना नहीं है। नरचरित्र आखिर नरचरित्र ही है। उसमें कुछ अपूर्णताओं अथवा आक्षेप योग्य बातों का भी मिल जाना स्वाभाविक है। परन्तु यदि हम भक्त की दृष्टि से उस चरित्र का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि बक़ौल महात्मा गांधी के "यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नहीं कर सकते हम पूर्ण पुरुष का ही ध्यान करें" (धर्मपथ पृ० ६६)। इसीलिये गोस्वामी जी ने कहा है—

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहि बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहि भजहि तर्क सब त्यागी॥
४०८-५ से ८,

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

---

[1] गुणकार राम के सम्बन्ध में तो बालिवध, शम्बूकवध, सूर्पणखा-विरूपकरण आदि की बातें और भी अधिक निर्दोष हो जाती हैं। मुक्ति ही जीव के लिए एकान्त अभीष्ट है। जब बालि और सम्बूक शीघ्र ही मुक्त कर दिये गये तब उनके ऊपर अत्याचार ही क्या? सूर्पणखा का हृदय परिपक्व न था इसलिये कामवासना का सहायक सौंदर्य उससे अलग कर लिया गया और वह साधना के लिए जीवित छोड़ दी गई।

गोस्वामी जी ने अपने राम से न तो सीतानिर्वासन कराया, न शम्बूकवध कराया। उन्होंने अपने राम को वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण के राम से भी अधिक उत्कृष्ट चित्रित किया है। (देखिए मानसहंस) परन्तु फिर भी कुछ लोग उनके द्वारा चित्रित रामचरित्र में भी दोषोद्भावना कर ही देते हैं। उदाहरणार्थ कुछ विद्वद्जनों ने सीताविरह के समय की उनकी इस उक्ति को कि—

"राखिय नारि जदपि उर माहीं। युवती शास्त्र नृपति वस नाहीं" ॥
३२१-१७

एकदम दूषित ठहराया है।[1] बहुत संभव है कि इतने बड़े ग्रन्थ रामचरितमानस में एक आध ऐसे शङ्कास्पद प्रसङ्ग निकल आवें परन्तु यह भी बहुत सभव है कि ऐसे प्रसङ्गों के सम्बन्ध की शंकाएँ ही निर्मूल हों। उदाहरणार्थ ऊपरवाली उक्ति ही का प्रसङ्ग देखिये। स्त्रियाँ दुश्चरित्रा होती हैं इस भावना को अपने हृदय में जमाकर यदि ऊपरवाली पंक्ति पढ़ी जायगी तो निश्चय ही यह अर्थ निकलेगा कि हजार हजार संरक्षण रहते हुए भी आखिर सीता जी दूसरे के साथ भाग निकलीं! यह अर्थ कितना भोड़ा और प्रसङ्ग के कितने विरुद्ध होगा इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि इस पंक्ति का यही प्रकृत अर्थ है तो निश्चय यह उक्ति दूषित है। परन्तु यदि पूर्वोक्त भावना के बदले "स्त्रियाँ अपनी भावप्रवणता के कारण मर्यादा का भी अतिक्रम कर जाती हैं," इस प्रकार की भावना को अपने हृदय में जमाकर वह पंक्ति पढी जाय तो उक्ति में किसी प्रकार का दूषण नहीं आने पाता। भावप्रवण नारी स्वभाव से ही धर्मशील रहती है। अतिथिसेवा रूपी धार्मिक भावना से

[1]देखिये श्री श्यामसुन्दरदास और बड़थ्वाल महोदय का ग्रन्थ "गोस्वामी तुलसीदास" पृ० १४५।

प्रेरित होकर सीता जी के नारीहृदय ने लक्ष्मण जी की बाँधी हुई मर्यादा की भी परवाह नहीं की और परिणाम में इतना बड़ा संकट बुला लिया। सम्भव है, इसीलिये गोस्वामी जी ने "शास्त्र नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वं" वाली पुरानी उक्ति को नई बनाकर राम के मुख से प्रकट कराया हो।

जो कुछ हो, इतना तो निश्चय है कि जिस जमाने मे रेल, तार, अख़बार आदि कुछ न थे, जिस समय आर्य लोगों के कर्तव्यक्षेत्र की सीमा आर्यावर्त (उत्तरी भारत) तक ही सीमित थी, जिस दिन आर्य सस्कृति के विध्वंस मे न केवल कतिपय अनार्य वरन् अनेक क्षत्रिय नरेश भी दत्तचित्त थे, उस जमाने मे जिन महापुरुष ने एकाकी पदचारी रहते हुए भी समग्र भारतवर्ष को इस प्रकार सुशृंखलित कर दिया कि आज तक भी उनके आदर्श राज्य की गाथा गाई जा रही है, उन्हें यदि कोई अपना आराध्य मान रहा है तो क्या बुरा कर रहा है।

जो ब्रह्म वास्तव मे निर्गुण है उसे सगुण मानना, साकार (व्यक्तित्ववान सुराकार) मानना, तथा अवतारी (नराकार) मानना भक्त की भावना की बात है। सगुणता, व्यक्तित्वमयी साकारता और अवतार की सिद्धि कोरी तर्कप्रणाली पर नहीं की जा सकती। इसके लिये तो श्रद्धा का सहारा लेना ही पड़ता है। पार्वती ने निर्गुण ब्रह्म के साथ सुराकार रूप (विष्णु) को तो मान लिया (यद्यपि वह सुराकार रूप उनका परम आराध्य न था) परन्तु नराकार राम (अवतार) के विषय में तर्क करने लगी।[1] उत्तर मे शङ्कर जी ने तर्क

[1] ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सोकि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥
बिस्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सरवग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम स्रीपति असुरारी॥
२९-१४ से १७

से उनका समाधान न करके श्रद्धा ही का पाठ पढ़ाना प्रारम्भ किया। शंकराचार्य से बढ़कर शायद ही कोई दूसरा विचारक अथवा तार्किक हुआ हो। वे भी :—

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशीव भाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥

(प्रबोध सुधाकर, २००)

कह कर हृदय की श्रद्धा ही को उकसाने की चेष्टा कर रहे हैं न कि तर्क को। इस सम्बन्ध में तर्क का काम केवल इतना ही है कि वह निराकार, सुगाकार और नराकार आराध्य का इस प्रकार सामञ्जस्य कर दे कि श्रद्धा और भी पुष्ट होकर परम विश्वास का रूप धारण कर ले। भक्त-हृदय के लिए तर्क का इतना ही सहारा वांछनीय है।

आराध्य को सगुण साकार और अवतारी मानने का प्रधान कारण है भक्त का हृदय। वह सूरदास के कथनानुसार "रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकित धावै।" इसलिये "अविगत गति कछु कहत न आवै" कहता हुआ, निर्गुण की ओर झुक ही नहीं सकता। गीता ने भी अव्यक्तोपासना को क्लेशकर ही कहा है। बड़े-बड़े निर्गुणी सन्त भी अपने "लाल" की लाली" देखा करते और उसमें "लाल" हुआ करते हैं।[1] यह लाली आराध्य का गुण नहीं तो क्या है। कई लोग उसके सिंहासन अथवा न्यायासन की कल्पना करके उस पर उसके ज्योतिर्मय रूप की झलक देखते हैं। यह ज्योति उसका गुण नहीं तो और क्या है! कुछ लोग उसकी दिव्य देह तक की बात तो मान लेते हैं परन्तु उसके अवतार की बात पर उन्हें विश्वास नहीं होता। यह भी साधक के हृदय की भावना की बात है। जो लोग

---

[1] लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥ कबीर॥

उसके अवतार की बात भी पूर्ण विश्वास के साथ मान लेते हैं वे भी कोई अनौचित्य नहीं कर रहे हैं क्योंकि ब्रह्म की सगुणता में जिस प्रकार का तथ्यांश है उसी प्रकार उसकी साकारता में भी और उसी प्रकार उसके अवतार में भी है।

नराकार अथवा सुराकार रूप में ब्रह्मत्व के दर्शन की आकांक्षा रखना किसी प्रकार अनुचित नहीं क्योंकि निराकार ब्रह्म को सुराकार अथवा नराकार मानना यदि भ्रम भी हो तो वह रस्सी में सर्पदर्शन के भ्रम के समान नहीं वरन् सुवर्ण में आभूषण दर्शन के भ्रम के समान है। यह भ्रम मूल वस्तु से अभिन्न है इसलिये विज्ञ लोग परमात्मा के सगुण अवतार को "अनध्यस्त विवर्त" कह कर सग्राह्य ही बताते हैं।[1] ब्रह्म स्वतः अवतारी बनता है अथवा भक्तों की भावना उसका विशिष्ट

---

[1]इस सम्बन्ध में "कल्याण" तीसरे भाग की ग्यारहवीं संख्या के १००२ पृष्ठ पर श्रीरामचन्द्र कामथ का लेख देखा जावे। वे कहते हैं "वेदान्त शास्त्र ने आरंभवाद या परिणामवाद का खंडन करके विवर्त-वाद को स्वीकार किया है। रज्जु में सर्प का अध्यास, सीप में रजत का अध्यास, सूर्य किरणों में मृगजल का अध्यास आदि विवर्त्तवाद के दृष्टांत हैं। इनमें मूल अधिष्ठान पर मिथ्या ही अधिष्ठान होने के कारण अधिष्ठान का ज्ञान लोप हो जाता है इसलिये श्रीगुलाबराव महाराज इसका नाम 'अध्यस्त विवर्त' रखते हैं। परन्तु सोने में गहने का अध्यास होने से रज्जुसर्प की भाँति अधिष्ठान ज्ञान का लोप नहीं होता है। स्वर्णत्व के ज्ञान के साथ ही अलङ्कार का भास होता है। इसलिये इसका नाम "अनध्यस्त विवर्त" है। इसी दृष्टान्त के अनुसार सगुण अवतार में मूल के ब्रह्मत्व ज्ञान का लोप नहीं होता। अतएव सगुण अवतार परमात्मा का 'अध्यस्त विवर्त' है, ऐसा कहते हैं। यह परिभाषा सोचने समझने योग्य है।"

रूप रच लेती है या विशिष्ट व्यक्ति में उसके अवतार की बात मान लेती है' इन दोनों बातों का अर्थ भक्त के हृदय के लिये एक ही बराबर है। वह तत्त्व विवेचक शुष्क ज्ञानी नहीं जो इस ऊहापोह में व्यस्त रहा करे। वह तो श्रद्धालु भक्त है। वह तो आम का रस चखना चाहता है, उसके वृक्ष की शाखाओं के ऊहापोह में अपना जीवन नहीं खपा देना चाहता।

उपर्युक्त विवेचन को अपने हृदय मे धारण करके गोस्वामी जी की इन निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार किया जावे—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
१६-६

अगुन अलेख असान एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेमबस॥
२५५-९

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहि जैसे॥
५९-५ से ७

जाके हृदय भगति उस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
८७-२३

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥
११२-२३

जेहि पूछहुँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमत अहई॥
निर्गुन मत नहि मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥
४९५-१६,२०

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं,
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।
४४६-१३,१४

जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी॥
जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अपना॥
३०५-२१, २२

कोऊ ब्रह्मनिर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि स्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप, श्रीराम सगुन स्वरूप॥
४३३-२२,२३

विचार, भाव और क्रिया के अनुसार जीवों की तीन ही भावनाएँ रहा करती हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक भावनावाला आराधक अपने आराध्य के निराकार भाव ही पर विशेष जोर देगा। आधिदैविक भावनावाला आराधक उनके सुराकार भाव पर विशेष जोर देगा। आधिभौतिक भावनावाले आराधक तो उनके नराकार भाव ही की ओर विशेष रुचि होगी। ज्ञानीभक्त तो सर्वान्तर्यामी की ओर झुकेंगे, संसारी भक्त पूर्ण पुरुष (Perfect man) की लीलाओं के आगे ही नतमस्तक होंगे और भावुक भक्त परमात्मा का एक इष्टदेव के रूप से—एक सुराकार से—चिन्तन करने में सन्तोष मानेंगे इसीलिये सर्वजन कल्याणकारी भक्ति शास्त्र में एक परमात्मा का यह त्रैतभाव व्यक्त किया गया है।[1] इनमें यदि एक भी भाव शिथिल कर दिया जाय तो आराध्य अपूर्ण ही कहावेगा। निराकार भाव उड़ा-दिया जाय तो मनोनुकूल इष्टदेव-विग्रहों की अनेकता के कारण भक्त लोग आपस में सदैव लड़ते ही रहें। सुराकार भाव उड़ा दिया जाय तो भावुक हृदय की कभी तृप्ति ही न हो। कभी यह जान ही न पड़े कि परमात्मा हमारा सहायक और हमारे साथ है। नराकार भाव उड़ा दिया

[1] ईसाइयों की "होली ट्रिनिटी" पर यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो हम समझते हैं कि विचारकों को कुछ नया आनन्द मिलने की भी सम्भावना है।

लगाने वाले सुतीक्ष्ण उन्हीं राम के चतुर्भुजरूप को देखकर एकदम व्याकुल हो उठे थे।[1] यह हुआ रूप के सामञ्जस्य का हाल। राम की लीलाओं का रहस्य तो पहिले ही बता दिया गया है। मानवी लीलाएँ होते हुए भी वे निराकार (सगुण) परमात्मा के विशिष्ट दिव्य गुणों को प्रकट करने वाली और साकार परमात्मा की ओर भक्तों को विशेष आकृष्ट करने वाली बन गई हैं। अब रही धाम की बात। सो यद्यपि 'लोक बिसोक बनाइ बसाये'' (१३-५) में गोस्वामी जी ने यह ध्वनित कर दिया है कि राम ने एक

---

[1] गोस्वामी जी ने राम शरचापधर द्विभुज किशोररूप का ही यद्यपि विशेष ध्यान किया है तथापि भक्तों की भावना के अनुसार उन्होंने कहीं इनके बालकरूप का, कहीं शक्तिसंयुक्त रूप का, कहीं शक्ति और अशक्तिसंयुक्त (सीता और लक्ष्मण) रूप का और कहीं सखावेष्टित रूप का भी ध्यान लिखा है। रामरहस्योपनिषद् में राम की निर्विघ्न पूजा के लिये सखावेष्टितरूप की आवश्यकता बताई गई है। गोस्वामी जी ने सखावेष्टित रूप की पहली झाँकी सुबेल शैल पर और दूसरी सिंहासनारोहण के समय दिखा दी है। 'राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर'' वाला ध्यान अनेक दृष्टियों से बहुत प्रशस्त है। राम विष्णु हैं, लक्ष्मण महाकाल शिव हैं क्योंकि वे कालानलसंचारकारी संकर्षण के अवतार हैं और सीता मूलप्रकृति महामाया का अवतार होने के कारण (देखिये सीतोपनिषद्) सृजनशक्तिसम्पन्न ब्रह्मा का प्रतिरूप हैं। फिर, राम निर्गुण ब्रह्म हैं (क्योंकि उनमे सब रंगों का लय है) लक्ष्मण सगुण ब्रह्म हैं (क्योंकि उनके उज्ज्वल वर्ण में सब रंग विकसित हैं) और सीता वह मायाशक्ति हैं जो सगुण और निर्गुण के बीच व्यवधान रूप से रह कर भी निर्गुण की अङ्काश्रयिणी हैं। विशिष्टाद्वैत के मत से चिदचिद्-विशिष्ट ईश्वर ही परम आराध्य हैं। सो, इस झाँकी में लक्ष्मण हुए चित (जीव) और सीता हुईं अचित् (माया)। इन दोनों से विशिष्ट राम

शोकहीन निज धाम बनाकर उसमें अपनी सब प्रजा को बसा दिया था तथापि उन्हें यह अभीष्ट न था कि वे विष्णु नारायण अथवा कृष्ण से अपने राम को एकदम पृथक् होने दें। इसलिये वैकुण्ठ, क्षीरसागर अथवा गोलोक (या वृन्दावन) की तरह साकेत का भिन्न रूप से लम्बा चौड़ा वर्णन न करके उन्होंने श्रोताओं को भ्रम में पड़ने से बचा लिया है। उन्होंने तो साकेत का नाम तक नहीं लिया। यदि उनके लोक की बात जाननी हो तो उनके द्वारा शासित अयोध्या का हाल पढ़ लिया जावे। वहाँ "नहिं भय शोक न रोग" था। "अनप मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा" हो वहाँ की सामान्य अवस्था थी। वहाँ के लोग "सब सुन्दर सब विरुज शरीरा" थे। भगवान् राम जब कि इस भारत में अब भी विद्यमान हैं तब उनके लिये किसी विशिष्ट लोक की चर्चा करने से लाभ ही

हुए ईश्वर। इसलिये विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के रामभक्तों के लिये तो यही झाँकी परम प्रशस्त है। द्वैताद्वैत विचारवाले भक्त युगल सरकार (शक्तिसयुक्त रूप) का भेदाभेद बताते हुए गोस्वामी जी के "गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" को महत्व देते और सीताराम-पदवन्दना के लिये वही झाँकी चुनते हैं। अद्वैत वेदान्तियों को "बालक रूप राम कर ध्याना" (४६७-२२) ही इष्ट है क्योंकि उनके मत में ब्रह्मतत्त्व अद्वैत है। बालकरूप ही सब रूपों का आदिमरूप है। वहाँ न द्वैताद्वैत है न द्वैत है न त्रैत है। इसीलिये वे "इष्टदेव मम बालक रामा" (४७६-१७) की बात कहते हैं। गोस्वामी जी ने अपनी कथा शङ्कर और भुशुंडि से ली है ये दोनों ही बालकरूप राम के उपासक थे। गोस्वामी जी ने भी इस मानस में शरचापधर राम के एकाकी रूप का और उनके एकाकी नाम का ही विशेष ध्यान किया है। इसलिये आराध्य के रूप का ऐसा वर्णन भी यह सिद्ध कर रहा है कि गोस्वामी जी को अद्वैत सिद्धान्त ही विशेष रूप से मान्य था।

क्या है। जबकि "हरि व्यापक सरवत्र समाना" है तब फिर उन्हें "साकेत-विहारी" की सीमा में आबद्ध कर देना कहाँ तक युक्तिसंगत है। इसलिये गोस्वामी जी ने धाम के विषय को अवध से लेकर वैकुण्ठ, क्षीरसागर आदि तक पहुँचाकर तथा साथ ही कहीं भी सीमाबद्ध न करके नराकार आराध्य, सुराकार आराध्य और निराकार आराध्य में स्पष्ट सामञ्जस्य ही स्थापित कर दिया है।[1]

इन्द्रादि वैदिक देव एक तो तन्त्राचार के प्रभाव से क्षुद्र सिद्धियों के अधीश्वर कहे जाकर कामनाशील लोगों को चक्कर में डाल रहे थे, दूसरे वे स्वतः भोगायतनधारी बनकर विषयी जीवों की कोटि में परि-

---

[1]गोस्वामी जी की ऐसी चेष्टा रहते हुए भी रामदास गौड़ प्रभृति अनेकानेक विद्वानों ने वैकुण्ठवासी, क्षीरशायी और साकेतबिहारी की अलग अलग सत्ता और उनके अलग अलग रामावतार माने हैं। जयरामदास दीन ने कल्याण में इस विषय का अच्छा उत्तर दिया है (कल्याण भाग ५ सं० ५, ६ और १०)। गोस्वामीजी ने राम को विष्णु का अवतार बताते हुए भी जो विष्णु से श्रेष्ठ कह दिया है, जान पड़ता है कि उसी से लोगों ने समझ लिया कि मानस में अनेक रामों की कथाओं का सामञ्जस्य है। जिस प्रकार राजा की शक्ति सेनापति के रूप में प्रकट होकर जगद्रक्षा का भार अपने ऊपर लेती है और सिपाही उसी सेनापति से शक्ति पाकर असाधुओं का दमन और साधुओं का संरक्षण किया करता है उसी प्रकार ब्रह्म विष्णु और अवतार की कथा है। अब राजा यदि लीलावश स्वतः सिपाही का कार्य करने लगे तो वह अपने सिपाहीपन के कारण सेनापति का मातहत (विष्णु का अवतार) और अपने राजापन के कारण सेनापति का अफ़सर (विष्णु का सृजक और नियन्ता) ही कहावेगा। राम इसी न्याय से विष्णु के अवतार भी हैं और विष्णु के शासक भी।

गर्भित हो रहे थे, तीसरे उनके सम्बन्ध की लीलाएँ भी (जो पूर्वकाल मे संभवतः रूपक थीं परन्तु परकाल में ऐतिहासिक घटनाएँ मानी जाने लगी, यथा, सरस्वती के पीछे ब्रह्मा का भागना, अहल्या के लिए इन्द्र का छलछद्म, गुरुपत्नी के साथ चन्द्र का सहवास आदि) मानव समाज के लिये कोई अच्छा आदर्श स्थापित करने वाली नहीं थी; इसलिये गोस्वामी जी ने उन सबकी पूजा हटा दी। जिन देवताओं को उन्होंने सामान्य माना है उनमे श्रीकृष्ण भगवान् ही ऐसे हैं जिनका चरित्र रामचरित्र के समान विशद है। परन्तु श्रीकृष्ण चरित्र सिद्धावस्था का चरित्र होने के कारण सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। रामचरित मे यह बात नहीं है। उस चरित्र से आबालवृद्ध-वनिता सभी मनुष्य मनचाहा लाभ उठा सकते हैं। वह चरित्र लोक-मर्यादा का रक्षक है विघातक नहीं। गोस्वामी जी ने अपने आराध्य के चरित्र का यह उज्ज्वल पक्ष देखकर ही भारत में उनकी भक्ति के प्रचार का इतना प्रशस्त प्रयत्न किया है।

तुलसीदास जी ने अपने राम को जैसा समझा है, यदि हर कोई अपने आराध्य का वैसा ही रूप समझ जाय तब फिर कहना ही क्या है। इस प्रसङ्ग में एक कथा ध्यान देने योग्य है। कोई साधु गङ्गा पार कर तुलसीदास जी से मिलने आया। लौटते समय नाव न मिली तब तुलसीदास जी ने कहा "राम का नाम लेकर तो लोग भवसागर पार कर जाते हैं फिर तुम क्या उनके भरोसे यह नदी नहीं पार कर सकते?" साधु राम राम कहता गङ्गा में घुस पड़ा परन्तु थोड़ी दूर में ही वह डूबने लगा। तब गोस्वामी जी ने कहा 'भाई, तुलसी के राम मुझे तार दें ऐसा कहते हुए जाओ।" साधु ने ज्योंही ऐसा किया त्योंही आसानी से पार हो गया। उसे उस समय यह जानकर बड़ा-आश्चर्य हुआ कि उसके राम भिन्न है और तुलसीदास के राम भिन्न। उसका यह आश्चर्य जान किसी महात्मा ने एक पत्थर देकर उससे कहा

"जाओ बाजार में इसकी कीमत जाँच आओ"। साधु गया। शाकवणिक ने उसे अनिच्छापूर्वक चार पैसे में माँगा, पसारी ने एक रुपया कीमत आँकी, सुवर्णकार ने पाँच दस रुपये देने चाहे और सच्चे जौहरी ने उसे अनमोल बताकर लाखों रुपये उस पर न्योछावर कर देने चाहे। गोस्वामी जी के रामरूपी चिन्तामणि पर भवसागर पार होने का मूल्य न्योछावर है। परन्तु उसी मणि को यदि कोई विषयी पुरुष शाकवणिक बनकर ग्रहण करना चाहे तो शायद चार पैसे का भी लाभ न उठा सकेगा। इसी विचार से कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के राम जुदा जुदा हैं और उसे उसके ही राम तार सकते हैं न कि दूसरे के। वास्तव में राम एक ही हैं। लोगों की समझ के फेर के कारण ही अपने अपने राम की बात कही जाती है। इसी दृष्टि से हमने भी इस परिच्छेद में तुलसी के राम की चर्चा की है, वाल्मीकि के राम अथवा कालिदास के राम की नहीं। यदि कोई राम राम कहकर भी गोस्वामी जी की प्रतिज्ञा के अनुसार परम पावनता नहीं प्राप्त कर रहा है[1] तो दोष उसका है न कि गोस्वामी जी का क्योंकि वह अपने राम को उसी प्रकार नहीं पहिचान रहा है जैसा गोस्वामी जी ने पहिचाना था।

गोस्वामी जी ने अपने राम का जो चित्र प्रकट किया है उसके सम्बन्ध में हम कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ देकर यह परिच्छेद समाप्त करते हैं।

साहित्याचार्य प्रो० जनार्दन मिश्र एम० ए० लिखते हैं—

"तुलसीदास के ग्रन्थों में रामोपासना का अन्तिम अर्थात् पूर्ण परिपक्व रूप देखने में आता है।" पृष्ठ ३६ हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना।

हिन्दी विश्वकोषकार श्री नरेन्द्रनाथ वसु महोदय कहते हैं—

---

[1] राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥ २४५-१६

"शंकराचार्य के ब्रह्म को इन्होंने राम के नाम से प्रसिद्ध किया है।" विश्वकोष भाग ६ पृष्ठ ६८६।

अजमेर के डाक्टर जे० एम० रे.कफी महोदय एम० ए० पी-एच० डी० का कहना है—

भारत जानता है कि "श्रीरामचन्द्र जी परब्रह्म के विशुद्धतम अवतार हैं।" भूमिका।

"हिन्दू धर्म में चारित्र्य और कारुण्य के प्रेमी श्रीरामचन्द्र जी का जो चित्र अंकित किया गया है वैसा और किसी विभूति का नहीं।' षोड्श पृष्ठ।

"श्रीरामचन्द्र जी स्वयं तो मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं ही परन्तु वे अपने भक्तों से भी ऐसा ही चाहते हैं।" षोड्श पृष्ठ सेण्ट्रल थीम।

'गोस्वामी तुलसीदास की रचना में मनुष्यरूप भगवान् का परमोच्च और रम्य आध्यात्मिक स्वरूप पाया जाता है। भारतीय साहित्य में उनका नायक अपना सानी नहीं रखता।' पृष्ठ २५२।[1]

---

१ देखिये "दि रामायन आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दन इन्डिया।"

पञ्चम परिच्छेद

विरतिविवेक

भक्तिसिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिये कर्मसिद्धान्त और ज्ञानसिद्धान्त का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है। इसलिए विरति-विवेक के सिद्धान्त यहाँ कुछ विस्तार से लिखे जा रहे हैं। भक्ति के अतिरिक्त विरति (वैराग्य) और विवेक (ज्ञान) ही वे दो प्रधान साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य माया पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसलिये यद्यपि इस परिच्छेद में विशेषतया माया ही का वर्णन है तथापि हमने उस वर्णन के साथ विरति विवेक पर भी काफ़ी जोर देकर इसका शीर्षक "विरतिविवेक" ही रख दिया है।

ब्रह्म और जीव "सहज सँघाती" हैं आखिर जीव ब्रह्म का अंश ही तो है।[1] इसलिये स्वभावतः ही वह अनन्त शक्तिमान अनन्त ज्ञानवान् और अनन्त आनन्दमय होना चाहता है। वह सच्चिदानन्द—वह पूर्णत्व—ही उसका आदर्श आराध्य है। इसी आदर्श की ओर उसका सहज स्नेह रहा करता है[2] इतना होते हुए भी वह इस आदर्श को सुगमता पूर्वक क्यों नहीं प्राप्त कर लेता?

---

[1] ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती। १५-३
ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
५००-६

[2] ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १२-१०

समझ लीजिये कि किसी विशाल राजप्रासाद में चारों ओर के किवाड़े बन्द हैं और केवल एक किरण के प्रवेश के योग्य एक छोटा सा छेद है। किरण चूँकि सूर्य की एक किरण है इसलिये वह प्रासादस्थ सभी वैभवों के दर्शन करके तज्जन्य आनन्द उठाना चाहती है। वह इसके लिये अपनी ओर से बहुत प्रयत्न करती है—खूब फैलने फूलने की चेष्टा करके सूर्य के समान ही समग्र दर्शन के उपभोग का आनन्द चाहती है—परन्तु जब तक उसके ऊपर छिद्र के आकार-प्रकार का बन्धन लगा हुआ है तब तक क्या वह ऐसा कर सकती है? उसे तो विवश होकर उस छिद्र के आकार-प्रकार के अनुसार ही चलना पड़ेगा। उस नियमित परिधि को लिए वह किरण सूर्य कदापि नहीं कहा सकती न सूर्य बन ही सकती है। यदि किसी प्रकार उसे ऐसी शक्ति मिल जाय जिसे वह अपनी इस सीमा को ही तोड़ सके—प्रासाद के समय आवरण ही का ध्वंस कर सके तब तो अकेले एक प्रासाद की कौन कहे वह समस्त ब्रह्माण्ड के वैभव का दर्शनानन्द प्राप्त कर सकती है और फिर कोई भी उसे सूर्य से पृथक नहीं कर सकता। ठीक यही हाल जीवात्मा का है। वह महामोह के आवरण में परिछिन्न बनकर[1] अपने संकीर्ण व्यक्तित्व के मार्ग से आगे बढ़ना चाहती है और इसी मार्ग से बढ़कर इस संसार के समग्र आनन्द का उपभोग कर लेना चाहती है। इस प्रयत्न में निश्चय ही उसे दुःख उठाना पड़ता है। उसके पास इतनी शक्ति अवश्य है कि वह अपनी संकीर्णता ही को दूर कर ले—प्रासाद के छिद्र ही को इतना बढ़ा ले कि उसके लिये प्रासाद का—महामोह का कोई आवरण ही शेष न रह जाय। यदि वह ऐसा कर ले तब तो फिर उसके लिये सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जाय। परन्तु अपने उस

---

[1] करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
४६२-६

छोटे से छिद्र पर—अपने उस संकीर्ण व्यक्तित्व पर—निरन्तर साहचर्य के कारण, इतनी आसक्ति-सी हो जाती है कि उसे हटाने की ओर उसका ध्यान तक नहीं जाता। यही भगवान् की लीला है और इसी लीला का आश्रय लेकर उनका आनन्द इस संसार महानाटक के रूप में तरंगित होता रहता है।

भगवान् अपने ही अंशों के साथ अपनी लीला किया करते हैं। कभी उन अंशों को बाँधकर चक्कर दिलाते हैं कभी उनके बन्धन खोल-कर उन्हें वे आनन्द में मग्न कर देते हैं। उनकी जिस लीला से जीवों पर बन्धन पड़ते हैं उसका नाम है माया[1] और जिस लीला से वे बन्धन खुल जाते हैं उसका नाम है भक्ति। जिस प्रकार उनकी इस लीला का कोई आदि नहीं—यह विधिप्रपंच अनादि है[2] उसी प्रकार उनके अंशों का भी कोई अन्त नहीं—कोई गिनती नहीं।[3] अग्नि की चिनगारियाँ उससे निकलती हैं उसी में लीन होती हैं फिर नई निकलती फिर लीन होती हैं। यही क्रम चलता रहता है। वे बुझकर भी अव्यक्त अग्नि ही बनी रहती हैं। बुझ जाने पर उनका व्यक्त रूप भले ही न रह जाय परन्तु अखिल विश्व में ओतप्रोत रहने वाले अलक्षित अग्नितत्त्व के साथ उनका तादात्म्य हो जाने के कारण, हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी तात्त्विक सत्ता विद्यमान् है। ईश्वरांश जीवों का भी यही हाल है। वे इसी प्रकार प्रकट होते रहते हैं, बद्ध होते रहते हैं, मुक्त होते

---

[1] देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरे ताही॥ ९५-१७,१८

[2] विधि प्रपंचु अस अचल अनादी। २७९-११

[3] तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।
(मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड, प्रथम छन्द)

रहते हैं और ईश्वर अथवा ब्रह्म में लीन होते रहते हैं। परन्तु ऐसे परिवर्तनशील होते हुए भी वे अविनाशी कहलाते हैं।[1]

जीव यदि इस संसार मे सुख चाहता है तो उसे आवश्यक है कि वह भगवान् की मायाशक्ति को समझ ले। गोस्वामी जी कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियाँ और पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा उन विषयों से उत्पन्न विकार, मन की दौड़ जहाँ जहाँ तक जाय वे सब पदार्थ—कहने का अर्थ यह है कि अखिल ब्रह्माण्ड ही माया है।[2] जहाँ तक मैं मेरा और तू तेरा का सम्बन्ध है—द्वैत भाव की दौड़ है—वहाँ तक माया का साम्राज्य समझना चाहिये। इस माया के दो भेद हैं। एक का नाम विद्या है और दूसरे भेद का नाम अविद्या है। विद्या के सहारे तो सृष्टि स्थिति और प्रलय का चक्र चला करता है और अविद्या के सहारे नियति का चक्र चला करता है। माया की विद्याशक्ति तो संसार लीला के प्रवाह के लिये आवश्यक है। उसकी अविद्याशक्ति, जो दुष्ट और दुःखरूप कही गई है, आनन्द का स्वारस्य स्पष्ट करने के लिये विपर्यय (Contrast) का काम देती है।[3] जो अति आतप से व्याकुल

---

[1] ईश्वर अंस जीव अविनासी ५०० ९

[2] मैं अरु मोर तोर तै माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुनबस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके॥
३०७-३३ से २७

[3] जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥
जौ नहि होत मोह अति मोहीं। मिलतेउँ तात कवन विधि तोहीं॥
४७२-१७, १८

होता है वही तरुछायासुख का सच्चा रस प्राप्त करता है। जो मोहमुग्ध होकर अशान्त बनेगा ही नहीं वह शान्ति का पूरा आस्वादन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार भगवान् की लीला में अविद्या माया की भी एक विशिष्ट उपयोगिता है।

विचारदृष्टि से देखने पर विदित होगा कि जिस प्रकार नाटक का अभिनय केवल अभिनय मात्र है उसी प्रकार इस संसाररूपी महानाटक का सम्पूर्ण व्यवहार स्वप्नतुल्य है।[1] वह आदि-सूत्रधार इस महानाटक में अपने भाँति भाँति के रूप दिखाता है परन्तु वास्तव में वह कुछ दूसरा ही रहता है।[2] उस खिलाड़ी ने अपने खेल में अविद्या की झूठी ग्रन्थियाँ बाँध रखी हैं जिससे जड़ और चेतन के बीच एक मजबूत बन्धन सा पड़ गया है। परन्तु वास्तव में देखिये तो यह बन्धन मृषा ही है, भ्रम ही है, महामोह का एक अंग ही है।[3] असल में तो ज्ञानवान् लोगों को कोई गाँठ दिखाई ही नहीं पड़ती। उन्हें तो सर्वत्र और सर्वदा केवल ब्रह्म ही ब्रह्म का अनुभव होता है।[4] जीव वास्तव में सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। केवल भ्रमवश वह अपने को सच्चिदानन्द

---

[1] सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ।
जागे हानि लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥ २०६-१२
उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥
३२२-१५

[2] जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥ ४७५-११, १२

[3] जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
५००-११

[4] ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
३०७-१८

से पृथक् समझ रहा है अपूर्ण प्रकाश रहने पर रस्सी में जिस प्रकार साँप का भ्रम होता है शुक्ति में चाँदी का भ्रम होता है, आँख में अँगुलि लगाने पर जिस तरह दो चन्द्रों का भ्रम होता है नौकारूढ होकर चलने पर वृक्षों के दौड़ने का भ्रम होता है, उसी तरह शरीरी हो जाने पर —महामोह ग्रस्त हो जाने पर— चैतन्य को अपने जीवत्व का भ्रम होता है।[1] सो— ताहि और तै —तोहिं अथवा तत् और त्वं में कोई भेद नहीं है। यदि लीलावश कोई भेद माना भी गया तो वह उसी प्रकार का है जैसा समुद्र और लहरों में हुआ करता है।[2] भेद का भ्रम मिथ्या अवश्य है परन्तु वह ऐसा प्रबल नहीं है कि कोई उसे आसानी से टाल ही नहीं सकता।[3] विधि हरिहर तक इसी बन्धन में जकड़े रहते हैं। जब प्रधान

---

[1] यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। १-६

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजग बिनु रजु पहिचाने॥

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

५७-१३-१४

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।

जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

एहि बिधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥

जौ सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे दुख दूरि न होई॥

५९-२२ से २६

चितव जो लोचन अगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥

५--१७

नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥

४७५-१७

[2] सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा। ५८६-८

[3] जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि। ५९-१९

देवों का यह हाल है तब अनेकानेक ऋषि मुनियों का इसके इशारों पर कई बार नाच चुकना कोई आश्चर्य की बात नहीं।[१]

विद्यामाया से सृष्टि, स्थिति, प्रलय अथवा यों कहिये कि रजोगुण, सतोगुण और तम गुण का तारतम्य चला करता है। इसी से क्षिति, जल, नभ, पावक पवन की रचना होती है। इन्हीं पंचतत्वों से शरीर बनते हैं और शरीर में चैतन्यसत्ता का विकास होने से जीवों का संगठन होता है। शरीर सम्बद्ध होने के कारण जीव अपने को शरीर-परिछिन्न और इस प्रकार व्यक्तित्व विशिष्ट मानने लगता है। इसी मानने लगने का नाम अविद्या है। इसी के कारण जीव संसारी बन जाता है।

प्रकृति के गुणों के कारण उसे देह मिलती है, देह के कारण वह अहङ्कार की भावना से प्रेरित होकर विविध कर्म करता है, कर्मों के कारण उसके स्वभाव का निर्माण होता है, स्वभाव के अनुसार फिर कर्म होते हैं। स्वभावज कर्मों से बद्ध होकर वह उनके फल भोगता है। इस फल का भोग करानेवाला है कालप्रवाह जिसके कारण जीव को राजस, तामस, सात्विक आदि देहें मिला करती हैं और स्वर्ग नरक अथवा सुख दुख के द्वन्द्व में उसे रहना पड़ता है।[२] यह काल दुरतिक्रम

---

[१] सिव विरंचि कहँ मोहइ को हइ बपुरा आन। ४०७-२१
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

४७४-२०

[२] इन पंक्तियों में गोस्वामी जी के अनेक वाक्यों का निष्कर्ष दिया गया है। काल को उन्होंने कहीं विधि और कहीं ईश्वर लिखा है। देखिये—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फल हृदय विचारी॥

२०४-६

है। ऐसा कौन है जिसे उसने अपने डण्डे से न सीधा किया हो।[1] काल कर्म गुण स्वभाव ही का नाम नियतिचक्र है। इसी नियतिचक्र में संसार के समग्र जीव बँधे हुए हैं। ऐसा कौन जीव है जो इस निष्ठुर नियतिचक्र के अङ्कों का मेट सके।[2]

कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥
२७६ ६

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥
४६२ १

नियतिचक्र के वर्णन के सिलसिले में 'काल, कर्म स्वभाव, गुण' का कई स्थानों पर कई प्रकार से उल्लेख किया गया है। देखिये "कालहि करमहि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ" (४३३-१) काल कर्म सुभाव गुन भच्छक"। ४५६-२३। "काल करम विधि सिर धरि खोरी"। २६४-२७। "काल करम गति अघटित जाना" (२३४-८) 'काल करम सुभाव गुन घेरा' (४६३-७) "काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुमहिं न व्यापहि काऊ' (४६८-१०) आदि

[1]कालु सदा दुरतिक्रम भारी। ४-५ २२
कालु दण्ड गहि काहु न मारा॥३९१-२
[2]कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार।
६६ २१,२२

सो न टरइ जो रचइ बिधाता। तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि के अङ्का।
५०८ १०

ईस अधीन जीव गति जानी। (२७२-४)
काउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥
२०५ २४

करम प्रधान बिस्व रचि राखा॥ (२०५-१८)

जो ज्ञानी हैं वे यदि इस चक्र के कारण विषम दशाएं भी पाते हैं तो इसे "ईश्वरेच्छा बलीयसी" कह कर धैर्य ही धारण कर लेते हैं और जो मूर्ख हैं वे एकदम बिलबिला उठते हैं तथा कभी काल को कभी कर्म वा कर्मा दैवरूपी ईश्वर ही को दोष देने लगते हैं। नियतिचक्र के कारण जो जिस अवस्था में रख दिया गया है उसे उसी अवस्था में सन्तोष मानकर अपनी वास्तविक उन्नति का प्रयत्न करना चाहिये। इसी में उसे सुख मिल सकता है। अन्यथा नहीं।[1] यह अवश्य है कि उसके व्यावहारिक कर्म नियतिपरवश हैं[2] क्योंकि अपने व्यावहारिक कर्मों में वह अपने व्यक्तित्व का दायरा क़ायम रखकर ही आगे बढ़ता है। परन्तु अपने इस व्यक्तित्व ही को छिन्नभिन्न करने में—अपने आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कर्म करने में—परलोक सँवारने में—वह पूर्ण रूप

---

[1] नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत॥
३३१-२४

उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥
३३३-२०

जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥
काल करम बस होहि गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं।
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहि मन माहीं॥
२२८ ७ से ६

प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥
२६६-२२

[2] अनेक विद्वानों की तो राय है कि मनुष्य हर तरह के कर्म करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। केवल कर्मफल भोग के ही लिये वह परतंत्र है॥

से स्वतन्त्र है।[१] यदि इस ओर प्रयत्न न करके केवल "दैव दैव" कहकर कोई ईश्वर को दोष देता रहे तो यह उसकी मूर्खता ही है।[२]

माया ईश्वर की शक्ति है और इस प्रकार नियतिचक्र को भी ईश्वरेच्छा ही कहना चाहिये[३]। भगवान् चाहे तो विधिगति छेक सकते हैं, भावी को मेट सकते हैं। परन्तु ऐसा वे कब करते हैं? जब देख लेते हैं कि जीव उनके बताए हुए नियमों का अवलम्बन कर इस बात का अधिकारी हो गया है। यदि नियतिचक्र के प्रवर्तन और निवर्तन में कोई नियम ही न रहे तो नाटक का सब मजा ही किरकिरा हो जाय। इसीलिये भगवत् कृपा सम्पादन के हेतु भी जीवों को पुरुषार्थ की आवश्यकता है और इसके लिये भी वे स्वतंत्र हैं[४]।

इस पुरुषार्थ के लिये पहिले यह देखना चाहिये कि अविद्या के प्रधान अङ्ग कौन कौन हैं, उसका परिवार कैसा है, उसके प्रहार से किस प्रकार के मानस रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इत्यादि। तब फिर यह सोचने की जरूरत है कि इसे दूर करने के लिये किन उपायों का अवलम्बन किया जाय।

---

[१] कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ ४६३-८
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
४६२ २९

कालहिं करमहिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय॥४६३-१,२
[२] कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥
३६६-१३

[३] हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥३[illegible]-२४
[४] यह बात तुलसीदास जी के अनेक वाक्यों का सार लेकर निकाली गई है।

शरीर के सम्पर्क से चैतन्य में जीवत्व की भावना आती है अर्थात् वह देही होकर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को एक पदार्थ और उस व्यक्तित्व से भिन्न सम्पूर्ण जगत् को दूसरा पदार्थ समझने लगता है। यह द्वैतभाव ही अविद्या अथवा अज्ञान का प्रथम रूप है। इसी भाव के कारण वह "मैं" के साथ "मेरा" का सम्बन्ध जुटाता है----अपने उस क्षुद्र (संकीर्ण) व्यक्तित्व के लिये अनेकानेक सामग्रियों पर अपना आधिपत्य जमाता है—और "मैं—मेरा" से पृथक् पदार्थों को "तू—तेरा" की दृष्टि से देखने लगता है। इसी द्वैत बुद्धि का परिणाम है राग द्वेष का द्वन्द्व।[१] राग ही को काम और लोभ समझिये और द्वेष ही को क्रोध। इस प्रकार काम, क्रोध और लोभ ही अविद्या के सर्वप्रधान अङ्ग हैं।

गीता में कहा गया है:—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामःक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

गीता १६-२१

गोस्वामी जी भी कहते हैं:—

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि-बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥

३-२-७, ८

लोभ के ब्रह्मास्त्र हैं इच्छा और दंभ, क्रोध का ब्रह्मास्त्र है परुष वचन और काम का ब्रह्मास्त्र है नारी।[२] नारी रूपी ब्रह्मास्त्र तो, गोस्वामी

---

[१] द्वैत-बुद्धि बिनु क्रोध कि द्वैत कि बिनु अज्ञान।४६६-२१

[२] लोभ के इच्छा दंभ बलु काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बलु मुनिवर कहहिं बिचारि॥

२२२-९, १०

जी के मत में, "अति दारुण दुखद" और एकदम माया का रूप ही है। मनुष्य को इन्हीं महास्त्रों से बचने के लिये गोस्वामी जी स्थान-स्थान पर असन्तोष दम्भ आदि की निन्दा करके मिष्ट भाषण आदि की प्रशंसा करते गये हैं और इसी अभिप्राय से अन्य सन्तों और आचार्यों की तरह उन्होंने भी "नारी" की खूब निन्दा की है। काम क्रोध, और लोभ अति प्रबल खल तथा नरक के पन्थ बताए गये हैं सही परन्तु सृष्टि की रक्षा के लिये इन तीनों "खलों" की आवश्यकता भी है। इसीलिये ये विद्यमान हैं और इसीलिये महात्माओं के उपदेश सुनकर भी लोग इनकी सेवा करते ही जाते हैं। महात्मा लोग यह बात जानते हैं। जानबूझ कर भी वे लोग इन तीनों से बचते रहने का उपदेश देते हैं क्योंकि वे चाहते हैं कि लोग इनके चक्कर में यहाँ तक न फँस जायँ कि फिर धर्म का ही विरोध हो जाय। स्वयं भगवान् ने गीता में अपने को "धर्माविरुद्ध काम" कहा है।[१] गोस्वामी जी तक ने लोभी के दाम की तरह राम की ओर लोभ दिखाया है।[२] उन्होंने हरिहरनिन्दा करनेवाले

एहि के एक परम बलु नारी। तेहिते उबर सुभट सोइ भारी॥
३२१-६

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि।
तिन महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥ ३२४-१५, १६

अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि। ३२४-२५
दीप सिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहिं राम तजि काम मद करहि सदा सत संग॥ ३२५-२५, २६

१ धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥गीता अ० ७ श्लोक ११

२ कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम॥
५१०-३, ४

की जीभ काट लेने तक को जायज़ करार देकर सात्विक क्रोध को बहुत दूर तक स्वीकार कर लिया है।[1] साधुमत की दृष्टि से—व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि—भले ही इनके परित्याग की बात कह दी जाय[2] परन्तु लोकमत की दृष्टि से तो इनका समूल उन्मूलन नहीं वरन् इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेना ही अभीष्ट है। जो इन तीनों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेते हैं उन्हें ईश्वर ही समझना चाहिये।[3]

अविद्या के परिवार की तो कोई सीमा ही नहीं। मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मद (धनमद, प्रभुत्वमद, गुणमद, मानमद, यौवनमद) ममत्व, मत्सर, शोक, चिन्ता, मनोरथ, ईषणा (पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा, इत्यादि के नाम गिनाकर गोस्वामी जी कहते हैं कि माया का यह परिवार प्रबल भी है और अमित भी है।[4] रोगों का[5]

१संत संभु स्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। कान मूँदि न तु चलिय पराई॥

३५-१,२

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ।
सब परिहरि रघुबीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

३६१-१६,१७

३नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥

३३७ २२, २३

४"मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही" से लेकर—
"यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥"
तक। पृष्ठ ४७४, पंक्ति ७ से १६ तक।
५देखिये पृष्ठ ५, ४ पंक्ति ११ से २६।

रूपक देकर उन्होंने अविद्या माया के इसी परिवार की चर्चा दूसरी बार भी की है। वे कहते हैं कि मोह ही सब व्याधियों का मूल है। काम, क्रोध, लोभ ही बात, पित्त, कफ हैं। विषय मनोरथ ही अनेक प्रकार के शूल हैं। ममता और ईर्ष्या ही दाद, खाज हैं। हर्ष विषाद ही अपने विविध रोगकारी ग्रह हैं। परसुख देखकर जलना ही क्षयी है और मन की दुष्टता ही कुष्ठ है। अहङ्कार ही भयकर डमरू रोग है और दम्भ कपट मद मान ही नाहरू रोग हैं। तृष्णा जलोदर हैं और त्रिविध ईषणा ही तरुण तिजारी है। मत्सर और अविवेक ही दोनों प्रकार के ज्वर हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक कुरोग हैं जिनकी गिनती करना ही कठिन है। अविद्या परिवार के रोग रूपी इन सब दुर्गुणों का मूल है वही मोह-महामोह—व्यक्तित्वाभिमान। इसी का नाम है विशिष्ट व्यक्तित्व। इसी के लिये गोस्वामी जी ने कहा है—

संसृति मूल सूलप्रद नाना। अखिल सोकदायक अभिमाना॥
४०६-६

मोह सकल व्याधिन कर मूला। तातें पुनि उपजहिं बहु सूला॥
५०४-१२

इसलिये यदि अविद्या माया का उच्छेद करने के लिये पुरुषार्थ करना है तो केवल काम क्रोध, लोभ, या अन्य असंख्य दुर्गुणों में से दस बीस या पचीस को दमन कर लेने से काम न चलेगा। उसका उच्छेद तो तब होगा जब व्यक्तित्वाभिमान ही का विध्वंस कर दिया जाय।

व्यक्तित्वामान का विध्वंस तीन प्रकार से हो सकता है। या तो उसके प्रति अनासक्ति रखी जाय (यह वैराग्य का मार्ग हुआ) या उसे मिथ्या समझ लिया जाय (यह विवेक का मार्ग हुआ) या उसे भगवान् की ओर लगा दिया जाय (यह भक्ति का मार्ग हुआ) पिछले मार्ग की चर्चा अगले परिच्छेद में होगी। यहाँ तो हम प्रथम दो मार्गों की ही बातें कुछ विस्तार से बता देना चाहते हैं।

व्यक्तित्वाभिमान से अनासक्ति होना कोई आसान बात नहीं। जन्म-जन्मान्तर से हमारे हृदयों में जो व्यक्तित्वाभिमान दृढ़ होता चला आया है उसे शिथिल करने के लिये भी दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है[1]। इस अभ्यास का क्रम हमें धर्माचार्यों ने बताया है। उन्हीं की प्रेरणा से हम क्षुद्र व्यक्तित्व के बदले अपने महान् व्यक्तित्व की ओर अग्रसर होने और इस प्रकार क्रमशः समूची क्षुद्रता ही से विरक्त होकर आप ही आप व्यक्तित्वाभिमान से अनासक्त हो जाते हैं।

ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जिन्हें कीर्ति, भूति और सुगति प्रिय न हो। क्षुद्र व्यक्तित्व वाला मनुष्य भी एक ही समय के सुखोपभोग से शान्त नहीं हो जाता। वह चाहता है कि जीवन भर उसे ऐसा ही, बल्कि इससे भी अधिक सुखोपभोग मिलता जाय। यह हुआ भूति-प्रेम का श्रीगणेश। उसके विचारों का कुछ विकास होते ही वह परलोक की भी चिन्ता करने लग जाता है और सोचता है कि इस जीवन के बाद भी उसे सुखोपभोग की सामग्रियाँ मिलती रहें तो बड़ा अच्छा। यह हुआ सुगति प्रेम का श्रीगणेश। वह चूँकि समाज-सम्बन्ध है इसलिये वह यह भी चाहता है कि उसके आस-पास वाले उसके आड़े न आवें—उसे बुरा न कहें। यह हुआ कीर्ति-प्रेम का श्रीगणेश। धर्माचार्यों ने मनुष्य की इन प्रवृत्तियों को पहिचान कर इष्टापूर्त[2] और स्वर्ग नरक के अनेक रोचक आख्यान रच दिये हैं जिनके कारण वह कीर्ति भूति

---

[1] उपनिषद भी कहती है:—
जन्मान्तरशत भ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यास योगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥ मुक्तिक १४

[2] यज्ञ याग "इष्ट" है और कुएँ, तालाब आदि बनवाना "पूर्त" है। ये स्वर्ग के साधन माने गये हैं।

और सुगति की प्राप्ति के लिए धर्म की ओर[1] सरलतापूर्वक आकृष्ट होता है और इस प्रकार क्रमशः इहामुत्र-फलभोग से विरक्त होकर अविद्या माया पर विजय प्राप्त करता है। जो मनुष्य इस मार्ग में अग्रसर हुआ वह निश्चय ही महान् के समग्र में क्षुद्र का त्याग करता चला जायगा। यदि सद्यः लाभकारी जुए की ठेकेदारी और कीर्तिलिप्सा के बीच द्वन्द्व उपस्थित हुआ तो धर्मशील व्यक्ति उस ठेकेदारी का त्याग कर देगा। यदि ख़यानत किये हुए धन से इष्टापूर्त आदि रचकर कीर्ति कमा लेने की इच्छा और सुगति में द्वन्द्व हो रहा है तो धर्मशील व्यक्ति उस कीर्तिलिप्सा का त्याग कर देगा। यदि जगत्साम्राज्य और भगवत्प्राप्ति के बीच द्वन्द्व हो रहा है तो वह जगत्साम्राज्य का त्याग कर देगा।

परन्तु ऐसा त्याग एकदम नहीं बन पड़ता। वह घोर परिश्रमसाध्य है। धर्म को जानते हुए भी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को जानते हुए भी उस ओर से निवृत्ति नहीं होती।[2] धर्माचरण की ओर सतत परिश्रम करते रहने से ही उस ओर प्रवृत्ति और उसके विपरीत आचरण की ओर निवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। यही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। अधर्म सद्यः सुखदायक है—भले ही वह सुख क्षणिक हो—इसलिये क्षुद्र व्यक्तित्व वाले मनुष्यों का अधर्म की ओर झुकना स्वाभाविक है। मन की इस प्रवृत्ति के कारण अधर्माचरण बड़ा सुगम्‌ जान पड़ता है और धर्माचरण के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिये धर्म नीति का अधिकारी बनने के लिए केवल कीर्ति-भूति-सुगति—प्रियता ही की आवश्यकता नहीं है, वरन् यह भी आवश्यक है कि

---

[1] धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
१९८-२

[2] जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

धर्म धुर धारण करने की धीरता भी अपने पास हो।[१] जो धीरता के साथ धर्माचरण करता जायगा वह धर्म में ही वह मजा पाने लगेगा कि इसके आगे अपने प्राणों को भी तुच्छ ही समझेगा।[२] धर्म का प्रारंभ भले ही कष्टकारी हो परन्तु उसका परिणाम अतुल सम्पत्तियों का आकर रहा करता है। धर्मशील की सुख सम्पत्ति के विषय में गोस्वामी जी कहते हैं :—

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥
जिमि सरिता सागर पहँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बोलाये। धरमशील पहिं जाहिं सुभाये॥
१३४-१३ से १५

सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मशीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं॥
३२२-२१, २२

---

[१] धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
१६८ २

|
२

धर्म क्या है और अधर्म क्या है, यह परखना बड़ा कठिन है। गीता का कहना है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी इसके विवेचन में चक्कर खा गये हैं।[1] वही बात एक परिस्थिति में धर्म और दूसरी परिस्थिति में अधर्म हो जाती है। हम कुछ न करके चुपचाप बैठे रहें तो भी परिस्थितिभेद से हमारा वह मौन भाव कभी धर्म में और कभी अधर्म में परिगणित हो जायगा। धर्माचार्य लोग प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विवेचन कहाँ तक कर सकते हैं? इसलिये उन्होंने अक्सर धर्म की सर्वसामान्य मोटी-मोटी बातों ही पर खास जोर देकर गीता के शब्दों में कह दिया है कि :—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता १६-२४

यदि शास्त्र में भी व्यवस्था न मिले तो किसी तत्त्वदर्शी की शरण लेकर अपनी जिज्ञासा शान्त कर लेनी चाहिये।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ गीता ४। ३४

गोस्वामी जी ने अपने मानस में अनेक स्थलों पर धर्मतत्त्वों की चर्चा की है। उन सबका क्रमबद्ध संग्रह कल्याणमार्गियों के लिये—और कल्याणमार्गी ही क्यों, सर्वसाधारण के लिये भी—अध्ययन की एक सुन्दर वस्तु है। गोस्वामी जी के धर्मसिद्धान्तसम्बन्धी वाक्य तीन खण्डों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहिला खण्ड है व्यक्तिपरक, दूसरा है कुटुम्बपरक और तीसरा है राष्ट्रपरक। पहिले खण्ड में पुरुषों की परख उनके वैर प्रीति आदि की बातें, उनके विशिष्ट धर्म अर्थात् (१) सत्सङ्ग (२) सेवाधर्म और परहितव्रत (३) श्रद्धा-विश्वास और सन्तोष

[1] किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः॥ गीता ४। १६

(४) सत्य और अहिंसा तथा (५) यज्ञ, दान, तप, जप और अर्चा की चर्चा, युगधर्म का विवेचन और धर्मरथ का सुन्दर रूपक अभिहित होगा। दूसरे खण्ड में गार्हस्थ्य नीति की समूची बातें यथा माता, पिता की सेवा, बन्धुओं का महत्त्व, पुत्रों की परख, नारी का धर्म, सु और कु गार्हस्थ्य तथा जातीय सम्मान की बातें होंगी। तीसरे खण्ड में राजनीति का सब विषय आ जायेगा।

गार्हस्थ्य धर्म की बहुत सी बातें जीवकोटि वाले परिच्छेद में आ चुकी है। यहाँ उन्हें दुहराना व्यर्थ है। राजनीति के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने अनेकानेक सुन्दर बातें कही हैं। शासन के आदर्श के सम्बन्ध में तो राम राज्य का पूरा प्रकरण ही मनन करने योग्य है। (देखिए पृष्ठ ४५३ से ४५४ तथा आगे की भी पंक्तियाँ) इसी प्रकार पृष्ठ ४५८ में पंक्ति ३ से १२ तक राम के प्रताप का जो वर्णन आया है वह भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य ही है। आदर्श शासन में राजा को मूर्तिमन्त विवेक होना चाहिये, मन्त्री को परम निर्लोभी मूर्तिमन्त वैराग्य का तरह रहना चाहिये; राज्यस्थल को न केवल सुन्दर वरन् पवित्र भी बना रहना चाहिये, सैनिकों को मूर्तिमन्त यम नियम की भाँति व्यवस्थापक और उपकारी होना चाहिए, रानी को शान्ति सुमति और शुचिता के सौंदर्य का मूर्तिमन्त अवतार होना चाहिये। राजतन्त्र के शेष जितने अङ्ग हैं उन सबसे सम्पन्न होकर वह सुराजा जब सदैव हरिभक्तिपरायण रहेगा, तभी दुर्जन राजमद पर विजय प्राप्त करके मोहरूपी द्वीप का उसके दलबल सहित परास्त कर सकेगा। और इस प्रकार वह न केवल निष्कंटक होकर राज्य सचालन ही करेगा वरन् अपने उस आदर्श शासन के द्वारा वह प्रजाजनों के लिये सुख, सम्पत्ति और सुकाल के अक्षय भंडार भी भरता जायगा।[१]

---

[१] सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। साति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥

एक अन्य स्थल पर भी गोस्वामी जी ने सचिव को मूर्तिमन्त सत्य, रानी को मूर्तिमती श्रद्धा, सहचारी को मूर्तिमन्त लक्ष्मीपति सर्वलोकहितकारी विष्णु, कोष को धर्म अर्थ काम मोक्ष का सहायक तथा अक्षय आश्रय-स्थान और प्रदेश को सुन्दर तथा पवित्र बना कर इसी आदर्श शासन का चित्र खींचा है।[1] सुराज्य की महिमा के सम्बन्ध मे वे कहते हैं :--

राम वास बन सम्पति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥
२६१-१३

अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराजु मंगल चहुँ ओरा ॥
२६१-१५

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ ॥
३३५-६

विविध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥
३३५-१४

उनके सुराज का उद्देश्य है "पुर नर नारी" को "सुभग, सुचि, सन्त धरमसील, ग्यानी, गुनवन्ता" (१०१-८) बनाना। उनके सुराज्य मे "सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहि स्वधरम निरत स्रुति नीती ॥ (४५३-१३) ही अभिप्रेत है।

सकल अंग सम्पन्न सुरराऊ। रामचरन आस्रित चित चाऊ ॥
जीति मोह महिपाल दल सहित विवेक भुआलु।
करत अकंटक राज्य पुर सुख सम्पदा सुकालु ॥
२६१-१४ से १८

[1]सचिव सत्य सद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेश देस अति चारू ॥
२१०.२६, २७

शासन के आदर्श की इस प्रकार चर्चा करके गोस्वामी जी शासन की नीति के सम्बन्ध में भी सुन्दर वाक्य कहते हैं। वे कहते हैं "राजु कि रहइ नीति बिनु जाने" (४९७-१) तथा "कुमन्त्र ते राजा ... नासहिं बेगि नीति अस सुनी" (३१२-१८, १६) वे "राजु नीति बिनु" को 'समफल" ही समझते हैं। (३१२-१६, १७) वे दमन व्यवस्था को--भय को—प्रीति सम्पादन का साधन मानते हुए कहते हैं "भय बिनु होइ न प्रीति" (३६६ ८) "रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई ॥" (३१०-१६)। परन्तु दमन को--दण्ड को—राजनीतिचतुष्टय के अन्तर्गत करके वे साम दाम दण्ड भेद चारों को ही सद्धर्म पर आश्रित बना देते हैं और इस प्रकार अपनी राजनीति कूटनीति की चालबाजियों से एकदम दूर हटा लेते हैं [१]।

शासक किस प्रकार का होना चाहिये इस विषय में भी गोस्वामी जी ने बहुत उत्तम उक्तियाँ कही हैं। इस सम्बन्ध मे निम्न लिखित कुछ पंक्तियाँ देखने योग्य हैं।

साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥
४६-३

गुरु सुर सन्त पितर महि देवा। करइ सदा नृप सब कै सेवा ॥
७४-२२

दिन प्रति देइ विविध विधि दाना। सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना ॥
७४-२४

१ साम दाम अरु दण्ड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥
नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये ॥
धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिवस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आये सुनहु कोसलाधीस ॥
३६१-१४ से १७

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
१९७-१६

मुनि तापस जिन्ह से दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावकु दहहीं।
२१९-५

कहहुँ साँचु सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमसील नरनाहू॥
२३९-१९

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकवि सराहहिं सोइ॥
२८८-१४, १५

तुम्ह सुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥
मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥
राज्य धरम सरबसु एतनोई। जिमि मनमाहँ मनोरथ गोई॥
२९१-२४
२९२-१ से ३

इनमें से प्रत्येक पंक्ति पर बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु अन्तिम उद्धरण तो एकदम मार्के का ही है। उसकी गम्भीरता भलीभाँति मनन करने योग्य है। पृष्ठ १८ मे पंक्ति १० से १५ तक प्राकृत महीपालों का जो स्वभाव गोस्वामी जी ने बताया है उसमे राजनीति के अनेक तत्व कूट-कूट कर भर दिये गये हैं।

शासक जिस प्रकार का हो उसी प्रकार के उसके परिजन (भृत्य) और वैसे ही प्रजाजन भी होने चाहिये। यही सामान्य नियम है। "परिजन प्रजउ चहिय जस राजा" (२६७-६)। इसीलिये शासक और शासित का अन्यान्य सम्बन्ध रहा करता है। दोनों के सहयोग ही में शासन का कल्याण है। यही विचार शासक के निर्वाचन में पचों का

मत आवश्यक मानते हुए गोस्वामी जी ने राजा दशरथ के मुख से कहलाया है —

"जो पाँचहिं मत लागइ नीका। करहु हरष हिय रामहिं टीका॥"
१७२-२

शासक के लिये राजमद से बढ़ कर विघातक वस्तु और कोई नहीं है। इसी मद में आकर कोई राजा कामान्ध हो उठता है, कोई लोभान्ध हो उठता है, कोई धर्मान्ध हो उठता है और इस प्रकार प्रजारक्षक बनने के बदले प्रजाभक्षक बन बैठता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि यह राजमद यद्यपि महा कठिन है तथापि साधुसभा सेवन से — सत्संग से—इसका निग्रह किया जा सकता है। देखिये—

नहि कोउ अस जन्मा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥
३२-१८

जग बौराइ राजपद पाये। २५८-७४

कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सबतें कठिन राजमद भाई॥
२५९-२६

जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिन साधु सभा जेहि सेई॥
२६०-१

इसीलिये शासक यद्यपि "भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय" (३२१-१५) की नीति के अनुसार किसी का वशी होकर नहीं रहा करता तथापि उसे चाहिये कि अपने को राजमद से बचाने के लिये वह दो चार ऐसे सलाहकार अवश्य रखे जो उसकी प्रसन्नता अप्रसन्नता का विचार न करते हुए उसे नेक सलाह दे सकें।

लोकमत में राष्ट्रपरक धर्म की बड़ी महत्ता है इसलिये गोस्वामी जी की राजनीति भी मार्के की बन पड़ी है। व्यक्तिपरक धर्म की आवश्यकता

तो लोकमत तथा साधुमत दोनों ही में है। इसलिये इस सम्बन्ध में यदि गोस्वामी जी ने बहुत सी बातें लिखी हैं तो उचित ही है।

नीतिशास्त्र मे पुरुष की परख एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। पुरुष की परख अवसर पड़ने पर और उसका स्वभाव देखकर ही की जाती है।[1] परख के बिना संग्रह और त्याग की बात ही नहीं बन सकती।[2] सत्संग के लिये संग्रह-त्याग का यह विचार अत्यन्त आवश्यक है। महापुरुष इस संसार में बहुत विरले हैं। हीनजन ही अधिकांश देखे जाते हैं।[3] इन दोनों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने उसी प्रकार अनेकानेक सूक्तियाँ कही हैं जैसी उन्होंने सज्जनों और असज्जनों के सम्बन्ध में कही हैं। मनुष्यों का आकर्षण और विकर्षण छिपा नहीं रहता—बैर और प्रेम दुराये नहीं दुरते।[4] जिसका जिस ओर स्वार्थ होगा—जहाँ हित जान पड़ेगा जिससे मन की प्रवृत्ति का मेल बैठ जायगा—वह उसी ओर आकृष्ट भी हो जायगा[5]। और जिस पदार्थ के लिए सच्चा आकर्षण होगा उसके मिल जाने में भी कोई संदेह नहीं है[6]।

---

१ कसे कनकु मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखियहि समय सुभाये॥ २१६-२१

२ संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने। ६-११

३ जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥ २७६-५

४ लखब सनेह सुभाय सुहाये। बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराये॥ २४४ २८

५ जेहि ते कुछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥ ४८२-१०

६ जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू॥ १२०-२

पुरुष की परख के साथ ही साथ पुरुष की प्रवृत्ति के इस सिद्धान्त की परख भी नीतिशास्त्र में परम आवश्यक मानी गई है।

व्यक्ति के जिन विशिष्ट धर्मों की गोस्वामी जी ने विशेष रूप से चर्चा की है वे इस प्रकार हैं :—

(१) सत्संग

इस सम्बन्ध में हम सप्तम परिच्छेद में विशेष रूप से लिखनेवाले हैं इसीलिये यहाँ इसका उल्लेख मात्र पर्याप्त है।

(२) सेवाधर्म और परहितव्रत

इस सम्बन्ध में भी सप्तम परिच्छेद में विशेष रूप से लिखा जायगा; यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि गोस्वामी जी ने लोकसेवा को परम धर्म कहा है।[1] जो लोक सेवा में तत्पर रहता है वह, उनके मत में, कभी दुखी रह ही नहीं सकता।[2]

(३) श्रद्धा विश्वास और सन्तोष

गोस्वामी जी का कहना है कि श्रद्धा के विना कोई धर्म ही नहीं हो सकता, विश्वास के विना कोई सिद्धि ही नहीं मिल सकती और सन्तोष के विना हृदय को विश्राम ही नहीं मिल सकता।[3] काम और लोभ का-

---

१ श्रुति कह परम धरम उपकारा। ४३-४

परहित सरिस धरमु नहिं भाई। ४२१-२५

२ कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें॥ ४६६-२६

३ श्रद्धा बिना धरमु नहीं होई। ४८३-११

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। ४८३-११

कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज सन्तोप बिनु। ४८३-१०

शोषण करने वाला यदि कोई है तो सन्तोष।[1] सन्तोष का यह अर्थ नहीं है कि भाग्य के भरोसे बैठकर प्राप्ति के सभी प्रयत्न ढीले कर दिये जायँ। दैव दैव की पुकार करना तो हृदय की कायरता का चिह्न है—आलसियों का काम है[2] सच्चा सन्तोष वह है जो प्रयत्नों का बाधक न होकर, हृदय की शान्ति स्थापित करके, उनका साधक बना रहे।

(४) सत्य और अहिंसा

गोस्वामी जी सत्य को सब सुकृतों का मूल समझते हैं और इसके आगे 'तनु तिय तनय धाम धनु धरनी'' आदि सबको तृणवत् तुच्छ मानते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य के समान कोई दूसरा धर्म ही नहीं है।[3] जो हाल सत्य का है वही अहिंसा का है। जैसे सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं वैसे ही दया (अहिंसा) के समान भी कोई दूसरा धर्म नहीं। यह अहिंसा परम धर्म है[4]।

---

[1] जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोषा। ३३५-२२
बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। ४८३-१०

[2] कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥
३६६-१३

[3] सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। १८१-३
तनु तिय तनय धाम धनु धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी।
१८३२५

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
२०७-१

[4] धरम कि दया सरिस हरिजाना।४७५-५
परम-धरम स्रुति विदित अहिंसा ५०४-५

(५) यज्ञ तप दान जप और अर्चा

भगवद्गीता में यज्ञ तप और दान को प्रधान धर्म माना गया है[1]। गोस्वामी जी के समय में यज्ञों की वह महत्ता रह ही नहीं गई थी। इतना ही नहीं वे संकल्पात्मक समझे जाकर कल्याणमार्ग के लिये अनिष्टकर कहे जाते थे। इसीलिये उनकी शक्ति को स्वीकार करते हुए भी गोस्वामी जी ने यज्ञविध्वंस के प्रकरणों को बिना टीकाटिप्पणी के ही रहने दिया है। दक्षयज्ञ, मेघनादयज्ञ रावणयज्ञ का बराबर विध्वंस हुआ। उन यज्ञों से अमोघ फल मिल सकता था परन्तु वे शिव कल्याण के साधक न थे इसलिये नष्ट किये गये। विश्वामित्र का यज्ञ विश्व-कल्याण की साधना के लिये था इसलिये उसकी रक्षा की गई। गोस्वामी जी के मतानुसार यज्ञ याग त्रेता युग का धर्म है आजकल का नहीं। इसी प्रकार यद्यपि तप की भी उन्होंने बड़ी उपयोगिता स्वीकार की है और ब्रह्मा विष्णु महेश सभी को तपस्वी बताते हुए 'तपते अगम न कछु संसारा' कहकर 'तेजविस्तार' के लिये इसे आवश्यक माना है फिर भी उनका सिद्धान्त है कि यह सतयुग का धर्म है आजकल का नहीं।[2] दान को वे आजकल के लिये भी आवश्यक स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं :—

---

[1] यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ गीता १८-५
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ गीता १७-२४

[2] तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा । ३८-१४
जनि आचरजु करहु मन माहीं । सुत तपते दुरलभ कछु नाहीं ॥
तपबल तें जग सृजइ बिधाता । तपबल बिस्नु भये परित्राता ॥

प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान।
येन केन विधि दीन्हे दान करइ कल्यान ।। ४६१-१, २

आजकल दानतत्त्व की जैसी दुर्व्यवस्था है वैसी शायद पहिले कभी नहीं थी। तब 'येन केन विधि' दान को कल्याणकर बताकर दानतत्त्व का विशेष विवेचन न करना कहाँ तक उचित था यह श्री गोस्वामी जी महाराज ही जानें। बहुत सम्भव है कि उन्होंने जानबूझकर यह बात कम कही हो। कलियुग में मनुष्य स्वभावत: ही स्वार्थी और अतएव संग्रहशील रहते हैं। उनकी संग्रहशीलता के कारण राष्ट्र में आर्थिक वैषम्य होना स्वाभाविक ही है यह वैषम्य या तो साम्यवाद की टोकरी से दूर हो सकता है या दान धर्म की प्रेरणा से। संग्रहशीलता के लिये जिस प्रबल प्रयत्न, अनवरत उद्योग, निःसीम धैर्य और विशिष्ट शक्ति की आवश्यकता होती है, साम्यवाद उसको कुंठित किये बिना रह नहीं सकता। इन शक्तियों को कुंठित करना मानो राष्ट्र ही को कुंठित करना है। इसीलिये भारतीय आचार्यों ने साम्यवाद के बदले दानवाद की चर्चा की है। इस दानवाद के कारण अकिंचनों के अभाव दूर हो जाया करते थे, निराश्रितों को आश्रय मिल जाया करते थे, विचारशील ब्रह्मनिष्ठों की जीविका के साधन जुट जाया करते थे, मठों देवालयों, धर्मशालाओं अन्नछत्रों आदि के रूप मे आगन्तुकों के लिये विश्रान्तिस्थान तैयार रहा करते थे, बाग बागीचे कुएँ तालाब आदि बनवाये जाकर राष्ट्र के हितों का साधन हुआ करता था, इसी प्रकार न जाने कितने उपायों से समाज में साम्य स्थापन हो जाया करता

तपबल संभु करहिं संहारा। तपतें अगम न कछु संसारा ।।
७८-७ से ६.

ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे ।।
१०३-२१

था। गोस्वामी जी के समय में भी न तो सब मठ मन्दिर आदि ही दूषित थे और न सब साधू ब्राह्मण पण्डे पुरोहित आदि। फिर वे कुटिल आलोचक की भाँति दानतत्त्व के विवेचन का झंझट उठाते ही क्यों। सुपात्र कुपात्र का विवेचन जिसे करना हो वह करता रहे। उन्होंने तो कलियुग में दानधर्म की आवश्यकता देखी और इसलिये उसका महत्त्व गा दिया। एक बात और है। उन्होंने कलि के लिये तो "केवल हरि नाम अधारा" की ही खूब चर्चा की है।[1] दानधर्म के इस महत्त्व को तो भागवत आदि पुराणों के आधार पर[2] केवल कहीं कहीं ही लिख दिया है। इसलिये यदि उसका विस्तृत विवेचन नहीं किया गया तो कोई आश्चर्य नहीं।

जप और अर्चा पर गोस्वामी जी ने पूर्ण विश्वास प्रकट किया है परन्तु अर्चा को—मूर्तिपूजा को—वे द्वापर का धर्म मानते हैं।[3] इसलिए वर्तमान भारतीय समाज को उन्होंने मठ मन्दिर मूर्ति आदि के विशेष पाठ न पढ़ाकर नामजप ही की अधिक सलाह दी है। उनके मत में कलि के लिये नामजप के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। वैधी

---

[1] कलियुग जोग न जग्य न ध्याना। एक अधार राम गुन गाना।।
४६०-१७

[2] कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैधृतः।
सत्य दया तपो दानमितिपादा विभोर्नृप।।

× × ×

कलौ तु धर्म हेतूना तुर्यांशोऽधर्म हेतुभिः।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति।।

भागवत १२।३।१८, २४

[3] द्वापर परितोषन प्रभु पूजे। ६७-२१

भक्ति पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने वाले सज्जनों को गोस्वामी जी का यह दृष्टिकोण भली भाँति समझ रखना चाहिये। सप्तम परिच्छेद में नामजप की भी पर्याप्त चर्चा होगी। इसलिये व्यक्ति के विशिष्ट धर्मों का प्रकरण हम यहीं समाप्त करते हैं।

गोस्वामी जी ने युगधर्म की जो चर्चा की है वह भली भाँति ध्यान देने योग्य है। समय के प्रवाह से समाज के भावों में भी उन्नति अवनति होती रहती है। जब समाज पूर्ण समृद्ध सदाचारी और विकासशील रहता है तब हम उस युग को सतयुग कहते हैं। जब उससे कुछ निम्न अवस्था आती है और स्वार्थ तथा द्वेष की मात्रा स्पष्ट होता है तब त्रेता युग आता है। जब पाप और पुण्य का द्वन्द्व खूब स्पष्ट होता है तब द्वापर आता है और जब पाप ही का पूर्ण प्रभाव देखा जाता है तब हम उस युग को कलियुग कहने लगते हैं। अपनी पैनी विचारदृष्टि से गोस्वामी जी ने कलियुग के रूप को खूब बारीकी से देखा था। उनका कलिधर्मवर्णन बड़ा सुन्दर है (देखिये पृष्ट ४८७ से ४९०)। वे कलियुग का ऐसा वर्णन करके बताते हैं कि चारों युगों में एक ही प्रकार का धर्म नहीं चल सकता। मनुष्य की मानसिक स्थिति के अनुसार धर्म के नियमों में भी हेरफेर होना चाहिये। जो सतयुग के लिये सुकर था वह कलियुग के लिये सुगम नहीं हो सकता। इसीलिये उन्होंने प्राचीन आचार्यों का अनुकरण करते हुए[1] ध्यान (योग अथवा तप) को

---

[1] कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कृतयुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता विविध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलियुग केवल हरिगुनगाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
४९०-११ से १६

सतयुग के लिये, यज्ञ (अथवा भगवन्निमित्तिक कर्म) को त्रेता के लिये, पूजा अर्चा को द्वापर के लिये और केवल नाम-जप को कलियुग के लिये प्रशस्त माना है।

कलिसम्बन्धी इस युगधर्म के विषय में गोस्वामी जी की एक बात हमारी समझ में नहीं आई। वे कहते हैं कि "कलि कर एक पुनीत प्रतापा, मानस पुन्य होहिं नहिं पापा" (४९०-२०)। पुण्यों की बात जाने दीजिये। पाप ही को लीजिये। अब क्या इस वाक्य से यह समझा जाय कि कलियुग में मानस पाप को पाप न कहना चाहिये? एक कन्या का आलिंगन पुत्री भाव से भी हो सकता है और कान्ताभाव से भी। तब क्या उस कृत्य की औचित्य-अनौचित्य-चर्चा में हृदगत भाव की ओर कुछ भी विचार न किया जायगा? दूसरे का माल अपने पास रख लेना ही जुर्म नहीं है। जुर्म तो नीयत की बदी को देखकर ठहराया जाता है। फिर, गीता का सिद्धान्त भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि[1] विषयों का ध्यान करने से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्ति से क्रमशः काम, क्रोध, संमोह स्मृतिविभ्रम, बुद्धिनाश और सर्वनाश हो जाता है। हमारे मानस-सङ्ग से ही हमारे स्वभाव और संस्कारों का निर्माण होता है और स्वभाव तथा संस्कारों के अनुसार ही हमारे आचार व्यवहार हुआ करते हैं। इसलिये कलियुग में मानस पाप होते ही नहीं और पापों की रेख केवल क्रियाओं तक परिमित है यह कहना कहाँ तक उपयुक्त होगा? रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार बैजनाथ जी इस पंक्ति की

---

[1] ध्यायतो विषयान् पुन्सः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ गीता २। ६२,६३

टीका में लिखते हैं कि जो रामानुरागी धर्मात्मा हैं वे कलियुगी नहीं कहे जा सकते इसलिये वे यदि मन में पाप लावें तो जरूर ही पाप लगेगा। श्री सावन्त महोदय (जनकसुताशरण शीतलासहाय जी) अपनी 'मानसपीयूष' टीका में यथार्थ ही लिखते हैं कि गोस्वामी जी की पंक्ति का वह भाव नहीं जान पड़ता। इतना कहते हुए भी वे मानते हैं कि "पापकर्म न हो इसके लिए मन से भी पाप का चिन्तन न करना चाहिये यह अवश्य है"। (मानसपीयूष उत्तर काण्ड पृष्ठ ७६८)। तब फिर या तो गोस्वामी जी ने यह बात श्रीमद्भागवत के श्लोक[1] के अनुकरण मे योंही कह दी है या फिर उन्होंने इसे इसलिये कहा है कि जिसमें कलि के कुटिल और दुर्बुद्धि जीव भी धर्माचरण की ओर उत्साहित हो जायँ और कम से कम, अपने आचरणों पर - कृत्यों पर—तो नियन्त्रण प्रारम्भ कर ही दे। हमे यह दूसरा मत ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

[2] यह बात नहीं है कि युगधर्म सब मनुष्यों के लिये समान रहता

---

[1] नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक ॥
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥
भागवत १। १८। ७

[2] नित जुगधर्म होहिं सब केरे। हृदय राममाया के प्रेरे ॥
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धरम हरष भय मानस ॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥
बुध जुग धरमु जानि मन माहीं। तजि अधरम रति धरम कराहीं ।
४९१-३ से ८

हो। प्रत्येक के मनुष्य हृदय में नित्य ही चारों युगों का चक्र चला करता है। जब हृदय में शुद्ध सात्विकता विद्यमान हो तब समझना चाहिये कि उसके लिये सतयुग है। जब रजोगुण का कुछ प्रभाव पड़ कर कर्मों की ओर रति होने लगे तब समझना चाहिये कि उस हृदय के लिये त्रेतायुग आ गया। जब रजोगुण का शेष दो गुणों की अपेक्षा विशेष आधिक्य होने से हृदय में हर्ष शोक आदि भाव डेरे डालने लगें तब समझना चाहिये कि उस व्यक्ति के लिए द्वापर आगया और जब तमोगुण का आधिक्य होने से विरोधपूर्ण हृदय हो जाय तब समझना चाहिये कि कलियुग आ गया। विद्वान् लोग हृदय के उस युगप्रवाह को पहिचान कर तदनुकूल युगधर्म का आचरण किया करते हैं। इस तरह प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रत्येक युग के धर्म की आवश्यकता रहती है। परन्तु जिस समय जिस युग की प्रधानता रहती है। उस समय के मानवों में उसी युग का विशेष प्रभाव भी रहता है। इसलिये उनके हेतु उसी युग के अनुकूल धर्म की व्यवस्था भी प्रधानरूप से की जाती है।

व्यक्तिपरक धर्म के सम्बन्ध में अन्तिम बात जो हम यहाँ लिखना चाहते हैं वह है धर्मरथ का रूपक। यदि रूपक अलंकारिक वर्णन हटा लिया जाय तो उस प्रसंग का तात्पर्य यह होगा कि जिस धर्मभाव का प्रेरक है भगवद्भजन और प्रसारक है बल विवेक दम तथा परोपकार, जिस धर्मभाव की स्थिति है शौर्य तथा धैर्य पर और गौरव है सत्य तथा शील के कारण, जिस धर्मभाव के प्रसार का नियंत्रण क्षमा कृपा और समत्वबुद्धि द्वारा हुआ करता है, जिस धर्मभाव पर आरूढ़ होने वाले के पास वैराग्य, सन्तोष, दान, सद्बुद्धि, विज्ञान, शम, यम नियम आदि की शक्तियाँ हैं तथा विप्रगुरुसेवा रूपी रक्षा का साधन विद्यमान् है, उस धर्मभाव वाला व्यक्ति संसार में बिना चेष्टा के ही अजेय बन जाता

है वह सहज ही निखिल संसार का हृदयसम्राट् बन सकता है।[1] इस प्रसङ्ग में धर्म के २१ अङ्गों की चर्चा करके तथा अस्त्र शस्त्रों के वर्णन में "नाना" शब्द का प्रयोग करके गोस्वामी जी ने यह बता दिया है कि धार्मिक नियमों अथवा धर्म के अङ्गों की संख्या की कोई सीमा न हो।

जो किसी पदार्थ का विशिष्ट गुण—उस पदार्थ के अस्तित्व के लिये आवश्यक है—उसे ही उस पदार्थ का धर्म कहते हैं। जैसे जलाने को अग्नि का धर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि पूर्णत्व की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही जीव का धर्म है। हमारे हृदय की विकासशील क्रिया ही पुण्य अथवा धर्माङ्ग कहावेगी और ह्रासशील क्रिया को ही हम पाप कहेंगे।[2] यदि हमने पूर्णत्व की प्रसन्नता—अनुकूलता—के लिये कोई कार्य किया तो वह होगा धर्म। और यदि अपूर्णत्व—अपने क्षुद्र व्यक्तित्व—की प्रसन्नता के लिये ही कोई कार्य किया तो वह होगा अधर्म। हमारा धर्माचरण जितना दृढ़ होता जायगा हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व की ओर से हमारा वैराग्य भी उतना ही दृढ़ होता जायगा। यदि हम सच्चे धर्मशील हैं तो संसारिक

---

[1] सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिज्ञान कठिन कोदण्डा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। येहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्म मय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥
४१२-६ से १३

[2] विशेष विवरण के लिये लेखक का जीव-विज्ञान ग्रन्थ देखा जावे।

वैभवों की ओर, स्वर्ग प्राप्ति की ओर, यहाँ तक कि अपने एक व्यक्तित्व की मुक्ति की ओर भी हम कुछ ध्यान न देंगे। इस लोक और परलोक के फलभोगों की ओर जो ऐसी विरक्ति हो जाती है उसी का नाम है वैराग्य ऐसा वैराग्य आते ही न तो फिर संकल्पक कर्मों की आवश्यकता रह जाती है और न व्यक्तित्वाभिमान पर आसक्ति।

किसी कामना के वश जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनप्रद ही रहा करते हैं। सकाम भाव से यदि हमने अच्छे कर्म किये—धर्माचरण किये—तो स्वर्णश्रृंखला चली अर्थात् स्वर्ग, देवत्व पुण्य की क्षीणता में फिर मनुष्यत्व, फिर देवत्व, आदि। यदि बुरे कर्म किये—अधर्माचरण किये—तो लौह श्रृंखला चली अर्थात् नरक, तिर्यक्योनित्व इत्यादि का चक्कर लगा। हाँ, यदि वैराग्यपूर्ण हृदय से निष्काम कर्म होते रहे तब फिर बन्धन का कोई सवाल ही नहीं रह जाता।

वैराग्य कुछ आप ही आप तो होता नहीं है। जब महान् के संग्रह की इच्छा होगी तभी तो क्षुद्र के त्याग की बात आवेगी। संग्रह की यह इच्छा हो ही कैसे सकती है जब तक कि हमें उस महान् का कुछ ज्ञान अथवा भान न हो जाय। इसलिये वैराग्य का मार्ग ज्ञान का सहारा किये बिना हमें अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँचा सकता ऐसा कई आचार्यों का मत है। जब पूर्णत्व का ज्ञान होने पर—सच्चे स्वरूप की सच्ची पहचान होने पर—सकाम कर्मों से आप ही आप उपरति हो जाती है[1] और इस ज्ञान के बिना वैराग्य दृढ़ नहीं होता तब फिर वैराग्यमार्ग—कर्ममार्ग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग ही श्रेष्ठ और मोक्षप्रद ठहरा। गोस्वामी जी ने कदाचित् इसीलिये "ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना" (३०८४) कह कर केवल ज्ञानमार्ग के साथ ही अपने भक्तिमार्ग की तुलना की है और वैराग्यमार्ग का कोई स्वतंत्र उल्लेख

---

[1]करम की होहिं स्वरूपहिं चीन्हे। ४९६ २५

नहीं किया है। फिर भी सच्चे समन्वयमार्गी की भाँति उन्होंने अपने भक्तिमार्ग में वैराग्य और विवेक दोनों को समेट लिया है और इस प्रकार न केवल वेदान्त के ज्ञानमार्ग को वरन् गीतोक्त निष्काम कर्मयोग मार्ग—अनासक्तियोग मार्ग—को भी अपने भक्तिमार्ग का प्रतिरूप बताकर उन्होंने वैराग्यमार्ग—कर्ममार्ग—की भी पूर्ण महत्त्वरक्षा कर दी है।

व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस के लिये जो दूसरा मार्ग बताया गया था वह विवेकमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग है। विरक्ति में चेष्टा छिपी हुई है विवेक में विचार क्रीड़ा कर रहा है। हम कौन हैं तुम कौन हो वे कौन हैं इत्यादि का विचार करते करते मनुष्य आसानी से ब्रह्म, जीव और माया तत्त्व तक पहुँच जाता है। असल कठिनता जो है वह इन्हीं तीनों तत्त्वों का वास्तविक रहस्य समझने में है। बड़े बड़े दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपना जीवन खपाया; परन्तु इन तीन तत्त्वों के सम्बन्ध में सर्वजन सम्मत सिद्धान्त अभी तक भी स्थिर न कर पाये। भारतीय दर्शनशास्त्रों में वेदान्त दर्शन ही ऐसा कहा जाता है, जिसने इन तीन तत्त्वों की गुत्थियाँ सर्वतोऽधिक सग्राह्यरूप में सुलझाई हैं। परन्तु इस दर्शन के सुयोग्य भाष्यकारों ने अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि निकाल कर वह गुत्था फिर उलझा सी दी है। इन अनेक वादों में अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद ही मुख्य हैं। शेष वाद किसी न किसी प्रकार इनके अन्तर्गत हो जाते हैं। अद्वैतवाद के आचार्य हैं श्रीशंकराचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद के आचार्य हैं श्रीरामानुजाचार्य। यदि शंकर कहते हैं कि ब्रह्म केवल निर्गुण है तो रामानुज कहते हैं कि वह केवल सगुण है। यदि शङ्कर कहते हैं कि जीव और जगत् मिथ्या है तो रामानुज कहते हैं कि चित् (जीव) और अचित् (जगत्) उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ईश्वर (ब्रह्म)। यदि शङ्कर कहते हैं कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं—भेद की भावना केवल भ्रम है, तथा उनका वह ऐक्यज्ञान ही मोक्ष है तो

रामानुज कहते हैं कि वे दोनों न एक हैं, न हो सकते हैं, इसलिये भक्तियोग अथवा उपासनायोग ही जीव के परम कल्याण का एकमात्र मार्ग है। तब ऐसी स्थिति में सहज ही प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस के लिये जिस विवेकमार्ग की चर्चा की गई थी, वह अद्वैत मत की ओर झुका हुआ होना चाहिये कि विशिष्टाद्वैत मत की ओर और गोस्वामी जी ने तत्त्वविवेचन में अद्वैत का पल्ला पकड़ा है कि विशिष्टाद्वैत का।

गोस्वामी जी ने ब्रह्मतत्त्व को जिस प्रकार समझा और समझाया है, वह चौथे परिच्छेद में बता दिया गया है। उन्होंने माया के तत्त्व को जिस प्रकार समझा और समझाया है, उसकी चर्चा इसी पञ्चम परिच्छेद के प्रारम्भ मे कर दी गई है। उन्होंने जीवतत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह व्यक्तित्वाभिमानविध्वंश के प्रसङ्ग में विशेष रूप से उपयोगी है।

व्यवहारदृष्टि से प्रत्यक्ष देखने पर तो हमें यही विदित होता है कि[1] जीव मायावश और अतएव व्यक्तित्वाभिमानी है। वह परवश है और अनेक है। वह ईश्वरांश होने के कारण यद्यपि अविनाशी है, चैतन्य

---

[1]मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी॥
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
४७७-२६, २७

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
५०० ६

हरस विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
५६-११

माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव। ३७८-२
जो सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
४७७-२५

है, अमल है और सहज सुखराशि है तथापि मायाजन्य "अहं" (मैं) इस अभिमान के कारण सुख दुख (हर्ष विषाद) और ज्ञान अज्ञान के द्वन्द्व ही उसके धर्म (स्वभाव) कहे जाते हैं। वह अपने को माया का ईश नहीं समझता। यदि सब प्रतीयमान चैतन्य सत्ताओं में—जीवों में—"एकत्व" ज्ञान रह जाय तो फिर ईश्वर और जीव का भेद कहाँ रहे। जब तक जीव का जीवत्व है अर्थात् जब तक वह अपने को मायावश परिच्छिन्न और अतएव जड़ (अज्ञानी) समझता है, तब तक वह ईश की बराबरी किस प्रकार कर सकता है। जब तक उसका जड़त्व (अज्ञान) नष्ट नहीं हुआ तब तक तो निश्चय ही वह दास है—परवश है—और परमात्मा स्वामी है—निग्रहानुग्रहकारी स्वामी है। अपने सच्चे स्वरूप का अथवा यों कहिये कि परमात्मा का ज्ञान होते ही जीवात्मा तो स्वतः परमात्मा हो जाता है फिर उसका जीवत्व कहाँ।[१]

जीव के ऐसे वर्णन के साथ जब हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने "अ-गुण" ब्रह्म का और स्वप्नवत्—भ्रमवत् मिथ्या माया का सिद्धान्तरूप से वर्णन किया है तथा 'व्यवहार' और 'परमार्थ' मे भेद दिखाते हुए कहते हैं :—

धरनी धाम धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥
२०५-२७,२८

तब हमें मानना ही पड़ता है कि गोस्वामी जी के दार्शनिक सिद्धान्त शांकर सम्प्रदाय के अनुकूल हैं। व्यक्तित्वाभिमानविध्वंस के लिये यों भी

---

[१] माया बस परिच्छिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥ ४६६-२२
तासु विरोध न कीजिये नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥
२५५-२५

जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।' २१६-१६

विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा अद्वैतवाद ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि विशिष्टाद्वैतवाद मत के अनुसार तो जीव का व्यक्तित्व नष्ट ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य अनेक दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिये भी विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा अद्वैतवाद ही अधिक समर्थ हो सका है। गोस्वामी जी में साम्प्रदायिकता तो थी नहीं। इसलिये उनके समान गम्भीर तत्त्वदर्शी ने अद्वैत सिद्धान्त को इस प्रकार अपना लिया तो आश्चर्य ही क्या है। प्रबोधसुधाकरादि ग्रन्थ जो शङ्कराचार्यकृत कहे जाकर शङ्कर सम्प्रदाय में पूर्णतया मान्य हैं, क्या भक्ति के रस में शराबोर रहकर भी अद्वैत सिद्धान्त पर आश्रित नहीं हैं? मधुसूदन सरस्वती के समान उद्भट अद्वैतवादी आचार्य क्या परम भक्त नहीं हो गये हैं? ऐसे दृष्टान्त सम्मुख रहते हुए भी, आश्चर्य है कि अनेक सज्जनों ने गोस्वामी जी के भक्ति प्रवाह को देखकर उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी ही समझ रखा है।

वास्तव में देखा जाय तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में कोई अन्तर भी नहीं। यदि अन्तर है तो केवल दृष्टिकोण का। शङ्कर ने ब्रह्म के दृष्टिकोण से तत्त्व को समझने समझाने की चेष्टा की है और रामानुज ने माया के दृष्टिकोण से। जीव में ब्रह्म भी है माया भी है, इसीलिये ज्ञान का पूरा रूप जीव के सामने रखने के लिये दोनों दृष्टिकोणों से विचार करने की आवश्यकता है। ब्रह्म के दृष्टिकोण से—निर्विशेष चैतन्यतत्त्व के दृष्टिकोण से—तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह-नानास्ति किंचन", 'सोऽहमस्मि", "तत्त्वमसि" ("मो तें ताहि तोहि नहिं भेदा" "रज्जौ यथाहेर्भ्रमः" जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने") आदि की बातें कही जाती हैं और माया के दृष्टिकोण से—विशिष्ट चैतन्य तत्त्व के दृष्टिकोण से—"जीव अनेक एक श्रीकन्ता, परबस जीव स्वबस भगवन्ता' आदि की बातें कही जाती हैं। ब्रह्म के दृष्टिकोण से "कोउ न काहु सुख दुख कर दाता" "निर्गुन नाम न रूप" "मोहमूल परमारथ

नाहीं" 'ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना" 'ज्ञानी प्रभुहि बिसेसि पियारा" की बातें कही जाती हैं और माया के दृष्टिकोण से 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता' सुभ अरु असुभ करम फल दाता" मोरे अधिक दास पर प्रीती" "सकृत प्रनाम किये अपनाये" "मुकुति निरादरि भगति लोभाने" आदि की बातें कही जाती हैं। प्रकृत तत्व को दोनों दृष्टिकोण से समझाये बिना काम नहीं चलता। यदि ब्रह्म का दृष्टिकोण ही सदैव सम्मुख रखा जाय तो व्यवहार बिगड़ता है। जब जीव भी "सोऽहं सोऽहं" कहते हुए समर्थ कहलाने की "हिखिखा" करके लोकमर्यादा को तहसनहस करने के लिये तैयार हो जाता है और इस प्रकार स्वतः भी बड़ी हानि उठाता है। यदि माया का दृष्टिकोण ही सदैव सामने रखा जाय तो 'विभेद-कारी' मति की पुष्टि के कारण साम्प्रदायिकता के अनर्थ बढ़ चलते हैं और शैवों तथा वैष्णवों में लाठियाँ चल पड़ती हैं। यदि अद्वैत दृष्टि-कोण के बिना तत्त्व का पूरा बोध नहीं होता तो द्वैत दृष्टिकोण के बिना उस बोध का पूरा सुख भी तो नहीं मिलता—जीव कोटि की पूरी पूरी मर्यादा का पालन भी तो नहीं होता। शंकराचार्य जी ने ये दोनों दृष्टि-कोण स्वीकार किये हैं। उन्होंने केवल यही कहा है कि मायावाला दृष्टिकोण व्यवहारिक दृष्टिकोण है और ब्रह्मवाला पारमार्थिक। जो पारमार्थिक दृष्टिकोण है वही वास्तविक है—सत्य है—और जो व्यवहारिक है वह अवास्तविक है, असत्य है। शंकराचार्य जी के मत में सत्य वह है जो त्रिकालाबाधित हो। उनके मत में सत्य वही है जो अविकारी और एकरस हो। इसीलिये उन्होंने परमार्थ और व्यवहार का यह भेद निकाला। रामानुजाचार्य को यह भेद इष्ट न था। इसीलिये उन्होंने व्यवहार पक्ष को अपना प्रकृत सिद्धान्त बना डाला। शंकराचार्य जी उद्देश्य विशेष ही से अपने भाष्य लिखे थे इसलिये—

'तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बूका विपिने यथा ॥
न गर्जति महाभीमो यावद् वेदान्तकेसरी ॥"

इस उक्ति के अनुसार उन्होंने असत् सिद्धान्तों का खण्डन करके परमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ही का प्रतिपादन किया और उन भाष्यों में व्यावहारिक सिद्धान्त को कुछ भी महत्ता न दी। रामानुजाचार्य ने भी इसी प्रकार उद्देश्य विशेष से अपने भाष्य रचे, क्योंकि उन्हें व्यावहारिक दृष्टिकोण की महत्ता स्थापित करनी थी। इसलिये उन्होंने अद्वैत का खण्डन करके केवल विशिष्टाद्वैत का मण्डन किया। गोस्वामी जी कुछ खण्डन मण्डन वाले आचार्य तो थे नहीं इसीलिये उन्होंने परमार्थिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों को यथास्थान उपयोग किया है और दोनों को पूरी महत्ता दी है। परन्तु उनके समूचे सिद्धान्त वाक्यों का भली भाँति स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत है न कि विशिष्टाद्वैत। यह दूसरी बात है कि लोग अपने अपने तर्ककौशल और बुद्धिचातुर्य से उनके सब शब्दों को खींचखाँच कर विशिष्टाद्वैतवाद में घटा लें। यों तो उपनिषद्, गीता, और वेदान्तसूत्र के वाक्य भी इसी प्रकार अपनी अपनी ओर खींचे गये हैं। सो जब प्रस्थानत्रय कहाने वाले इन महान् ग्रन्थों का यह हाल है, तब गोस्वामी जी महाराज की "भाषा भणिति" के सम्बन्ध में ऐसा कर दिया जाय तो आश्चर्य ही क्या ?

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा ने कहा है कि "दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में है ही नहीं" (तुलसी निबन्धावली खण्डन ३ पृष्ठ १२७) राम कृष्ण जी को यह राय पसन्द न आई इसलिये उन्होंने महामहोपाध्याय जी के इस लेख का खण्डन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया। यदि प्राच्य महाविद्यार्णव श्रीनगेन्द्रनाथ वसु महोदय अपने हिन्दी विश्वकोष (भाग ६ पृष्ठ ६८६) में कहते हैं कि "रामायण में कई जगह शंकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है" तो भावुक भक्त जयरामदास जी दीन कल्याण वेदान्ताङ्क के पृष्ठ ६०१ में

"गोस्वामी तुलसीदास जी और अद्वैतवाद" शीर्षक लेख लिखकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रामायण मे जो कुछ है सो विशिष्टाद्वैतवाद ही है। यह सब अपनी अपनी समझ की बात है।[1]

जो लोग 'ईश्वरांश जीव का परिच्छिन्नत्व' 'भक्ति की आवश्यकता' 'भक्ति के आगे मुक्ति की भी तुच्छता' 'अवतारवाद' 'ईश्वर और जीव में भेद' आदि बातें देखकर हा गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी कहने लगते हैं उनसे हमारा अनुरोध है कि वे शंकराचार्य जी के निम्नलिखित श्लोक, जो उदाहरण के रूप में ही पेश किये जाते हैं, ध्यानपूर्वक पढ़ जायँ। सम्भव है, ये सब श्लोक आदि शंकराचार्य विरचित न हों परन्तु जब सभी पीठों के जगद्गुरु लोग इन्हें आचार्यकृत और अतएव संग्राह्य मान रहे हैं तो इतना तो निश्चित है कि ये श्लोक अद्वैतवाद के प्रतिकूल नहीं हैं।

अग्नेर्यथा स्फुलिंगाः क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति।
श्रुत्यर्थं दर्शयितुं स्वतनोरतनोत्स जीवसन्दोहम्॥

प्रबोधसुधाकर २०८

अभिभूतः स एवात्मा जीव इत्यभिधीयते।
किञ्चिज्ज्ञत्वानीश्वरत्व संसारित्वादि धर्मवान्॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३२०

चित्ते सत्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति।
तर्ह्येव स स्थिरः स्याद्यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति॥

---

[1] यह परिच्छेद लिख चुकने के बाद हमने पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी का 'गोस्वामी जी श्री तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार" शीर्षक लेख जुलाई १९३७ के कल्याण मे पढ़ा। उन्होंने भी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षाओं से सिद्ध किया है कि श्री गोस्वामी जी का अद्वैत सिद्धान्त है।

शुध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदांभोज भक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥

प्रबोधसुधाकर १६६-१६७

अस्माकं यदुनन्दनांघ्रि युगल ध्यानावधनार्थिनां ।
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

प्रबोधसुधाकर २५०

यावदायुस्त्वया वंद्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतिरेवैष निश्चयः ॥
भावाद्वैतं सदा कुर्यात क्रियाद्वैत न कर्हिचित ।
अद्वैतं त्रिपु लोकेपु नाद्वैतं गुरुणा सह ॥

तत्वोपदेश ८६ ८७

किं स्मर्तव्यं पुरुषैः ? हरिनाम सदा ।—प्रश्नोत्तररत्नमालिका ३५
को हि जगद्गुरुरुक्तः ? शंभुर्ज्ञानं कुतः ? शिवादेव ॥

प्रश्नोत्तररत्नमालिका ५५

स्वात्मैकचिन्तनंयत्तदीश्वरध्यानमीरितम् ।

सर्ववेदान्त १२२

जन्मानेकशतैः सदादरयुजा भक्त्या समाराधितो ।
भक्तैर्वैदिक लक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयं ॥
साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुः ।
तत्वं साधु विबोध्य तारयति तान् संसारदुःखार्णवान् ॥

सर्ववेदान्त० २५४

शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः शिवप्रसादेन विना न बुद्धिः ।
शिवप्रसादेन विना न युक्तिः शिवप्रसादेन विना न मुक्तिः ॥

सर्ववेदान्त० २७९

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णं।
त्यक्त्वा कमन्य विषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥

प्र० सु० १८३

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

प्र० सु० १९५

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥ षटपदीस्तोत्र

यह सब देखकर अनायास ही विदित हो जायगा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने किस प्रकार विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल बातें कहते हुए भी अपने ग्रन्थ में सिद्धान्तवैषम्य नहीं आने दिया है। हमें न तो अवधवासी लाला सीताराम जी की तरह शङ्कर, रामानुज और रामानंद जी के सिद्धान्तों की त्रिवेणी का ऊहापोह करने की आवश्यकता जान पड़ती है और न बाबू रामदास गौड़ आदि महानुभावों के समान चार घाट की चतुर्धाराओं के विवेचन की आवश्यकता जान पड़ती है। हम ग्रियर्सन साहब की इस उक्ति पर भी कि गोस्वामी जी का झुकाव यद्यपि अद्वैतवाद की ओर है तथापि हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी, अपने को झुकते हुए नहीं पाते। हम तो आचार्यप्रवर प० रामचन्द्र जी शुक्ल की इस उक्ति से पूर्ण सहमत हैं कि "परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं" (देखिये तुलसी ग्रन्थावली तृतीय खंड पृष्ठ १४५)।

गोस्वामी जी के तत्त्वसिद्धान्त का इतना विवेचन कर चुकने के बाद एक बार फिर मूलतत्त्वों के सम्बन्ध में उनके संक्षिप्त विचार उन्हीं के वाक्यों में प्रकट कर देना अनुचित न होगा।

(१) ब्रह्म क्या है ?

[1]ब्रह्म ग्यान रत मुनि बिग्यानी । मोहिं परम अधिकारी जानी ॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा । अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ॥
अकल अनीह अनाम अरूपा । अनुभवगम्य अखंड अनूपा ॥
मन गोतीत अमल अविनासी । निरविकार निरवधि-सुखरासी ॥
४९६-४ से ७

(२) जीव क्या है ?

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा । वारि बीचि इव गावहिं वेदा ॥
४९६-८

मायावस्य जीव अभिमानी । ईसवस्य माया गुनखानी ॥
परबस जीव स्वबस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्रीकन्ता ॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥
४७७-२६ से २८

ईश्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायावस भयउ गोसाईं । बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥
५००-९,१०

---

[1]यद्यपि लोमश जी का यह निर्गुण मत काकभुशुन्डि जी को रुचिकर न जान पड़ा तथापि यह तो निश्चित है कि उन्हीं काकभुशुन्डि जी को सगुणमत का मंत्रोपदेश देने वाले इन गुरुदेव का प्रधान सिद्धान्त यही निर्गुणमत था जो केवल 'परम अधिकारियों' ही को दिया जा सकता था ।

(३) माया क्या है ?

[1]मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥
३०७-२३,२४

ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।
३०७-२८

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥ ५९-२२
एहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
५९-२५

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिअ सो अविबेक ॥ २६२-६ ७

सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि ॥ ४३४-२३,२४

---

[1]माया में न केवल विवर्त-रचना-सामर्थ्य (विद्या) है वरन् वह विवर्त में सत्प्रतीति-स्थापन-सामर्थ्य (अविद्या) भी रखती है। राम की माया प्रबल होगी ही क्योंकि वह ब्रह्म की माया है। परन्तु ब्रह्मांश होने के कारण सुर और असुर भी माया की शक्ति रखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय गोस्वामी जी की "माया" को शङ्कराचार्य की "माया" से भिन्न मानते हैं। (देखिये पृष्ठ १८७)। वे कहते हैं शङ्कर के लिये रचना भ्रम मात्र है, तुलसी के लिये यह एक तथ्य है। हम नहीं समझ सकते कि उनका यह कहना कहाँ तक उचित होगा। एक तो गोस्वामी जी ने ही रचना को "नट" का "इन्द्रजाल" कहा है दूसरे स्वतः शंकराचार्य भी माया को एकदम मिथ्या नहीं मानते हैं (देखिये सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह श्लोक ३०५ से ३०७)।

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला॥
३२१-१४

(४) मोक्ष क्या है?

सो सायुज्य मुकुति नर पाइहि॥ ३७४-१२
तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥ ३२१-३
मोच्छ सकल सुखखानि॥ ४८०-१२

(५) मोक्ष का साधन क्या है?

सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥
२१६-१६

ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना। ३०८-४
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥
५०१-७,८

जो निरविघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
५०२-२

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
४९९-११

कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना। नहि कछु दुरलभ ग्यान समाना॥
४९९-११

(६) ज्ञान के साधन क्या हैं?

(अ) जोगतेग्याना—३०८-४
(आ) बिनु गुरु होइ कि ग्यान—४८३-८
(इ) ग्यान कि होइ बिराग बिनु—४८३-८

(ई) बिनु सतसंग विवेक न होई—४-२१
(उ) जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ॥
२८२-१५

यही वह तत्त्वबोध है जो व्यक्तित्वाभिमान को विध्वंस करने में समर्थ हो सकता है।

धन्याष्टक में ज्ञान की परिभाषा सी बताते हुए शंकराचार्य जी ने कहा है "तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम्"। गीता में भी ज्ञान का अर्थ इसी प्रकार का माना गया है जिसमें अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा शांति, आर्जव आदि बहुत सी बातें सम्मिलित हैं (देखिये गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११)। गोस्वामी जी ने भी, कम से कम अपने विज्ञानदीप के प्रकरण में, ज्ञान का यही अर्थ लिखा है। वह पूरा प्रकरण बड़ा सुन्दर है। उसका भावार्थ यहाँ लिख देना अनुचित न होगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि हरिकृपा से हमारे हृदय में जो सात्विक श्रद्धा उत्पन्न होती तथा जप तप व्रत यम नियम और शुभ धर्माचार से जो पुष्ट होती रहती है एवं भावोद्रेक के कारण जो रसवती हुआ करती है उसी से हमें परमधर्म रूपी रस मिलता है। यह रस तभी मिलता है जब हम विशुद्ध अन्तःकरण से प्रयत्न करें और यह स्थिर भी तभी रहता है जब हमारे हृदय में पक्का विश्वास हो। यदि निकल भी सकता है जब निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर हम अपनी श्रद्धा को जगत् की ओर न भटकने दें। इस प्रकार पाया हुआ रस अनासक्ति सन्तोष क्षमा धृति मुदिता-विचार दम और सत्यवाक् के संयोग से परिशुद्ध होकर विमल वैराग्यरूप नवनीत बन जाता है। शुभाशुभ कर्मों को क्षार करने वाला योग इस वैराग्य को और भी परिष्कृत करके इसके ममता-मल को जला देता है। यह परिष्कृत वैराग्य जब दृढ़ समत्व पर स्थित चित्त में स्थिर होता है और विज्ञानरूपिणी बुद्धि इसके साथ तुरीयावस्था का योग करके विमल ज्योति के लिये प्रयत्न करती है तब विशुद्ध ज्ञान

का उदय होता है। उसके उदय होते ही सोऽहमस्मि की अखंड वृत्ति लग जाती है। आत्मानुभव का प्रकाश फैल जाता है। मद मोह भेद भ्रम अविद्या आदि आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। और, इस प्रकार उसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। सारांश यह है कि श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करते रहने से जिस विमल वैराग्य का उदय होता है उसी पर समत्वबुद्धियुक्त चित्त स्थिर करने से तात्त्विक ज्ञान प्रकाशित हो उठता है। इसके प्रकाशित होते ही बिना परिश्रम आप ही आप जीव का अविद्यान्धकार दूर हो जाता है और वह एकदम "शिव" हो जाता है।[1]

ब्रह्म, शिव, ईश्वर, ज्ञान, विज्ञान, विवेक, माया, अविद्या, अज्ञान, अविवेक, महामोह, मोह, विरति, वैराग्य, कर्म, धर्म, आदि आदि शब्दों को गोस्वामी जी ने किन स्थलों में किन अर्थों में प्रयुक्त किया है यह स्वतः ही एक स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय हो सकता है। इस विषय की विवेचना भी यद्यपि हमारे वर्ण्य विषय में सम्बन्ध रखती है तथापि अपने निबन्ध की कलेवरवृद्धि के भय से हम इसका संकेत मात्र करके चुप रह जाना उचित समझते हैं।

विरति और विवेक को स्वतन्त्र रूप से निर्दोष पथ न रहने दिया जाकर गोस्वामी जी ने किस प्रकार उन्हें अपने भक्तिपथ में सम्मिलित कर लिया है, यह अगले परिच्छेदों की बात होगी।

---

[1] देखिये पृष्ठ ५०० पंक्ति ११ से पृष्ठ ५०२ पंक्ति २ तक

छठवाँ परिच्छेद

हरिभक्तिपथ

व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस का तीसरा मार्ग है हरिभक्तिपथ। माया की प्रबलता के कारण न तो व्यक्तित्वाभिमान के प्रति एकदम अनासक्ति ही बन पड़ती है और न वह एकदम मिथ्या ही मान लिया जा सकता है। इसलिये साधारण साधक को इसी में सुगमता जान पड़ती है कि वह (व्यक्तित्वाभिमान) भगवान् की ओर लगा दिया जावे। यदि अभिमान बना रहना चाहता है तो बना रहे कोई परवाह नहीं, परन्तु वह अभिमान मायादासभाव का न रह कर रामदासभाव का बन जाय[1]। इस प्रक्रिया से दासोऽहं वाला यह अभिमान किसी दिन निश्चय ही सोऽहं में परिणत होकर आप ही आप विध्वस्त हो जायगा।

गोस्वामी जी के मत में माया से मुक्त होने की रामवाण औषधि "श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संयुत विरति विवेक" है। हम इस पंक्ति के प्रत्येक शब्द पर विचार करके गोस्वामी जी के मत को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। सर्वप्रथम हम भक्ति शब्द को लेते हैं।

भक्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक आचार्यों ने अनेकानेक परिभाषाएँ दी हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का कथन है :—

---

[1]अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
गीता अ० ९ श्लो० १३-१

इस वाक्य में भक्ति की परिभाषा का समूचा रहस्य आ गया है। महात्मा वेदव्यास का कहना है :—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्मणाम्।
सत्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवति भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥
—श्रीमद्भागवत स्कं० ३ अ० २५ श्लो० ३२-३३

निष्काम भाव से स्वाभाविकी प्रवृत्ति सत्यमूर्ति भगवान् में लग जाय वही तो भक्ति है।

देवर्षि नारद जी का कथन है :—

सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा—भक्तिसूत्र ॥२॥
सा भक्तिः परमाशुद्धा कृष्णदास्यप्रदा च या।
नारद पञ्चरात्र १ रात्र १ अध्याय १८ श्लोक

महर्षि शाण्डिल्य का वचन है :—

सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १।१।२॥)
सर्वस्मादधिकः स्नेहो भक्तिरित्युच्यते बुधैः (शाण्डिल्यतत्वसुधा)

भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य का मत है :—

---

[१] गीता के इस श्लोक में दैवीप्रकृतिमाश्रिता और महात्मनः से साधक अव्ययं (निराकार) भूतादि (गुणाकार) और मां (नराकार) से साध्य; तथा ज्ञात्वा भजन्ति अनन्यमनसः के साधना के भाव स्पष्ट होते हैं। इस तरह इस श्लोक में भक्ति की पूरी परिभाषा मिल जाती है।

स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।

(गीता पर श्रीरामानुजभाष्य ७ अध्याय १ श्लोक)

भावुक-भक्तराज श्री रूपगोस्वामी का सिद्धान्त है :—

क्लेशघ्नी-शुभदा मोक्षलघु ताकृत्-सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

(श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु प्रथम लहरी पूर्वविभाग १२ श्लोक)

इन सब उक्तियों का सारांश यही है कि भक्ति में प्रेम का भाव अवश्यम्भावी है। परन्तु इतना होते हुए भी भागवतकार का कथन है :—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० २९ श्लो० १३, १४, १५)

यही नहीं जगद्गुरु शंकराचार्य तो कहते हैं कि मनसा वाचा कर्मणा जो कुछ होता अथवा किया जाता है वह सब भक्ति के ही अन्तर्गत समझा जा सकता है। देखिये—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्॥ [1]

(शिवमानसपूजास्तोत्र ४ श्लोक)

---

[1] नानक जी ने भी इसी भाव पर कहा है : –

उपर्युक्त उक्तियों में जगद्गुरु शंकराचार्य के वाक्य तो भक्ति के अतिव्यापक रूप को प्रकट कर रहे हैं, भागवत के तीन श्लोक उसके व्यापक रूप की ओर संकेत कर रहे हैं और शेष वाक्य उसके प्रकृत रूप को स्पष्ट कर रहे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥

३-८-५

इस परिभाषा की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इस एक ही पंक्ति में भक्ति के तीनों रूपों की चर्चा हो गई है।

भक्ति के पहिले रूप (अतिव्यापक रूप) का रहस्य देखिये। भक्ति भाव है कि क्रिया है कि विचार है इस बात को गोस्वामी जी अपनी परिभाषा में अस्पष्ट[1] रख कर बता देते हैं कि यों तो परमात्मा को द्रवीभूत करने वाले अथवा यों कहिये कि परमात्मा को प्रसन्न करने वाले (उनके नियमों के अनुकूल कहाने वाले) जो भी भाव, जो भी विचार और जो भी कार्य होंगे वे सब भक्त ही कहावेंगे तथापि जिस भक्तिपद्धति से परमात्मा शीघ्र (बेगि) द्रवीभूत होते हैं वही भगवत्कारुण्य का विशेष सम्पादन कर सकती है) कहहु सो भगति करहु जेहि दाया) और वही भक्त को सुखदाई भी रहा करती है (सो मम भगति भगत सुखदाई)। इस प्रकार गोस्वामी जी यद्यपि भक्ति के प्रकृत रूप

जेता चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।
नानक निसदिन रामभजन बिन भाव न लाऊँ दूजा ॥

[1] "जातें" का "जा" कोई भाव है कि विचार है कि क्रिया यह सामान्यतः तो अस्पष्ट ही है। विचार करने पर भले ही स्पष्ट हो।

को ही विशेष संग्राह्य बताते हैं तथापि वे इतना और संकेत कर देते हैं कि भक्ति का अतिव्यापक रूप भी है।

भक्ति के दूसरे अथवा व्यापक रूप का रहस्य भी इसी परिभाषा में बहुत अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। इस रूप में केवल तन्मयता पर जोर रहता है। वह तन्मयता स्नेह मोह भय क्रोध अथवा किसी अन्य प्रकार से भी क्यों न हो। ये जितने प्रकार हैं वे या तो राग के अंतर्गत होंगे या द्वेष के। आर्यों और वानरों ने राग के मार्ग से तन्मयता प्राप्त की और राक्षसों ने द्वेष के मार्ग से। गोस्वामीजी ने राक्षसों के वैरभाव को भी स्मरण का एक अङ्ग माना है और इस प्रकार उन्हें भी भगवत्कृपा का पात्र बना दिया है[१]। राग और द्वेष—रीझ और खीझ—के इस रहस्य को लेकर ही तो वे कहते हैं—

तुलसी अपने राम को रीझ भजौ कै खीझ ॥

राग और द्वेष—कृपा और क्रोध—के भावों को एक साथ प्रकट करने के लिये गोस्वामी जी ने "द्रवहुँ" शब्द को चुना है। आप्टे महोदय अपने कोष में लिखते हैं:—

द्रु (द्रवति) = (i) To melt, ooze (fig also) द्रवति हृदयमेतत्—(द्रवीभूत to be melted as with pity ect, (ii) to rust, attack, assault quickly. B K.9-95

भक्ति के तीसरे रूप की स्पष्टता तो इस परिभाषा में है ही। गोस्वामी जी का द्रवहुँ शब्द अन्य स्थलों में केवल दयार्द्र होने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। भाई शब्द भी प्रीति का द्योतक है न कि विरोध आदि

---

[१] उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर ॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी ॥
३६४-१७, १८

किसी भाव का। वे अन्यत्र "भक्ति" को "द्वेष" से भिन्न बताकर उसके प्रकृतरूप ही की पुष्टि कर रहे हैं। वे तो "भक्ति" को "प्रासक्ति" से भी पृथक् बताते हुए कहते हैं :—

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसङ्ग जोगु जप जागा। नहिं दृढ़ चरण कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥
३०४-९ से ११

इसलिये गोस्वामी जी ने जिस भक्ति का उपदेश सर्वसाधारण के लिये दिया है उसमें प्रेमभाव अनिवार्य है।

गोस्वामीजी की परिभाषा का सीधासादा अर्थ इस प्रकार होगा :—

"भक्ति वह (संज्ञा, क्रिया भावना अथवा तीनों का समन्वय) है जो भक्त का हृदयाह्लादन करते हुए भगवान् को शीघ्र प्रसन्न (दयार्द्र) कर लेने में समर्थ हो।"

इस अर्थ मे भक्ति का प्रकृतरूप ही विशेष रूप से प्रकट हो रहा है। पहिली बात तो यह है कि इसमें दो हृदयों के द्रवीभूत होने की चर्चा है (भगवान् के द्रवित होने और भक्त के सुखी होने की बात है) इसलिये निश्चय ही वह प्रेमभावना से सम्बद्ध वस्तु है। दूसरी बात यह है कि वह भगवान् की कृपा सम्पादन करानेवाली—उनको द्रवीभूत करनेवाली—वस्तु है। तीसरी बात यह है कि वह भगवान् को द्रवित ही नहीं वरन् शीघ्र द्रवित करनेवाली वस्तु है। चौथी बात यह है कि

---

[१] निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी।३१४-२४
महर्षि शाण्डिल्य का निम्नलिखित सूत्र भी विशुद्ध भक्ति को द्वेष की भावना से अलग कर रहा है :—

द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः ॥ १। १। ७

वह ऐसे परब्रह्म परमात्मा की ओर अर्पित होती है जो आध्यात्मिक (निराकार) आधिदैविक (सुराकार) और आधिभौतिक (नराकार) झाँकियों वाला होकर भी व्यक्तित्ववान् (मैं) और जीवों की ओर भ्रातृत्वभाव युक्त (भाई) समझा जाता है। पाँचवीं बात यह है कि यद्यपि वह भक्तहृदयों को आनन्द-परिप्लावित करनेवाली भावना है तथापि उसे परमात्मा ही की वस्तु—दिव्य वस्तु—"मम भगति"—समझना चाहिये।

पहिली बात में विशुद्ध प्रेम के साथ ही साथ प्रपत्ति-शरणागति-की तथा निष्काम सेवा की भी सभी बातें आ जाती हैं। दूसरी बात में भगवान् की कृपा, उनकी प्रसन्नता, उनकी स्वीकृति, उनका अपनाया जाना, उनका साक्षात्कार आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। स्मरण रहे कि भक्तिमार्गियों का मुख्य ध्येय यही है न कि मुक्ति। तीसरी बात में भक्ति की श्रेष्ठता भली भाँति ध्वनित हो जाती है क्योंकि ध्येय को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कराने वाला—बिना परिश्रम सरलतापूर्वक मिला देने वाला—मार्ग यही है[1]। चौथी बात में आराध्य की पूर्णता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ रहा है[2]। पाँचवीं बात में भक्ति का लोकोत्तर आनन्द तथा उसका भगवत्कृपा-साध्यत्व स्पष्ट ही है। भक्ति की परिभाषा में इन बातों से अधिक और चाहिये ही क्या?

"भक्ति" के बाद दूसरा विचार्य शब्द है "हरि"। अल्लाहभक्ति, शिवभक्ति आदि की बात न कहकर गोस्वामी जी ने हरिभक्ति की बात कही है। भगवान् के अभारतीय नाम रूपों और भावों का तो गोस्वामी

---

[1]सुगमता, सुखदता आदि के कारण यह मार्ग अन्य मार्गों की अपेक्षा शीघ्र सिद्धिदायक कहा गया है।

[2]गोस्वामी जी के राम, जो यहाँ अपने को "मैं" कह रहे हैं किस प्रकार त्रिविधिपूर्णतायुक्त हैं यह चतुर्थ परिच्छेद में समझा दिया गया है।

जी ने जानबूझ कर परित्याग किया है। भारतीय नामरूपों और भावों में भी अथवा यों कहिये कि भारतीय देवताओं में भी उन्होंने बहुत काट छाँट कर दी है। त्रिदेव और पञ्चदेव को छोड़ कर शेष देवगण (विशेषकर इन्द्रादि वैदिक देव) इसलिए त्याज्य हुए कि (१) गोस्वामी जी के समय में भारत के सामान्य वातावरण से उन देवताओं की प्रधानता दूर हट चुकी थी। (२) वे न केवल विविध भोगों के—क्षुद्र सिद्धियों के—देनेवाले बताये जाते थे वरन् स्वतः भी मोक्ष के अनधिकारी और केवल भोग के लिये ही शरीर धारण करने वाले समझे जाते थे। (३) वैदिक काल से ही उन देवताओं के साथ ऐसी कहानियाँ जोड़ दी गई थीं जो आध्यात्मिक दृष्टि से उत्तम अर्थ रखते हुए भी आधिभौतिक दृष्टि से उन देवताओं की दुश्चरित्रता उच्छृखलता और नीचता ही घोषित कर रही थीं।

रहे त्रिदेव और पञ्चदेव सो उनमें गौरी, गणेश, सूर्य और ब्रह्मा की महत्ता जिन कई कारणों से सर्वसाधारण की दृष्टि घट चुकी थीं वे हम द्वितीय परिच्छेद में बता आये हैं। यहाँ शंकरभक्ति और हरिभक्ति की तुलना में जो बातें कही जायँगी उनमें से अनेक प्रकारान्तर से गौरीभक्ति, गणेशभक्ति, सूर्यभक्ति आदि के सम्बन्ध में भी घटा ली जा सकती हैं।

यह कहा जा चुका है कि भारत में विष्णुभक्ति की अपेक्षा शंकर-भक्ति का कुछ कम प्राधान्य न था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने शंकरजी के लिये भी अपनी परम आस्था दिखाई है और उनकी भक्ति के लिये भी बहुत-बड़ा मान दिया है। यहाँ तक कि वे अपनी विष्णुभक्ति के लिये शंकरभक्ति का होना अनिवार्य मानते हैं[1]। परन्तु उन्होंने लोक—

---

[1]अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥ ६६३-२१, १९

हितार्थ हरिभक्ति ही को प्राधान्य दिया है। उनके इस निश्चय के कई कारण जान पड़ते हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) उन्हें बाल्यकाल से ही हरिभक्ति की शिक्षा मिली थी। इसी भक्ति पर उनकी पूर्ण श्रद्धा हो चुकी थी और अटल विश्वास जम चुका था। विचार करने पर भी उन्हें ऐसा कोई कारण नहीं मिला जिससे हरि की भक्ति का परित्याग करके किसी अन्य की भक्ति को ग्रहण करने की आवश्यकता जान पड़े।

(२) शक्ति की उपासना के साथ वाममार्ग की और शंकर की उपासना के साथ वैराग्य और संन्यास का अधिक सम्बन्ध है। लोकरक्षा का भाव जगद्रक्षक विष्णु की भक्ति के साथ ही विशेष रूप से सम्बद्ध है। गोस्वामी जी साधुमत के साथ लोकमत का भी सामञ्जस्य चाहते थे। इसलिये उन्हे विष्णुभक्ति अथवा हरिभक्ति ही अधिक उपयुक्त जान पड़ी। जो भक्ति केवल व्यक्तिगत साधना के रूप में हो उससे कहीं बढ़कर वह भक्ति है जो व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकरक्षा के भाव भी दृढ़ करे। गोस्वामी जी ने शङ्कर तथा उनकी भक्ति के जिस रूप को प्राधान्य दिया है वह व्यक्तिगत साधना तथा लोकरक्षा दोनों को सँभाले हुए हैं।

(३) विष्णुभक्ति का जैसा साङ्गोपाङ्ग विवेचन है और पुराणों इत्यादि के द्वारा वह जिस प्रकार सर्वसाधारण में विशेषरूप से प्रचलित हो गई है उस प्रकार न तो शिवभक्ति का विवेचन ही हुआ और न प्रचार ही। हरि के नाम रूप लीला और धाम की जो हृदयाकर्षक विशेषताएँ प्रकट की गई हैं वे शंकर जी के नाम रूप लीला और धाम के वर्णन की अपेक्षा अधिक रोचक बन पड़ी हैं।

(४) आराध्य के त्रैविध्य का—निराकार, सुराकार और नराकार रूप का जैसा महत्त्व हरि में है वैसा शंकर में नहीं। अवतारवाद की स्पष्टता तो केवल हरि ही की विशिष्ट वस्तु है। यह अवश्य है कि

शङ्करभक्तों ने भगवान् शंकर के भी अनेक अवतार माने हैं परन्तु वे अवतार अपना कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। वे अधिकांश में बिजली की तरह आये और चले गये। भारतभूमि और भारतीय जनता के साथ उनका कोई अमिट सम्बन्ध स्थापन नहीं होने पाया। हरि के अवतारों का यह हाल नहीं है। वे मनुष्यों में पले, मनुष्यों से बढ़े और मनुष्यों में न केवल अपने वंशज वरन् अपनी अमिट छाप भी छोड़ गये। भगवान् राम और भगवान् कृष्ण के समान लोकनायक महापुरुष हरि ही के अवतार माने गये हैं। ऐसे अवतारों की चर्चा देखकर ही अवतारवाद की स्पष्टता को हरि ही की विशिष्ट वस्तु कहा जाता है।[1]

जान पड़ता है कि जान बूझकर ही गोस्वामी जी ने यहाँ विष्णु भगवान् के अन्य सब नामों की अपेक्षा हरिनाम को विशेष महत्त्व दिया है। हरि शब्द का अर्थ करते हुए जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी विष्णु-सहस्रनाम की टीका में लिखते हैं 'स्मृतिमात्रेण पुंसां पापं हरतीति हरिर्हरिद्वर्णत्वाद्वा हरिः हराम्यघं च स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहं वर्णश्च मे हरिर्वेति तस्माद्धरिरहं स्मृतः। इति भगवद्वचनात्" सारांश यह है कि हरि—(१) पापों को दूर कर देने वाला (परम कल्याणकारी) (२) हरिद्वर्ण—हरित् का अर्थ दिशाएँ भी होता है—और विष्णु का वर्ण वह है जिसमें अन्य सब वर्णों का लय हो जाता है इसलिये हरिद्वर्ण

१स्वामी रामानन्द जी की सन्तमत वाली शिष्यपरम्परा ने अवतारवाद को (साथ ही साथ मूर्तिपूजा को भी) उड़ा देने की चेष्टा की परन्तु वह कृतार्थ न हो सकी। अन्य बातों में सिद्ध सन्तों से मतैक्य रखते हुए भी गोस्वामी जी श्रुतिसम्मत अवतारवाद के—राम कृष्ण की उपासना के—कट्टर पोषक थे।

का अर्थ होगा अनन्त विशाल।[1] इसलिये आराध्य के उत्कृष्ट गुणों का द्योतन करने के लिये वह शब्द सर्वथैव उपयुक्त है।

इस नाम की दूसरी विशेषता यह है कि यह राम और कृष्ण नामों के साथ घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। कलिसन्तरणोपनिषद् में लिखा है "द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन् कलिं सन्तरेयमिति स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्ठोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तत्-शृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदि पुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति स होवाच हिरण्यगर्भः हरेराम हरेराम। राम राम हरे हरे। हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ इति षोडशकं नाम्ना कलि-कल्मषनाशनम्। नातःपरतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥" इस उक्ति में राम, कृष्ण और हरि नामों का संयोग बताया गया है। "हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा" आदि वाक्यों में गोस्वामी जी ने राम के लिये हरि शब्द का प्रयोग किया है और "जीह जसोमति हरि हलधर से" कहकर उन्होंने कृष्ण के लिये भी हरि शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये रामभक्ति और कृष्णभक्ति को एक ही भक्ति की दो शाखाएँ अथवा एक ही भक्ति के दो रूप बताने के अभिप्राय से गोस्वामी जी ने यहाँ हरि-भक्ति की बात कही है। विरति और विवेक का विशेष उपयोग करने से उन्होंने कृष्णभक्ति की अपेक्षा रामभक्ति को श्रेष्ठ अवश्य समझा परन्तु उनकी रामभक्ति समूची हरिभक्ति का विशुद्धतम रूप बनकर ही रही। उसमें सोलह कला और बारह कला के से झंझटों को कोई स्थान नहीं

---

[1]परमात्मा को सर्वगत (अनन्त विशाल) और सर्वहित (परम-कल्याणकारी) जान कर ही भजने की आज्ञा भगवान् रामचन्द्र जी निम्नलिखित पंक्ति में देते हैं :—

सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम। ४५१-१६

दिया गया। इसलिये उन्होंने अपनी अभीष्ट भक्तिपद्धति के परिचयार्थ यहाँ व्यापक नाम—हरिभक्ति—ही पसन्द किया। वे जिस तरह शङ्कर-भक्तों को अपनी ओर समेटना चाहते थे उसी तरह कृष्ण भक्तों को भी। शङ्करभक्ति को अपनी पद्धति का आवश्यक अङ्ग बनाकर उन्होंने शङ्करभक्तों को समेटा और अपनी भक्तिपद्धति को हरिभक्ति नाम देकर उन्होंने कृष्णभक्तों को भी सन्तुष्ट कर दिया।

इस नाम की तीसरी विशेषता यह है कि अनेकानेक भक्त आचार्यों ने भगवन्नाम की महिमा में इसी नाम का विशेष प्रयोग किया है। वैदिक ऋचाओं के आदि मे जब तक "हरिःओं" न कहा जाय तब तक पाठ का प्रारम्भ ही नहीं होता। फिर,

> नित्योत्सवस्तदा तेषां नित्य श्रीनित्य मङ्गलम्।
> येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः ॥—जमदग्नि
> हरेर्नामैव नामैव नामैव ममजीवनं।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥—विदुर
> हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
> अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥—अंगिरा
> सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
> बद्धःपरिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥—पाराशर
> आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैवं पुनः पुनः।
> इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो हरिः ॥—शुक[1]

"किं स्मर्तव्य पुरुषैः? हरिनाम सदा—शङ्कराचार्य (प्रश्नोत्तरी) आदि अनेकानेक श्लोक हरिनाम महिमा के साक्षी हैं। गोस्वामी जी ने इन सब आचार्यों के निष्कर्ष को अमान्य करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। इसलिये यद्यपि अपने इष्टदेव के नाते उन्होंने राम

---

[1] ये सब श्लोक पाण्डव गीता से लिये गये हैं।

के नाम को सर्वश्रेष्ठ महत्त्व प्रदान किया है तथापि अपने वैष्णव औदार्य के कारण यहाँ पर परम रामभक्त भुशुण्डी जी के मुख से उन्होंने "हरिभक्ति" की चर्चा की है।

तीसरा विचारणीय शब्द है "संयुतबिरतिविवेक"। इस शब्द का दोनों दृष्टिकोणों से विचार कर लेना ठीक होगा। पहिला दृष्टिकोण है तात्विक और दूसरा है व्यावहारिक। तात्विक दृष्टिकोण से विचार करने पर हम सहज ही जान सकते हैं कि ज्ञान क्रिया और भाव का अथवा विवेक विरति और भक्ति का समन्वय हुए बिना जीव की उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती। कागज के दोनों पृष्ठ और उसकी सफेदी की तरह जिज्ञासा चिकीर्षा और अनुभूति अथवा ज्ञातृत्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व (Knowing, Willing, Feeling) का कुछ ऐसा पारस्परिक मेल रहा करता है कि हम एक को दूसरों से पृथक् कर ही नहीं सकते। हमारी बुद्धि को किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक मस्तिष्क आदि में उस ज्ञान की क्रिया न हो जाय। और फिर ज्ञान होकर चित्त में उसकी अनुभूति होनी भी ज़रूरी है। हमारे मन में किसी क्रिया के लिये चेष्टा ही नहीं उत्पन्न हो सकती जब तक कि हमें उसके विषय का कुछ ज्ञान और उस सम्बन्ध की कुछ भावना न हो। हमारे चित्त में ऐसे किसी भाव का उठना प्रायः असम्भव ही है जो आलम्बन अथवा उद्दीपन के ज्ञान से एकदम शून्य हो तथा अनुभाव आदि की क्रियाओं से एकदम रहित हो। यदि कोई चाहे कि वह केवल अनुभूति के मार्ग से अग्रसर होकर शेष दोनों मार्गों की—ज्ञान और कर्म—भरपूर उपेक्षा कर सकता है तो यह उसकी भूल ही तो होगी। इसी लिये जो सच्चे तत्त्वदर्शी आचार्य हैं उन्होंने साम्प्रदायिकता का दुराग्रह छोड़कर ज्ञान कर्म और भक्ति के समन्वय को ही विकास का सम्यक् मार्ग बताया है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार जिन जीवों में ज्ञानार्जनी वृत्ति की प्रबलता है वे उसी समन्वय

मार्ग को ज्ञानयोग कह देते हैं, जिनमें कार्यकारिणी वृत्ति की प्रबलता है वे उसे कर्मयोग कह देते हैं और जिनमें चित्तरंजिनी वृत्ति की प्रबलता है वे उसी मार्ग को भक्तियोग कह देते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानयोग में विरति और भक्ति की आवश्यकता नहीं कर्मयोग में विवेक और भक्ति की आवश्यकता नहीं अथवा भक्तियोग में विरति और विवेक की आवश्यकता नहीं। ज्ञानयोग वास्तव में भक्तिमूलक वैराग्यप्रधान ज्ञानयोग है, कर्मयोग वास्तव में ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग है और भक्तियोग वास्तव में ज्ञानमूलक वैराग्यप्रधान भक्तियोग है। अधिकारी भेद से जिस प्रकार एक ही मार्ग के तीन अलग अलग नाम हो जाते हैं उसी प्रकार का अधिकारीभेद ही के कारण उस मार्ग के अङ्गों में प्राधान्य अप्राधान्य आदि दिखा दिया जाता है। कर्मयोगी के लिये अनासक्ति (वैराग्य) की प्रधानता है, ज्ञानपयोगी के लिये विवेक की प्रधानता है और भक्तियोगी के लिये अनुभूति (अनुरक्ति) की प्रधानता है। परन्तु इस प्रकार की प्रधानता रहते हुए भी शेष दो अङ्गों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। ऐसे बहिष्कार की चेष्टा असंभव भी है और अवाञ्छनीय भी। इसलिये गोस्वामी जी ने अपनी हरिभक्ति को संयुत-विरति-विवेक कहा है।

"संयुतविरतिविवेक" को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर विदित होगा कि इस विशेषण से विशिष्ट करके गोस्वामी जी ने अपने भक्तिपथ को केवल निर्दोष ही कर दिया है, वरन् उसे देशकालानुकूल परम उपयोगी भी बना दिया है। भक्ति तो प्रेम और श्रद्धा का विषय है और लोग कहते हैं कि ये दोनों चीज़ें अक्सर अन्धी रहा करती हैं। फिर भक्ति और मोहासक्ति (माया मोह) का भेद भी इतना सूक्ष्म है कि सामान्य दृष्टि उसे देखने और परखने में बेकाम हो तो बनी रहती[१]

---

[१] अद्वैतवादियों ने भक्तिभाव को भी वास्तविक माया का एक अङ्ग

इसलिये जब तक उसे ज्ञान और वैराग्य की आँखे न प्रदान की जायँगी तब तक क्या भरोसा कि वह परमधाम तक हमें पहुँचा ही दे।

विवेक की आँख ही का चमत्कार देखिये। श्रद्धा तो कह रही थी कि जो कुछ है सो दाशरथि राम ही हैं। परन्तु विवेक ने कहा, "नहीं; उनके रूप का वैविध्य देखा जावे।" श्रद्धा यदि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होती तो राम की महिमा के आगे अन्य देवों की तुच्छता दिखाने के लिये शंकर आदि को भी दो चार गालियाँ सुना सकती, परन्तु यह विवेक ही थी जिसने रामभक्ति और शंकरभक्ति का सामञ्जस्य करके दोनों का अभिन्न बताया। श्रद्धा तो हरिशब्द के अन्तर्गत राम और कृष्ण दोनों को सम्मिलित करके रामभक्ति और कृष्णभक्ति का समान प्रवाह चला सकती थी; परन्तु यह विवेक ही था, जिसने कृष्णभक्ति के साथ सम्बन्ध हो जाने वाली विलासता और उच्छृङ्खलता का ध्यान करके रामभक्ति के लोक-रक्षक रूप पर ही पूरा जोर दिया। मूर्तिपूजा ही का विषय लीजिये। वह सनातनधर्म का एक प्रधान अङ्ग है और सनातन काल से भारतवासी उसे सम्मान देते आये हैं। "आगम निगम पुराण" के अनेकानेक ग्रन्थ उसका मंडन कर रहे हैं। इसलिये श्रद्धा निश्चय ही उसे भक्तियोग का प्रधान स्तम्भ कह सकती है। परन्तु विवेक देखता है कि यवन साम्राज्य में धड़ाधड़ मूर्तियाँ तोड़ी जा रही हैं और मूर्तियों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे मूर्तिभंजकों का मानभंजन तक कर सकें। इसलिये वह मूर्ति-पूजा के रहस्य को भली भाँति समझकर अपना निर्णय सुनाता है कि युगधर्म के अनुसार मूर्तिपूजा को द्वापरकाल की साधना समझना चाहिये न कि कलियुग की। "कलि केवल हरिनाम अधारा" की बात मानकर मूर्तिपूजा के बदले नामजप ही को भक्ति का प्रधान साधन बनाना चाहिये।

ही माना है। भक्ति और मायामोह दोनों की जड़ में, आसक्ति ही तो काम कर रही है।

मार्ग को ज्ञानयोग कह देते हैं, जिनमें कार्यकारिणी वृत्ति की प्रबलता है वे उसे कर्मयोग कह देते हैं और जिनमें चित्तरंजिनी वृत्ति की प्रबलता है वे उसी मार्ग को भक्तियोग कह देते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानयोग में विरति और भक्ति की आवश्यकता नहीं कर्मयोग में विवेक और भक्ति की आवश्यकता नहीं अथवा भक्तियोग में विरति और विवेक की आवश्यकता नहीं। ज्ञानयोग वास्तव में भक्तिमूलक वैराग्यप्रधान ज्ञानयोग है, कर्मयोग वास्तव में ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग है और भक्तियोग वास्तव मे ज्ञानमूलक वैराग्यप्रधान भक्तियोग है। अधिकारी भेद से जिस प्रकार एक ही मार्ग के तीन अलग अलग नाम हो जाते हैं उसी प्रकार का अधिकारीभेद ही के कारण उस मार्ग के अङ्गों में प्राधान्य अप्राधान्य आदि दिखा दिया जाता है। कर्मयोगी के लिये अनासक्ति (वैराग्य) की प्रधानता है, ज्ञानपथगामी के लिये विवेक की प्रधानता है और भक्तियोगी के लिये अनुभूति (अनुरक्ति) की प्रधानता है। परन्तु इस प्रकार की प्रधानता रहते हुए भी शेष दो अङ्गों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। ऐसे बहिष्कार की चेष्टा असंभव भी है और अवाञ्छनीय भी। इसलिये गोस्वामी जी ने अपनी हरिभक्ति को सयुत-विरति-विवेक कहा है।

"संयुतविरतिविवेक" को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर विदित होगा कि इस विशेषण से विशिष्ट करके गोस्वामी जी ने अपने भक्तिपथ को केवल निर्दोष ही कर दिया है, वरन् उसे देशकालानुकूल परम उपयोगी भी बना दिया है। भक्ति तो प्रेम और श्रद्धा का विषय है और लोग कहते हैं कि ये दोनों चीज़ें अक्सर अन्धी रहा करती हैं। फिर भक्ति और मोहासक्ति (माया मोह) का भेद भी इतना सूक्ष्म है कि सामान्य दृष्टि उसे देखने और परखने में बेकाम हो तो बनी रहती[1]

---

[1] अद्वैतवादियों ने भक्तिभाव को भी वास्तविक माया का एक अङ्ग

इसलिये जब तक उसे ज्ञान और वैराग्य की आँखे न प्रदान की जायँगी तब तक क्या भरोसा कि वह परमधाम तक हमें पहुँचा ही दे।

विवेक की आँख ही का चमत्कार देखिये। श्रद्धा तो कह रही थी कि जो कुछ है सो दाशरथि राम ही हैं। परन्तु विवेक ने कहा, "नहीं: उनके रूप का औचित्य देखा जावे।" श्रद्धा यदि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता तो राम की महिमा के आगे अन्य देवों की तुच्छता दिखाने के लिये शंकर आदि को भी दो चार गालियाँ सुना सकती, परन्तु यह विवेक ही थी जिसने रामभक्ति और शंकरभक्ति का सामञ्जस्य करके दोनों का अभिन्न बताया। श्रद्धा तो हरिशब्द के अन्तर्गत राम और कृष्ण दोनों को सम्मिलित करके रामभक्ति और कृष्णभक्ति का समान प्रवाह चला सकती थी; परन्तु यह विवेक ही था, जिसने कृष्णभक्ति के साथ सम्बन्ध हो जाने वाली विलासता और उच्छृङ्खलता का ध्यान करके रामभक्ति के लोक-रक्षक रूप पर ही पूरा जोर दिया। मूर्तिपूजा ही का विषय लीजिये। वह सनातनधर्म का एक प्रधान अङ्ग है और सनातन काल से भारतवासी उसे सम्मान देते आये हैं। "आगम निगम पुराण" के अनेकानेक ग्रन्थ उसका मंडन कर रहे हैं। इसलिये श्रद्धा निश्चय ही उसे भक्तियोग का प्रधान स्तम्भ कह सकती है। परन्तु विवेक देखता है कि यवन साम्राज्य में धड़ाधड़ मूर्तियाँ तोड़ी जा रही हैं और मूर्तियों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे मूर्तिभंजकों का मानभंजन तक कर सकें। इसलिये वह मूर्ति-पूजा के रहस्य को भली भाँति समझकर अपना निर्णय सुनाता है कि युगधर्म के अनुसार मूर्तिपूजा को द्वापरकाल की साधना समझना चाहिये न कि कलियुग की। "कलि केवल हरि नाम अधारा" की बात मानकर मूर्तिपूजा के बदले नामजप ही को भक्ति का प्रधान साधन बनाना चाहिये।

ही माना है। भक्ति और मायामोह दोनों की जड़ में, आसक्ति ही तो काम कर रही है।

फिर, कर्मसिद्धान्त ही की ओर देखिये। श्रद्धा कहती है कि सर्वसमर्थ भगवान् की कृपा हो जाय तो तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बन जाय, बात की बात में दिन की रात और रात का दिन हो जाय, धोखे में भी भगवान् का नाम उच्चारण करने मात्र से ही अधमाधम की भी मुक्ति हो जाय। इसलिये जो कुछ है सो भगवान् की कृपा है। विवेक कहता है कि "ठीक! माना!! परन्तु आखिर इस कृपा के लिये भी तो अपनी ओर से कुछ किया चाहिये। वह क्रिया ही तो कर्मचक्र के सार्वभौम नियम की संरक्षा करते हुये भगवान् के न्याय और भगवान् की दया का सामञ्जस्य स्थापित करती है। इसलिये भक्ति के मार्ग में अनर्गलता अथवा उच्छृङ्खलता को स्थान ही कहाँ है!" विवेक की महिमा के व्यावहारिक दृष्टिकोण को समझाने के लिये ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जैसा विवेकदृष्टि का हाल है वैसा ही विरतिदृष्टि का भी है। भगवान् की ओर आसक्ति होने से "सत्यशिवसुन्दर" की ओर आसक्ति होना स्वाभाविक हो जाता है। इस आसक्ति का विस्तार बहुत भारी है। इम्तिहान में पास होना, मुकदमा जीत जाना, दुश्मन पर फतह पा लेना आदि आदि बातें भी "शिव" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं, दूसरे के मन की बात जान लेना, अपने कार्यों या किसी विशिष्ट कार्य या विचार का भावी परिणाम स्पष्ट देख लेना आदि बातें 'सत्य" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं और कान्ता की रूपछटा का मोह कोमल शिशु के लावण्य का मोह, विलासितामय परिस्थिति का मोह, अपने को मधुर (अथच सुन्दर) जान पड़ने वाली अपनी कीर्ति का मोह और उपयोगिता की दृष्टि से परम सुन्दर जान पड़नेवाले कांचन (रुपये पैसे आदि) का मोह आदि बातें "सुन्दर" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं। यह कहना तो बहुत आसान है कि जब सभी कुछ विरचना भगवान् का चमत्कार है तब किसी भी बात की ओर

आसक्ति रखना उन्हीं की ओर आसक्ति रखना होगा परन्तु यह देखना बहुत कठिन है कि ऐसी प्रत्येक आसक्ति के भीतर जो "अहं" और "ब्रह्म" का द्वन्द्व छिपा रहता है वह कितना घातक और कितना अशान्तिकर है। विश्व के सम्बन्ध में जितनी आसक्ति है उसका यदि विवेचन किया जाय तो पता लगेगा कि उस आसक्ति के भीतर अहं—ऐसा अहम् जो अपने को ब्रह्म से पृथक् समझ रहा है—किस गहराई तक पैठा हुआ है। आश्चर्य है कि "अहम्" अपनी इस आसक्ति की पूर्णता के लिये उस ब्रह्म ही को अपना साधन बनाता है जो सब प्रकार से उसका आराध्य होना चाहिये था। मैं अलग, कामिनीकांचन आदि पदार्थ अलग और मेरे लिये मेरी आसक्ति के इन पात्रों को जुटा देनेवाला परमात्मा अलग! इन्द्रियों के चक्कर में पड़कर अन्धी बन जाने वाली आसक्ति इससे अधिक और सुझा ही क्या सकती है। परिणाम यह होता है कि हम इम्तिहान में पास होने के लिये भगवान् को एक नारियल या सवा रुपये के प्रसाद का प्रलोभन देते हैं, मुकदमा जीतने के लिये सत्यनारायण की मानता मानते हैं, मनचाही स्त्री से अपना विवाह करा देने के लिये परमात्मा को एक प्रकार से अपना घटक होने के लिये कहते हैं और जब ये बातें किसी कारणवश सिद्ध नहीं होतीं तब या तो पुराणों को जलाने लगते हैं या मूर्तियाँ इधर उधर फेंकने लगते हैं या ईश्वर के एक एक नाम पर सौ सौ कटु वाक्य कहने लगते हैं। जिसके पास विरति रूपी दृष्टि है वह ऐसा कदापि न करेगा।

भक्ति का उद्देश्य है अलौकिक आनन्द न कि लौकिक वस्तुओं अथवा सुख साधनों की प्राप्ति। इसलिये जो समझता है कि मैं भक्ति के सहारे अमुक पदार्थ अमुक शक्ति अथवा अमुक अवस्था पा ही लूँगा वह भूल करता है। भगवान् उसकी इन इच्छाओं की पूर्ति कर दें यह दूसरी बात है परन्तु वे साधक के क्रीतदास नहीं हैं जो सदैव उसके इशारों पर नाचते हुए अलाउद्दीन के चिरागी शैतान की भाँति उसकी

इच्छाएँ ही पूर्ण करते फिरें। नारद जी से बढ़कर कौन भक्त होगा परन्तु जब उन्होंने भी राजकुमारी की प्राप्ति के लिये ईश्वर को साधन बनाना चाहा तब भगवान् ने बात की बात में उन्हें चारों खाने चित्त कर दिया। इसलिये जो सच्चा भक्त है वह लौकिक वस्तुओं अथवा सुख-साधनों के लिये नहीं वरन् भक्ति के आनन्द के लिये ही भक्ति करता है[१]।

गोस्वामी जी यद्यपि यह स्पष्ट लिखते है कि भक्त के पास सुख-सम्पत्तियाँ बिना बुलाए दौड़ी चली आती हैं[२] तथापि वे इस बात का प्रलोभन देकर लोगों को अपने भक्तिमार्ग की ओर आकृष्ट करना नहीं चाहते। वे कहीं भी नहीं कहते कि अमुक मन्त्र का अमुक प्रकार से अनुष्ठान करने पर अमुक सिद्ध हो ही जायगी। प्रलोभनों के तो वे इतने विरुद्ध जान पड़ते हैं कि उन्होंने स्वर्ग अथवा बैकुण्ठ के रोचक वर्णनों से भी अपनी लेखनी को साफ बचा लिया है। वे कहीं भी यह नहीं कहते कि भगवद्भक्तों को परलोक में बढ़िया बढ़िया महल, मधुर मधुर उपवन, सुन्दर सुन्दर स्त्रियाँ, राशि राशि मणिमाणिक्य आदि मिलेंगे। वे तो उलटे यह कहते हैं कि "भाई, भक्ति करना है तो सब आशा और भरोसा छोड़कर भक्ति करो[३], समूचे संसार से विरक्त होकर भक्ति करो।"

---

[१] जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु॥—२२१-९,१०

[२] जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बोलाए। धरमशील पहँ जाहिं सुभाये॥
१३४-१४, १५

[३] तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहिं सन्तत सठ मना। ३७०-१४
निजसिद्धान्त सुनावहु तोही। सुन मन धरु सब तजि भजु मोही॥
४८१-१६

अस बिचार भजु मोहिं परिहरि आस भरोस सब। ४८२-१६

गोस्वामी जी के समय में देश पराधीन हो रहा था। भारतीय सनातनधर्म पर न जाने कितने बाहरी और भीतरी आघात किये जा रहे थे। तपोबल पर से लोगों की आस्था उठ सी गई थी। ब्रह्मशाप से प्रतापभानु सरीखे राजाओं का समूल उन्मूलन केवल नानी की कहानियों का विषय समझा जा रहा था। लाख लाख पुकार करने पर भी चक्रधारी भगवान् दिल्ली की गद्दी पर किसी युधिष्ठिर को बैठाने के लिये राज़ी नहीं होते से जान पड़ते थे। ऐसी स्थिति में कामनाशील भक्तों के लिये दो ही रास्ते रह गये थे। या तो वे अपने अथवा देश के प्रारब्ध को दोष देकर कलियुग की गौरवगाथा गाते हुए चुप हो जाया करते थे या इस विषमता में ईश्वर की असमर्थता के प्रमाण पाकर धार्मिक क्रान्तिकारी बन जाते थे। जो आस्तिकता, कामना और प्रयत्न तीनों को ढोते हुए चलना चाहते थे वे अधिकांश में साधुमतवादी बनकर गुरु-शिष्यपरम्परापद्धति वाली व्यक्तिगत साधना की ओर लोगों का झुका रहे थे। गोस्वामी जी ही वे महानुभाव थे जिन्होंने बहुत ही स्पष्टता के साथ यह सोचा कि भारतवर्ष में रामराज्य आने के लिये भारतीय हृदयों में राम का आविर्भाव आवश्यक है और राम के आविर्भाव के लिये सांसारिक वस्तुओं के प्रति सुदृढ़ रहनेवाली आसक्ति का तिरोभाव आवश्यक है[1]। इसीलिये गोस्वामी जी ने—आस भरोस की जड़ काटी। वे उन लोगों में नहीं थे जो भाँति भाँति के प्रलोभन देकर शिष्यों को साधनामार्ग में फँसा लेते और क्रियासिद्धि के अभाव में फिर उन्होंने भयङ्कर अविश्वासी बन जाने के लिये बाध्य कर देते हैं।

गोस्वामी जी का सिद्धान्त है "सब तज हरि भज"। यहाँ वे "हरि" को "सज" से बाहर कर लेते हैं। इसी प्रकार "परिहरि आस भरोस

---

[1] जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकै रवि रजनी एक ठाम॥

सब" "भजहिं जो मोहि तजि सकल भरोसा" "अमृतपैव भाति सकलं" आदि में "सब" का अर्थ आराध्येतर अन्य सर्व वस्तु है। उन सब विषयों अथवा वस्तुओं के लिये तो वे विरति और विवेक का प्रयोग करने के लिये कहते हैं परन्तु आराध्य के सम्बन्ध में न तो वे विरति ही की सिफारिश करते हैं और न विवेक ही की। आराध्य के लिये तो वे "एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास" रखते हैं। "सपनेहु आन भरोस न देवक" (३०४-५) उनके सीतापति का परम सेवक है। उनका भक्त जगत से विरक्त हो परन्तु आराध्य में पूर्णतः अनुरक्त (आसक्त) हो। इसी प्रकार वह संसार की सभी बातों को चाहे तो तर्क की कतरनी से कतर कर फेंक दे परन्तु यदि वह भगवदवतार के विषय में तर्क की कैंची चलावेगा तो ठीक उसी प्रकार की फटकार पावेगा जैसी शङ्कर जी के द्वारा पार्वती जी को मिली थी। वहाँ विवेक इसी में है कि चुपचाप श्रद्धा से काम लिया जाय। हम अनध्यस्त विवर्त की बात पहले कह आये हैं। विवेकदृष्टि से यद्यपि यह अवतारवाद एक विवर्त ही है तथापि वह अनध्यस्त होने के कारण किसी दिन आप ही आप ब्रह्मज्ञान करा देता है। कनककुण्डल के तत्त्व को हृदयङ्गम करते हुए हम अनायास ही कनक के तत्त्व को हृदयङ्गम कर लेते हैं।[1]

[1] शायद इसीलिये राम कृष्ण सरीखे प्रख्यात अवतारों को धोखे से (उन्हें ईश्वर न जानते हुए) भजन करना भी प्रशस्त बताया गया है। भागवतकार कहते हैं कि जार बुद्धि से भी कृष्ण में आसक्त होकर कुछ गोपियाँ तर गई थीं (भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध अ० २६ श्लो० ११)

गोस्वामी जी कहते हैं:—

जो जगदीश तौ अति भलौ जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग॥

(दोहावली ६१ दोहा)

गोस्वामी जी ने अपने भक्तिमार्ग को श्रद्धा और आसक्ति के सहारे ठहराया जरूर है परन्तु उनकी वह श्रद्धा सत्तर्क को लिये हुए है और यह आसक्ति विरक्ति की आँच से भलीभाँति संशोधित की हुई है। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥ – १६-३
सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥
ए सब रामभगति के बाधक। कहहि सन्त तव पद अवराधक ॥
१३१-१६, १७

सरसी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान विराग नयन उरगारी ॥
भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी।
५०३-१, २

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥ ५०३-९, १०

चौथा विचारणीय शब्द है "श्रुतिसम्मत"। यह अवश्य है कि गोस्वामी जी का हरिभक्तिपथ विरति विवेक से संयुक्त होने के कारण हठ, पक्षपात और दुराग्रह से कोसों दूर है। परन्तु यह भी अवश्य है कि वे अपने उस पथ को "श्रुति" के भीतर ही सीमित रखना चाहते हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी के मतानुसार श्रुति का अर्थ बहुत व्यापक है। इतिहास, पुराण, उपनिषदें, स्मृतियाँ तन्त्र आदि सब कुछ "श्रुति" के अन्तर्गत समझे जाते थे। यद्यपि यह ठीक है कि प्राचीन साहित्य में धर्म का तत्वज्ञान (Philosophy) विशेषकर निगम से, बाह्याचार (Ritual) विशेषकर आगम से और आस्तिक्यभाव (theology) विशेषकर पुराणों से मिलता है इसी लिये स्थल स्थल पर गोस्वामी जी "आगम निगम पुराण" की बातें करते हैं परन्तु यह भी निश्चित है कि वे इन तीनों को श्रुति शब्द के

अन्तर्गत ही मानते हैं और उसकी विस्तीर्णता के यहाँ तक कायल हैं कि सामान्य बातों के प्रमाण के लिये भी वे वेदों ही का नाम लेते हैं। श्रुति के इस वृहत्यकाय रूप के भीतर हरएक बात का सामञ्जस्य भिड़ाना एक प्रकार से असंभव ही है। गोस्वामी जी यह बात न जानते हों सो नहीं है। परन्तु उन्होंने अपने भक्त के हाथ में ज्ञान वैराग्य की ढाल तलवार देकर यह निश्चय कर रखा है कि इन शस्त्रों वाला जीव श्रुति के केवल उन्हीं सिद्धान्तवाक्यों को ग्रहण करेगा जो उसके तथा समाज के लिये वास्तविक रूप से हितकारी होंगे। यही कारण है कि जिन आगमों का नाम उन्होंने श्रद्धापूर्वक लिया है उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित शाक्तापन्थ को उन्होंने हेय बताया है और कौल को (साम्प्रदायिक शाक्त को) 'जीवित शव'[1] की उपाधि दी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब भक्तिपथ के लिये विवेक वैराग्य का आधार रख दिया गया तब फिर श्रुतिसम्मति की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। पहिली बात तो यह है कि श्रुति अधिकांश में आप्तवाक्य है। आप्त को हम विशेषज्ञ (expert) कह सकते हैं। सच्चे आप्तों का दर्जा विशेषज्ञों से भी अधिक है क्योंकि विशेषज्ञता कभी कभी प्रखर बुद्धि अथवा विशेष तार्किक प्रणाली के सहारे भी प्रसिद्ध हो सकती है परन्तु आप्त होना तो तभी सम्भव है जब वर्ण्य विषय की सिद्धि केवल प्रखर बुद्धि से नहीं वरन् पूर्ण अनुभव से भी हो जाय। इस तरह आप्त लोगों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान एकदम निर्भ्रान्त होगा ही क्योंकि उसका आधार केवल तर्क ही नहीं वरन् हृदय का अनुभव भी है। इन अनुभवात्मक वाक्यों में यदि परस्पर विरोध जान पड़ता है तो समझना चाहिये कि या तो इन वाक्यों

---

[1] कौल कामबस कृपिन विमूढ़ा..........
..........जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥ २८७-८ से १०

को कहनेवाले ऋषियों के हृदय की भूमिका अलग अलग थी—दृष्टिकोण अलग अलग थे—या उनके शब्दों का अर्थ अलग अलग है। कई वाक्य भी ऐसे हैं जिसका ठीक ठीक अर्थ हम नहीं समझ पाते। या तो वे रूपक के ढंग पर कहे गये हैं या उनके शब्दों का अर्थ लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों के सहारे किसी दूसरी ही ओर झुका रहता है। यदि ऐसे वाक्य हमारी विवेक और वैराग्यवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं तो हम उन्हें शौक से छोड़ सकते हैं।१ परन्तु यदि इसी कारण हम सभी वाक्यों को अप्रामाण्य मानें तो ऐसा समझना चाहिये कि हम सच्चे विशेषज्ञों की राय का अनादर कर रहे हैं। उन लोगों को स्वकथित तत्त्वों और सिद्धान्तों का अनुभव करने के अतिरिक्त और काम ही क्या था? अपना पूरा जीवन खपाकर उन्होंने जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया और हजारों वर्षों से जिन्हें जनता मानती आई उन सिद्धान्तों को हम किस प्रकार एकदम ठुकरा सकते हैं? हम सरीखे सामान्य जीवों को केवल अपनी बुद्धि का कहाँ तक भरोसा करना चाहिये। यदि हमारी राय के साथ बड़े-बड़े विशेषज्ञों की राय मिल जाय तभी समझना चाहिये कि हमारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त जनता के लिये संतोष-दायक और लाभदायक सिद्ध होगा। इसीलिये गोस्वामी जी ने अपने सिद्धान्त को श्रुतिसम्मत बताने की बड़ी आवश्यकता समझी है। फिर, आध्यात्मिक मार्ग में ऐसा कोई विषय भी तो नहीं है जिस पर इन आप्तों ने विचार न किया हो। ऐसा कोई तात्त्विक सिद्धान्त ही नहीं है जिसका मूल वेदों में न हो। तब फिर वेदों का तिरस्कार करके अपने विचारे

१उदाहरणार्थ अहल्या की कथा ही लीजिये। कुमारिल भट्ट ने इसे प्राकृतिक हरिवषय का रूपक मात्र सिद्ध किया है। फिर भी जो लोग इसमें इन्द्र की कामुकता की ध्वनि देख रहे हैं वे शौक से इस प्रकरण को त्याग सकते हैं।

हुए सिद्धान्त की नवीनता की डींग हाँकने से लाभ ही क्या है ? मौलिकता की शेखी बघारना दूसरों को चाहे शोभा दे जाय पर गोस्वामी जी के सदृश भक्तों को तो वह कदापि शोभा नहीं दे सकता। ऐसा भक्त तो अनुग कहाने में ही अपना महत्त्व समझता है।

दूसरी बात यह है कि भारतवासियों के लिये वही भक्तिपथ वांछित है जिसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषा से हो। यह सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ ही की चर्चा की जाय क्योंकि श्रुतिग्रन्थ ही आर्यभाव और भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषा के सच्चे कोष हैं। अब्दुर्रहीम और भगवानदास का शाब्दिक अर्थ एक ही है। अल्लाह, खुदा, गाड अथवा राम के वास्तविक अर्थों में कुछ अन्तर नहीं। हिन्दू गुरु बनाने की अपेक्षा किसी पीर पैगम्बर को गुरु मानकर चलना कुछ बुरा नहीं कहा जा सकता। विचारदृष्टि से यह सब बहुत ठीक है परन्तु अब्दुर्रहीम, अल्लाह खुदा, गाड, पीर, पैगम्बर, क्राइस्ट आदि शब्दों और व्यक्तियों में वह भारतीयता सम्बद्ध नहीं है जो भारतीयों को उन्हें अपना आत्मीय समझने में उत्साहित करे। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है कि "राम शब्द के उच्चार से लाखों करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और गाड शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा।"[१] इसीलिये भारतीयों के कल्याणार्थ श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ ही उपयुक्त हो सकता है, दूसरा नहीं।

गोस्वामी जी के समय में भारत की सुसंस्कृत भक्तिपद्धति चार प्रधान धाराओं में विभक्त थी। पहिली थी बौद्ध और जैन पद्धति, दूसरी शाक्तपद्धति, तीसरी विभिन्न साम्प्रदायिक पद्धति, चौथी निर्गुणवादी सन्तपद्धति। बौद्ध और जैन पद्धतियों का गोस्वामी जी ने न तो खण्डन

---

[१] धर्मपथ-पृष्ठ २४

ही किया है और न मण्डन ही क्योंकि भगवान् बुद्ध और भगवान् ऋषिभदेव तो "श्रुतियों" (पुराणों) के अनुसार हरि के अवतार ही थे। फिर उनकी पूजापद्धतियों के खण्डन मण्डन की आवश्यकता ही क्या थी। जैन कवि बनारसीदास के समागम के अवसर पर वे पार्श्वनाथ जी की स्तुति करने में भी नहीं चूके[1]। हाँ, यदि कोई इन पद्धतियों को सनातन धर्म से—श्रुतिप्रतिपादित धर्म से पृथक् माने तो गोस्वामी जी उसका साथ देने के लिये तैयार न थे। शाक्तपद्धति में कौलों का वाम-मार्ग उन्हें एकदम अरुचिकर जँचा इसलिये उसकी उन्होंने निन्दा ही की। विभिन्न शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायिक पद्धतियों में यद्यपि श्रुतिसम्मतता थी तथापि विचारों की सकीर्णता के कारण आडम्बरप्रियता तथा पारस्परिक विद्वेष की भावना भी बहुत दूर तक अपना अधिकार जमा चुकी थी विरति और विवेक के सहारे गोस्वामी जी ने इन साम्प्रदायिक पद्धतियों के दोषों को दूर कर उन सब का सामञ्जस्य करने की चेष्टा की। सन्तपद्धति में यद्यपि विरति और विवेक की पर्याप्त मात्रा थी तथापि अवतारवाद आदि का विरोध होने से वह सोलह आने श्रुतिसम्मत नहीं कही जा सकती थी। इसलिये गोस्वामी जी को सन्तों का मतबाहुल्य भी नहीं पसन्द आया। उन्होंने अपनी हरिभक्तिपद्धति के सम्बन्ध में जिन दो विशेषणों का—"श्रुतिसम्मत" और "संयुतविरतिविवेक" का उपयोग किया है उनमें से अन्तिम विशेषण तो विशेषकर शाक्त और साम्प्रदायिक पद्धतियों के संशोधन के लिये है और प्रथम विशेषकर अ-सनातनीय मानी जाने वाली जैन-बौद्ध और सन्तमत की पद्धतियों के संशोधन के लिये है। जैनों और बौद्धों के

---

[1] जिहिं नाथ पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित भजत तुलसीदास॥
—देखिये "गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ ११८

अविरोधी रहते हुए भी गोस्वामी जी भारत के लिये व्यवस्था देते हैं "श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ" की अर्थात् उस भक्तिपथ की जिसमें राम और कृष्ण के समान मर्यादापुरुषोतम लोकसंस्थापक आराध्य विद्यमान हों। सन्तों के परम सेवक और सत्सङ्गति के परम भक्त रहते हुए भी वे पंथप्रवर्त्तकों को केवल इसीलिये करारी फटकार बताते हैं कि इन्होंने अवतारवाद पर श्रद्धा न दिखाई। अवतारवाद सनातनी सिद्धान्तों का एक प्रधान आधारस्तम्भ है। वह केवल श्रद्धा ही का विषय नहीं है वरन् बुद्धि भी उसकी उपयोगिता की कायल हो सकती है। महात्मा गाँधी कहते हैं "जीव मात्र ईश्वर का अवतार है परन्तु लौकिक भाषा में सब को हम अवतार नहीं कहते जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् है उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता।" "गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय कहते हैं "लोककल्याण की दृष्टि से सगुणोपासना के क्षेत्र में भक्ति का चरम उत्कर्ष अवतारवाद की भावना में मिलता है। अवतार नाम और रूप की परम मनोहर सुग्राह्य विभूति है; मुक्ति और आसक्ति का समन्वय है...... अवतार की भावना के हो कारण मनुष्य के कार्यों में ईश्वर का हाथ दिखाई देता है, सत्प्रवृत्तियों के लिये दृढ़ आधार मिल जाता है, मनुष्यता को विकसित होकर ईश्वरीय विभूति में परिणत हो जाने का मार्ग खुल जाता है और दुःखवाद के अन्धकार में पड़े हुए संसार पर मंगलाशा की ज्योति फैल जाती है जिससे उत्साहित होकर भक्त इसलोक तथा परलोक दोनों को एक ही युद्धक्षेत्र में जय कर सकता है।" अवतारवाद की जिस एक त्रुटि की ओर श्री डाक्टर बड़थ्वाल महोदय ने अपने ग्रन्थ "दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री" में इशारा किया है[1] वह भी वास्तव में त्रुटि नहीं कही जा सकती क्योंकि अवतार के

---

[1] देखिये पृष्ठ ६८

मुख से स्वमहिमास्थापन के वाक्य कहाकर भक्त कवियों ने आराध्य के ऐश्वर्य की ओर ही संकेत किया है न कि किसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर। इतिहासकार जब किसी अवतार का चरित्रचित्रण करेगा तब निश्चय ही वह भक्त की श्रद्धा के पोषक इन और ऐसे वाक्यों को दूर ही रखेगा क्योंकि जो अपनी मर्यादापुरुषोत्तमता स्थापित करके अवतार की कोटि में परिगणित हुआ है वह महापुरुष अपनी मनुष्यता की मर्यादा का इस प्रकार भंग कर ही कैसे सकता है। परन्तु भक्त कवि तो अपने आराध्य- अवतारी पुरुष के वर्णन में उनका केवल माधुर्यभाव ही प्रकट करके चुप नहीं हो सकता। वह निश्चय ही उनका ऐश्वर्य-भाव भी प्रकट करना चाहेगा।

पाँचवाँ विचारणीय शब्द है "पथ"। भक्ति के साथ जुड़कर यह दो अर्थों की ओर संकेत करता है। अपने एक अर्थ में भक्ति स्वयं ही साध्य मानी गई है। दूसरे अर्थ में वह एक साधन ही है। इसलिये भक्तिपथ एक अर्थ है भक्त के लिये पथ और दूसरा अर्थ है भक्ति रूपी पथ। गोस्वामी जी ने जहाँ एक ओर :—

सब कर माँगहिं एक फल राम चरन रति होउ। २२०-१७
अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहहुँ निरवान।
जन्म जन्म सिय राम पद यह बरदान न आन॥ २४६-१५, १६

सरीखे वाक्य लिखकर भक्ति को 'साध्य' बनाया है वहाँ दूसरी ओर :—

बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा—४८३-४
सुख कि लहहि हरिभगति बिनु —४८३-६
बिनु हरिभजन न भवभय नासा ४८३-१६

सरीखे वाक्य लिखकर उन्होंने भक्ति को 'साधन' बना दिया है।

मनोविज्ञान का यह सामान्य नियम है कि साधन ही कालान्तर में साध्य बन जाया करता है और कभी कभी तो इस हद का साध्य बनता

है कि वह आरम्भ में जिस साध्य का साधन था उसको भी दबा बैठता है। पहले शरीररक्षा साध्य थी और भोजन करना साधन। फिर भोजन के साथ विशेष साहचर्य होने के कारण वही इस हद का साध्य बन बैठता है कि अपने चटोरेपन में हम अपने शरीर के स्वास्थ्य की भी कुछ परवाह नहीं करते। पहले अन्नवस्त्र का संग्रह ही साध्य था और द्रव्य का अर्जन उसके लिये साधन बनाया गया। फिर तो सिक्कों पर जीवन तक की साँसें न्योछावर की जाने लगीं; अन्न और वस्त्र की सुविधाओं का कहना ही क्या है! हमारा वास्तविक साध्य है आत्म-साक्षात्कार—सच्चिदानन्दत्व—पराशान्तिप्राप्ति।—कहना न होगा कि ये तीनों एक ही बातें हैं। इस साध्य के लिये प्रधान साधन है अहकार-विगलन जिसके सिद्ध होते ही पराशान्ति सिद्ध हो जाती है। अब जिन साधनों से अहकारविगलन सिद्ध होगा उनके आगे यह अहंकारविगलन ही साध्य हुआ। इस नये साध्य के लिये ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग साधन हुए। ये नये साधन अपने अनुष्ठान के लिये अन्य साधनों पर आश्रित रहकर स्वयं भी साध्य कहे जा सकते हैं। भक्ति इसीलिये साध्य भी कही जाती है और साधन भी। साधन बनकर तो वह अहकार का विध्वंस करती ही है परन्तु साध्य बनकर वह कभी कभी अहङ्कार को बनाये रखना चाहती है[1] और इस प्रकार अपने वास्तविक साध्य के विपरीत भी चली जाया करती है। विपरीत होते हुए भी उसमें एक बड़ी विशेषता यह रहती है कि वह भगवान् के आनन्दभाव से अभिन्न होने के कारण भक्त को पदभ्रष्ट नहीं होने देती। इसलिये यदि मुक्ति की अपेक्षा भक्ति ही साध्य बन जाय तो भी कोई हानि नहीं।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति की बहुत महिमा गाई है तथापि उनके

---

[1] अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
३०५-२३

सिद्धान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि वे भक्ति को साधन ही मानते हैं परमसाध्य नहीं।

भगति के साधनु कहहुँ बखानी। सुगमपंथ मोहिं पावहिं प्रानी ॥
३०८-९

यहाँ स्पष्ट ही भगवान् के मुख से गोस्वामी जी ने भक्ति को साधन (पथ) प्राप्ति और ब्रह्म—आत्मसाक्षात्कार—मोहि पावहिं प्रानी—को साध्य बताया है।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई ॥
४६३-२३, २४

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा ॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥
५०२-८ से १०

आदि पंक्तियाँ भी उसे साधन ही बता रही हैं न कि साध्य। इसलिये यह निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि गोस्वामी जी का भी परम साध्य वही है जो कर्मयोगियों का और ज्ञानयोगियों का परम साध्य है।

साधन के तीन प्रधानपथ रहते हुए भी गोस्वामी जी ने भक्तिपथ ही का उल्लेख जानबूझकर किया है। कर्मपथ की तो वे स्वतन्त्ररूप से कोई चर्चा ही नहीं करते। बात यह है कि जब कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं ठहर सकता[1] तब वह चाहे ज्ञानी हो चाहे भक्त उसे कर्म तो करने ही पड़ेंगे। और कर्म के दायित्व से तो केवल वही बच

[1] नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता अ० ३ श्लो० ५

सकता है जो या तो परमभक्त हो[1] या परमज्ञानी हो।[2] ऐसी स्थिति में कर्मयोग अथवा कर्मपथ के स्वतंत्र अस्तित्व की चर्चा का अवसर ही नहीं रहता। फिर, अनासक्ति और विरक्ति सरीखे अभावसूचक शब्द आखिर अवस्तु ही तो ठहरे। वे ज्ञान और भक्ति के वस्तुत्व की बराबरी कर ही कैसे सकते हैं। ज्ञान के साथ परमशान्ति और भक्ति के साथ परम आनन्द का जैसा स्पष्ट सम्बन्ध है वैसा विरक्ति अथवा अनासक्ति के साथ किसी परमसाध्य का नहीं। तीसरे गोस्वामी जी के समय तक के आचार्यों ने जिस प्रकार ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की विस्तृत चर्चा की थी उसी प्रकार कर्ममार्ग की नहीं। श्रीशंकराचार्य प्रभृति अद्वैतवेदान्तियों ने जहाँ एक ओर ज्ञानमार्ग को ही सर्वेसर्वा बताया था वहाँ रामानुजाचार्य प्रभृति अनेकानेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने भक्तिमार्ग को ही सब कुछ कहा था। गोस्वामी जी को कोरे ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग परम अभीष्ट जान पड़ा इसलिये उन्होंने अन्यत्र इन दो ही मार्गों की तुलना करते हुए भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता स्पष्ट कर दी है और यहाँ इसलिए केवल भक्तिपथ की चर्चा की है।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की तुलना में गोस्वामी जी निम्नलिखित दृष्टान्तों, कारणों और तर्कों का उल्लेख करते हैं :—

(१) भक्त बालतनय है और ज्ञानी प्रौढ़तनय। माता की प्रीति

---

[1] सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गीता अ० १८ श्लो० ६६

[2] योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥
गीता अ० ४ श्लो० ४१

बालतनय ही की ओर विशेष रहती है और उसकी रक्षा का समूचा भार माता ही पर रहता है।[१]

(२) ज्ञान का मार्ग एक तो दुर्गम है दूसरे उसमें प्रत्यूह भी अनेक हैं। तीसरे उसके साधन भी कठिन हैं। भक्ति के मार्ग मे इहलोक और परलोक दोनों का सुख है तथा वह न केवल सुखद ही है वरन् सुलभ भी है।[२]

(३) जीवों में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों मे वेदज्ञ (नीतिवेत्ता), वेदज्ञों में धर्मिष्ठ, धर्मिष्ठों में वैराग्यशील, वैराग्यशीलों में ज्ञानी, ज्ञानियों में विज्ञानी[३] और विज्ञानियों में भक्त श्रेष्ठ रहा करते है। यह सत्य हैं कि वे सब एक ही पिता के पुत्र हैं और सभी पर पिता का प्रेम है परन्तु भक्त तो उस पिता का परम आज्ञाकारी सेवक पुत्र है इसलिये निश्चय ही उस पर पिता का अत्यधिक प्रेम होगा।[४]

(४) माया और भक्ति दोनों ही स्त्रीवर्ग हैं (भावना का आधार लेकर चलती हैं—आसक्ति की भित्ति पर स्थित हैं)। यद्यपि उन दोनों के स्वामी परमात्मा हैं तथापि भक्ति उनकी पटरानी के समान है

---

[१]देखिये पृष्ठ ३२४ पंक्ति ८ से १४

[२]देखिये पृष्ठ ४६३ पंक्ति १३ से १६।

[३]सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है—इस समझ का नाम है "ज्ञान" और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गीता १३।३०) एवं इसी को क्षर अक्षर का विचार कहते हैं— तिलककृत गीतारहस्य (हिन्दी) पृ० ७१६

[४]देखिये पृष्ट ४८१ पंक्ति १४ से २४ तथा पृष्ट ४८२ पंक्ति १ से १२

क्योंकि भक्ति के आधार केवल वे ही हैं और माया एक वेश्या के समान (नर्त्तकी के समान) उनकी रखेली है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं (क्योंकि तर्क और अनुभव पर उनकी स्थिति है)। यद्यपि स्त्रीवर्ग की होने के कारण भक्ति तथा माया को निर्बल और सहज ही जड़जाति की कहा जा सकता है और पुरुषजाति के होने के कारण ज्ञान विज्ञान आदि सब प्रकार प्रबल प्रतापी समझे जाते हैं तथापि नारी का मोहमय फंदा इतना प्रबल होता है कि केवल विरक्त मतिधीर लोग तो भले ही उसको काट सकें परन्तु सामान्य लोग - जो विशेषतः विषयी ही रहा करते हैं—उसे कदापि नहीं काट सकते। इसलिये जो केवल पुरुषवर्गीय ज्ञान वैराग्य का सहारा लेकर नारीवर्गीय माया का उच्छेद करना चाहता है वह कठिनता ही से कृतकार्य होता है। सर्वसाधारण के लिये तो यही उचित है कि नारीवर्गीय भक्ति का सहारा लेकर आगे बढ़ें क्योंकि एक तो वह नारीवर्गीय होने के कारण (समान भूमिकावाली यद्यपि भिन्न उद्देश्यवाली होने के कारण) माया के चक्कर में न आवेगी दूसरे वह भगवान् की पटरानी होने के कारण निश्चय ही नर्त्तकी माया पर अपना आधिपत्य जमा लेगी।[1]

(५) माया की ग्रंथि का भेदन करने के लिये ज्ञान की सहायता दीप के समान है और भक्ति की मणि के समान। प्रकाश तो दोनों में ही है परन्तु ज्ञानदीप का प्रकाश पाने के लिये न जाने कितने साधनों और प्रयत्नों की आवश्यकता है और पाने पर भी उसके बुझ जाने का सदैव भय है परन्तु भक्तिमणि के लिये न तो उतने झंझट हैं और न उसके बुझने का ही डर है। साथ ही एक लाभ और भी है। उसके धारण करने से मानस रोग भी नहीं सताने पाते।[2]

---

[1] देखिये पृ० ४६६ पंक्ति १५ से २७ और पृष्ठ ५०० पंक्ति १ से ३

[2] देखिये पृष्ठ ५०० पंक्ति ६ से २१; पृष्ठ ५०१ पूरा; पृष्ठ ५०२ पंक्ति १ से २ तथा १५ से २६।

(६) ज्ञान से अति दुर्लभ परमपद अवश्य मिलता है परन्तु भक्ति से भी तो वही पद मिल जाता है। इतना ही नहीं, वह अनिच्छा रहते हुए भी मिल जाता है। फिर, परमपद का वह सुख भक्ति के आधार के बिना स्थायी हो नहीं सकता। तीसरी बात यह है कि भक्ति के प्रेमानन्द का इतना अपूर्व माधुर्य रहता है कि उसके आगे ब्रह्मानन्द (मुक्ति का आनन्द) भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। इसलिये समझदार लोग मुक्ति तक का निरादर करके भक्ति की ओर ही अधिक झुकते हैं।[१]

(७) भक्ति के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं। ऐसा ज्ञान कर्णधारहीन जलयान के समान है।[२] जो ज्ञानी समझे कि भक्ति के बिना मैं निर्वाण प्राप्त कर लूँगा वह पुच्छविषाणहीन पशु है।[३] जो भक्ति का त्याग कर केवल ज्ञान के लिये परिश्रम करता है वह कामधेनु का त्याग करके आक के वृक्ष से शरीरपोषक दुग्ध पाने की चेष्टा करता है।[४] असल में तो भक्ति के बिना अकेले ज्ञान ही क्यों सभी साधन सूने हैं और उनके बिना भवसंतरण हो ही नहीं सकता

---

[१] देखिये पृष्ठ ५०२ पंक्ति ३ से ७ जिसके अन्तर्गत पृष्ठ ४८२ पंक्ति २२, २३ का भी भाव है।

[२] सोह न रामप्रेम बिन ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥
२७७-१५

[३] रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिसान॥ ४७८-१, २

[४] जे असि भगति जानि परहरिहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
४६६-३, ४

यह "अपेल" सिद्धान्त है[१] इधर, भक्ति के लिये ज्ञान के ऐसे हो प्रबल सहारे की बिलकुल आवश्यकता नहीं। वह स्वतंत्र मार्ग है और ज्ञान विज्ञान उसके अधीन है[२]। वह श्रद्धा और विश्वास पर टिका हुआ है किसी तर्क पर नहीं[३]। हमारे आराध्य परब्रह्म परमात्मा हैं बस इतना ही ज्ञान उसके लिए पर्याप्त है। यदि इतना भी ज्ञान न हो और परमात्मरूप अवतार, सन्त अथवा सद्गुरु की ओर प्रबल अनुराग ही हो तो भी जीव का कल्याण हो जाता है।[४] इसीलिये बड़े बड़े महर्षियों का यही सिद्धान्त है कि भक्ति की जाय। यही वैदिक सिद्धान्त भी है और यही परम परमार्थ भी है[५]।

---

[१]राम बिमुख सिधि सपनेहु नाहीं। २६६-६
बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥ ५०५-१६
[२]सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
३०८-६

[३]भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥ १-३, ४
[४]जौ जगदीश तौ अति भलो जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग॥
दोहावली ६१ वाँ दोहा
[५]शिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खग-नायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥
५०५-१०, ११
स्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥
५०६-२
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
२०६-८

गोस्वामी जी ने यद्यपि ऐसी तुलनाएँ करके भक्ति को ऊँचा बना दिया है तथापि वास्तविक ज्ञान के महत्त्व को वे भूले नहीं हैं। ज्ञानी न केवल भगवान् का प्रौढ़ तनय है वरन् वह उनका विशेष प्यारा भी है[1]। भक्ति के परम आचार्य सद्गुरु हैं भगवान् शङ्कर और महर्षि लोमश। इन दोनों को गोस्वामी जी ने स्पष्ट ही ज्ञानी कहा है[2]। ज्ञान का उपदेश परम अधिकारी को ही दिया जाता है सर्वसाधारण को नहीं।[3] ज्ञान से अधिक दुर्लभ वस्तु इस संसार में नहीं[4]। "पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं" से स्पष्ट है कि ज्ञान भक्ति ही का फल है[5]। और "राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरआई" से स्पष्ट है कि मोक्ष ही भक्ति की भी अन्तिम गति है। वह चाहे इच्छित हो चाहे अनिच्छित। जैसे व्यवहारधर्म मे गोस्वामी जी पर-मार्थिक तत्त्व को वहीं भूलते वैसे ही तत्त्वसाधन में भी वे लोक की ओर दृष्टि रखकर चलते हैं। 'अन्तरजामी' से 'बाहरजामी' को, राम से नाम

१मेरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी ॥ ३२४-१२

ग्यानी प्रभुहिं विशेष पियारा ॥ १६-२

२लोमश ऋषि के प्रसग में "क्रोध के चीन्हा" की बात आई है। परन्तु इससे ज्ञानी का महिमा नहीं घटती। यों तो भगवान् के नयन भी बालिवध प्रसग में 'रिस बस कछुक अरुन होइ आये' थे। मुनि ने शाप दिया अवश्य परन्तु 'यथा चक्र भय ऋषि दुर्वासा' (पृ० २६६ पंक्ति १५) उनकी कोई दुर्गति या क्षति नहीं हुई। इसलिये उन्होंने जो कुछ किया सो ईश्वरेच्छा से। कुछ अपनी कमजोरी अथवा द्वैतबुद्धि से नहीं।

३मोहि परम अधिकारी जानी...... लागे करन ब्रह्म उपदेसा।

४६६-४,५

४नहिं कछु दुरलभ ग्यान समाना। पृष्ठ ४६६ प० ११

५"गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ १६२

को, ज्ञान से भक्ति को बड़ा कहने में यही रहस्य है और "राम ते अधिक राम कर दासा" कहने में भी यही बात है। परन्तु वास्तव में बाहरजामी इसीलिये बड़ा है कि वह अन्तरजामी तक पहुँचाने का साधन है। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम का ज्ञान कराता है, भक्ति का इसी में साफल्य है कि उससे ज्ञानोत्पादन होता है, राम के मार्ग में राम का दास हमारा आदर्श रहता है। वह बाल्यावस्था किस काम की जिसके बाद प्रौढ़ावस्था ही न आवे? वह भक्ति भी किस काम की जो ज्ञान में परिणत न हो?"[1] "गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय महोदय के उपर्युक्त वाक्यों में बहुत दूर तक सत्यता निहित है। भक्ति मणि के खोजने में गोस्वामी जी ने ज्ञान और वैराग्यरूपी नयनों की आवश्यकता बताई है।[2] और हरिभक्तिरूपी विजय के लिये ज्ञानरूपी खड्ग से काम क्रोध लोभादि का मारना अनिवार्य बताया है।[3] वे उसी हरिभक्ति को प्रशस्त कहते हैं जो "संयुतविरतिविवेक" हो। यदि उन्होंने ज्ञान से पन्थ को कृपाण की धारा बताया है[4] तो वास्तविक भक्ति के पन्थ को भी इतना कठिन बताया है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। वे कहते हैं कि हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्मव्रतधारी होता है, करोड़ों धर्मव्रतियों में कोई एक वैराग्यशील होता है, करोड़ो विरक्त

---

१ "गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ १६१

२ ग्यान विराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
५०३-१,२

३ विरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस विचारि॥
५०३-६, १०

४ ग्यान के पन्थ कृपान कै धारा ५०२-१

पुरुषों में कोई एक ज्ञानी होता है, करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक जीवनमुक्त होता है, सहस्रों जीवनमुक्तों में कोई एक ब्रह्मलीन होता है और उन सबसे दुर्लभ वह है जो सच्चा भक्त हो[1]। वास्तव में तो सच्चे ज्ञान और सच्ची भक्ति में गोस्वामी जी कोई भेद ही नहीं मानते[2]। जो सच्चा ज्ञानी है वह शंकर जी अथवा लोमश ऋषि की भाँति सच्चा भक्तिरस रसिक हुए बिना रह नहीं सकता और जो सच्चा भक्त है उसका भुशुंडि के समान संशयोच्छेदक सद्ज्ञानी बन जाना अनिवार्य है। दया के पात्र तो केवल ऐसे ज्ञानी हैं जो "केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।" (४६६-२) वे हैं योग आदि भक्तिव्यतिरिक्त मार्गों से ज्ञान सम्पादन की चेष्टा करनेवाले। भक्तिमार्ग की तुलना में जो ज्ञानमार्ग हेय बताया गया है वह भी भक्ति-व्यतिरिक्त ज्ञानमार्ग ही है। भक्ति और ज्ञान का वास्तविक सम्बन्ध क्या है और इस सम्बन्ध के द्वारा जीव की अन्तिम गति क्या होती है इस विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ पूर्ण प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त हैं :—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥
४८३-६, ७

सोइ जानहि जेहिदेहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥
२१९-१९, २९

अपने आदर्शपूर्णत्व की ओर जीव का स्वाभाविक आकर्षण रहा करता है। पूर्ण हुए बिना उसे शान्ति नहीं—तृप्ति नहीं। आत्म-साक्षात्कार में ही उसका आत्मकल्याण है। कल्याणकामी जीव जिस

---

[1] पृ० ४६७ पंक्ति १ से ७

[2] भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। ४९६-१५

मार्ग से अग्रसर हो उसमें यदि प्रथम से ही सुख मिलता जाय तो फिर कहना ही क्या है। भक्तिमार्ग ऐसा है कि उसमें प्रथम से ही सुख मिलता जाता है। क्योंकि वह मार्ग हृदय के उन भावों पर टिका है जिनका सुख से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण सवसाधारण के लिये यही मार्ग उत्तम और प्रशस्त माना गया है। यह मार्ग निवृत्ति से नहीं वरन् प्रवृत्ति से प्ररभ होता है, त्याग से नहीं वरन् संग्रह से प्रारंभ होता है, अपने अहङ्कार और तज्जन्य वासनाओं के दमन करने से नहीं वरन् उन सबको आदशपूर्णत्व की ओर—भगवान् की ओर—प्रेरित कर देने से होता है। इसी लिये यह मार्ग सर्वसाधारण जीवों के लिए बड़ा सुखकर कहा गया है। मनुष्य अपनी जिह्वा की तृप्ति के लिये भोजन करते हैं परन्तु अलक्षित रूप से जठराग्नि उस भोजन को पचाकर शरीर का पोषण कर दिया करती है। उसी प्रकार लोग प्रत्यक्ष सुख के लिए भक्ति की ओर प्रवृत्त होते हैं परन्तु वह अलक्षितरूप से—बिना यत्न बिना प्रयास—संसृतिमूल अविद्या का नाश कर देती है[१]। इस मार्ग में योग यज्ञ जप तप उपवास के कष्ट नहीं उठाने पड़ते। वे सब धर्म आप ही आप सिद्ध होते जाते हैं[२]। कल्याण और शान्ति का परम सम्बन्ध हृदय की समता से है और हृदय का समता का पूरा स्वारस्य भगवद्भाव पर निर्भर है इसलिये भक्ति निश्चय ही सब साधनों का फल और सब प्रकार के मङ्गलों का मूल कहा जा सकती है।[३]

---

[१]भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृत मूल अविद्या नासा ॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी ॥
अस हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥
५०२-८ से १०

[२]कहहु भगति पथु कवन प्रयासा। जोगु न मख जप तप उपवासा ॥
४६३-२२

[३]सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु। २५०-२०

कर्ममार्ग योगमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग में साधक पहिले पहल अपने व्यक्तित्व को लेकर चलता है इसलिये काम क्रोध आदि से युद्ध करने के लिये उसको बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। भक्त प्रारम्भ से ही भगवद्भाव को लेकर चलता है इसलिये यह भाव ही उसके लिये ढाल का काम देता है। अब रही ध्येय की बात, सो कोई कोई भक्त यदि भगवान् हो जाने की अपेक्षा भगवान् के कृपापात्र बने रहने की इच्छा करते हैं तो यह उनकी अपनी रुचि और समझ है। भिन्न रुचिर्हि लोकः। दायित्वपूर्ण राजमुकुट धारण करके स्वयं राजा होने की अपेक्षा कई लोग राजा के कृपापात्र बनकर--उसे प्रेमरस द्वारा अपना वशीभूत बनाकर—मस्ती का जीवन व्यतीत करने में अधिक बुद्धिमानी और विशेष माधुर्य का अनुभव करते हैं। इन्हीं सब बातों की ओर ध्यान देकर गोस्वामी जी के समान भावुक सन्त ने संसार के कल्याण के लिये समन्वयमार्ग को भक्तिपथ के रूप में ही स्थिर किया है।

अति संक्षेप में भक्तिमार्ग की कुछ विशेषताओं को फिर से दुहरा देना अनुचित न होगा। वे इस प्रकार हैं—

(१) वह मार्ग जीव की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल है।

(२) इस मार्ग के साधन कष्टकर नहीं होते।

(३) इस मार्ग में प्रत्यूहों और विघ्नों का झंझट कम रहता है।

(४) भक्ति सब मंगलों का मूल और सब सुखों की खानि है। इसलिये वह किसी अन्य मार्ग से कम नहीं।

(५) यही सब साधनों का फल है।

(६) यही सब साधनों का आधार भी है क्योंकि इसके बिना सब साधन शून्य हैं।

(७) यही वह साधन है जिसमें साधन भी (भक्ति भी) साध्य की तरह (मुक्ति की तरह) वरन साध्य से भी अधिक सुखप्रद रहता है।

(८) भगवान का परमप्रीति पाने का यही एक मार्ग है।

(९) यह परम ध्येय का सबसे सीधा पथ (short-cut) भी है क्योंकि इसी मार्ग से भगवान् शीघ्र द्रवित होते हैं और इस प्रकार नियतिचक्र शीघ्रातिशीघ्र कट जाता है।

(१०) इसके बिना न तो इस लोक का सुख है न परलोक का।

(११) इसी मार्ग के लिये सब बड़े बड़े आचार्यों का ऐकमत्य है।

इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि भक्तिमान् व्यक्ति ही धन्य है[1] और अभक्त ही नितान्त शोचनीय है।[2]

ऐसी विशेषताओं से भक्तिमार्ग में श्रुतिसम्मतता, हरिभक्ति तथा विरति विवेक संयुक्तता के विशेषण लगाकर गोस्वामी जी ने उसे और भी परिष्कृत तथा और भी अधिक सुग्राह्य बना दिया है। वास्तव में यह सनातनधर्म का और सनातनधर्म ही क्यों भारतीय मानवधर्म

---

[1]पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई॥

१९८-२६.

ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रये। ३२५-२२

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखण्डित॥

धन्य भरत लछिमन सुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥

४६५-४,५.

का—सुसंस्कृत प्रतिरूप बन गया है। कल्याणमार्ग के लिये ऐसा उत्तम पथ विद्यमान् रहते हुए अनेकानेक पन्थों की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी। जो लोग इस उत्तम सनातनीय भक्तिमार्ग को त्यागकर नये नये पन्थों की कल्पना करते हैं—नये-नये मत चलाते हैं—उन्हें कलयुग से प्रभावित मोहमुग्ध मानव मानना ही गोस्वामी जी को अभीष्ट है। ऐसे भक्तिपन्थों से अथवा साधना पन्थों से उनका विरोध नहीं जो भारतीयता को—वेदानुकूलता को—लेकर चलते हैं। परन्तु जो भारतीय संस्कृति के किसी आवश्यक अङ्ग को—उदाहरणार्थ वेदों की मान्यता

ते सिर कटु तूम्बरि सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नाहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर साइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥

५७-२४; ५८ १ से ४

साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महँ जासु न रेखा॥
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जौवन विटप कुठारू॥

२४४-४, ५

सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पङ्कज भाऊ॥

२८२-१४

ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥

४६६-२१

नरतन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति सुख देनी॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषयरत मंद मंद तर॥
काँचु किरिच बदले ते लेहीं। कर तें डारि परसमनि देहीं॥

५०३-१६ से २१

अथवा अवतारवाद को—खण्डित करके भारतीय लोगों को किसी नये रास्ते पर चलाना चाहते हैं वे भारतीयों के सच्चे हितैषी नहीं। इसलिये उनकी कार्रवाइयों पर एतराज करते हुए[1] गोस्वामी जी ने कहा है:—

श्रुति सम्मति हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कलपहिं पंथ अनेक॥ ४८९-४,५

---

१ कबीर नानक दादू आदि परम श्रद्धेय सन्त हो गये हैं और गोस्वामी जी के हृदय में ऐसे सन्तों के प्रति अवश्य बड़ी श्रद्धा रही होगी; परन्तु भारत के उस वातावरण में उन्हें अवतारवाद का खण्डन बिलकुल अनुपयुक्त जँचा इसीलिये पूर्वपक्ष में पार्वत के मुख से सन्तमत (निर्गुण सम्प्रदाय) की सो तर्कावली कहलाकर उत्तरपक्ष में उन्होने शङ्कर जी के मुख से उस तर्कवाद को फटकार बता दी है। श्रद्धेय सन्त लोग अवतारवाद का पूरा विरोध कर सके हैं यह भी शङ्कास्पद ही है। उनके अनुयायी तो उन्हें परमात्मा का अवतार कर निश्चय ही पक्के अवतारवादी हो गये हैं।

सप्तम परिच्छेद

भक्ति के साधन

भक्ति स्वतः एक साधन है; परन्तु वह ऐसा साधन नहीं जो अपने साध्य से एकदम उस तरह भिन्न हो जैसे दिल्ली पहुँचने का रास्ता दिल्ली से भिन्न रहा करता है। जो हाल भक्ति और उसके साध्य का है, वही भक्ति और उसके साधनों का भी है। इसलिये भक्ति के साधन कहीं तो साधन ही माने गये हैं और कहीं वे भक्ति के अङ्ग कह दिये गये हैं।[1]

भक्ति के साधनों की कोई सीमा नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं:—

जप तप नियम जोग निज धरमा। स्रुति सम्भव नाना सुभ करमा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत स्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पङ्कज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥

४६४-२६ से २८, ४६५-१

जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

४८६-७,८

---

[1] लक्ष्मण जी के प्रति भगवान् ने भक्तियोग की जो चर्चा की उसमें साधनों का उल्लेख है। (भगति के साधनु कहहुँ बखान ३०८,६)। उन्हीं साधनों की चर्चा जब शवरी के प्रति की गई तब उन्हें भक्ति का अङ्ग बताया गया है—(नवधा भगति कहहुँ तोहि पाहीं ३१०-१२)

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग विराग ग्यान निपुनाई ॥
नाना करम धरम व्रत दाना। सञ्जम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। विद्या विनय विवेक बढ़ाई ॥
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥
५०७-१८ से २१

वे तो सभी प्रकार के सुकृतों को रामस्नेह का साधन मानते हुए कहते हैं :—

वेद पुरान सन्त मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥ १७-२०

परन्तु इतना कहते हुए भी उन्होंने कुछ विशेष साधनों को विशेष प्राधान्य दिया है।।

श्रीमद्भागवतकार ने भक्ति के नौ साधन बताते हुए कहा है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ ७-५-२३, २४

भक्ति के आचार्यों को यह कथन इतना अच्छा जँचा है कि उन्होंने इस नवधा भक्ति की अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से चर्चा की है। श्रवण कीर्तन और स्मरण—ये तीनों तो नाम सम्बन्धी साधन हैं जो विशेषकर श्रद्धा और विश्वास की वृद्धि के सहायक हैं, पादसेवन, अर्चन और वन्दन—ये तीन रूप सम्बन्धी साधन हैं जो वैधी भक्ति के विशेष अङ्ग हैं और दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन—ये तीन भाव सम्बन्धी साधन हैं जो रागात्मिका भुक्ति से घनिष्ठता रखा करते हैं। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो ये साधन परस्पर सम्बद्ध भी जान पड़ेंगे और क्रमशः एक दूसरे के विकसित रूप प्रतीत होकर भक्ति रस की तह तक पहुँचाने वाले नौ सोपानों की तरह भी दिखाई पड़ेंगे। भारतीय भक्तिसाहित्य में जब से इन श्लोकों का आविर्भाव हुआ है, तब से नवधा भक्ति

की चर्चा अमर सी हो गई है। भागवतोक्त इस नवधा भक्ति के अनुकरण पर एक स्वतन्त्र नवधा भक्ति की चर्चा अध्यात्म रामायण में हुई है। वह भी इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है।

अध्यात्मरामायणकार कहते हैं :—

तस्माद् भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनं।
सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥२२
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ॥२३
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ॥२४
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितं।
ममंत्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तम मुच्यते ॥२५
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा ॥२६
अष्टम नवमं तत्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥२७
(अध्यात्मरामायण आरण्यकाण्ड दशम सर्ग)

गोस्वामी जी को नवधा भक्ति का यह वर्णन इतना पसन्द आया है कि उन्होंने इसका अनुवाद सा करते हुए अपने मानस में लिखा :—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पञ्चम भजनु सो वेद प्रकासा।
छठ दम सीलु विरति बहु कर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ॥

सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोतें सन्त अधिक करि लेखा॥
आठवं जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥
नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥

३२०-१२ से २२

गोस्वामी जी की इस नवधा भक्ति में दो बाते मार्के की हैं। पहली बात तो यह है कि वे इन नवों साधनों का तारतम्य अथवा क्रम स्थिर करना उचित नहीं समझते। वे कहते हैं कि इन नव साधनों में से एक भी साधन जिसके पास हो वह भगवत्कृपापात्र हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पहली, तीसरी, छठीं और आठवीं भक्ति में आस्तिक्यभाव की बात उन्होंने गुप्त करदी है। छठें और आठवें साधन को तो नास्तिक लोग भी अपना सकते हैं। इन साधनों को अपनी पद्धति में सम्मिलित करके गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो लोकसेवक है वह भी ईश्वरसेवक ही है भले हो वह ईश्वर की प्रत्यक्ष पूजा अर्चा आदि न करता हो।[1] इस नवधा भक्ति का आठवाँ साधन तो उन्हें इतना रुचा है कि उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों से इसे ही समूची भक्ति का प्रतीक मान लिया है :—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोगु न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

४६३-२३,२४

---

[1] वे तो भगवद्भक्त होने की अपेक्षा भागवद्भक्तों (सज्जनों) का भक्त होना अधिक अच्छा समझते हैं।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

२५४-२२,२३

इस नवधा भक्ति की चर्चा गोस्वामी जी ने केवल एक ही बार की हो सो नहीं है। लक्ष्मण जी के प्रति कहे हुए भक्तियोग में भी इसका उल्लेख हुआ है। पूरा प्रसङ्ग इस प्रकार है :—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलहि जो संत होहिं अनुकूला॥
भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुति रीती॥
यहि कर फलु पुनु विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माही॥
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक शरीरा। गदगद गिरा नयन वह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजन करहि निहकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिस्राम॥ ३०८-८ से १७

इन दोनों प्रसंगों मे नवधा भक्ति का मिलान इस प्रकार होगा—

शबरी के प्रति	लक्ष्मण के प्रति
१ प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा	१ संत चरन पंकज अति प्रेमा
२ दूसरि रति मम कथा प्रसंगा	२ मम लीला रति अति मन माहीं
३ गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान	३ दृढ़ सेवा
४ चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान	४ मम गुन गावत पुलक सरीरा गदगद गिरा नयन वह नीरा
५ मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा पंचम भजनु सो बेद प्रकासा	५ मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा

६ छठ दमु शील विरति बहु कर्मा निरत निरन्तर सज्जन धर्मा	६ काम आदि मद दंभ न जाके
७ सातवँ सम मोहि मय जग देखा मोतें सन्त अधिक कर लेखा	७ गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा सब मोहिं कहँ जानइ (सन्त चरन पंकज अति प्रेमा)
८ आठवँ जथा लाभ संतोषा सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा	८ भजन करइ निहकाम
९ नवम सरल सब सन छलहीना मम भरोस हिय हरष न दीना	९ वचन करम मन मोरि गति[1]

लक्ष्मण भक्तियोग में एक विशेषता यह भी है कि वहाँ अध्यात्म-रामायणोक्त नवधा भक्ति ही की चर्चा नहीं हुई है वरन् उसके साथ ही भागवतोक्त नवधा भक्ति की भी चर्चा (स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं) हो गई है। साथ ही यह भी कह दिया गया है कि भक्ति के इन उभय प्रकार के नवधा साधनों के आधारस्तंभ हैं (१) ज्ञान (जो विप्रचरणों में अतिप्रीति करने से मिलता है) और (२) वैराग्य जो "धर्म ते विरति" के सिद्धान्तानुसार श्रुतिरीत्या निज निज कर्म में निरत होने से आता है)। तथा इन दोनों का भी मूलाधार है सत्संग क्योंकि सन्तों की अनुकूलता के बिना तो भक्ति मिल ही नहीं सकती।

लक्ष्मण भक्तियोग में निर्दिष्ट ये समग्र साधन भक्ति सरोवर की तह तक पहुँचने वाले सप्त सोपानों अथवा भक्ति की सप्त भूमिकाओं का भी

---

[1] इस तुलनात्मक विवेचन के लिये हम सावन्त जी के ऋणी हैं (देखिये मानसपीयूष अरण्यकाण्ड पृष्ठ १९०)। तीसरे और सातवें साधनों की तुलना में हमने कुछ फेरफार अवश्य कर दिया है।

रूप धारण किये हुये हैं। वे भूमिकाएँ हैं :—(१) ब्राह्मणसेवा (२) श्रवणादिक नवधाभक्ति (३) सन्तसेवा (४) वासुदेवः सर्वमिति भाव (५) सात्विक प्रेमोन्माद (६) द्वन्द्वातीत अवस्था और (७) अनन्यासक्त चित्तता। पहिले परिच्छेद में हम इस विषय पर विस्तृत रूप से लिख आये है इसलिये उसे यहाँ दुहराना हम अनावश्यक समझते हैं।

साधनों की तीसरी उल्लेखनीय सूत्री इस प्रकार है :—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥
जिन्ह के स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥

जसु तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु ॥
मुकताहल गुनगन चुनइ राम बसहु मन तासु ॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा। सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहि निवेदित भोजनु करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं ॥
सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेखी॥
कर नित करहि रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहि दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहि तुम्हहि सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहि विधि नाना। विप्र जेंवाइ देहि बहु दाना ॥
तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहि सनमानी ॥

सबु करि माँगहि एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हके मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ।

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दंभ नहि माया । तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥
सबके प्रिय सबके हितकारी । सुख दुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥
जननी सम जानहि पर नारी । धनु पराव बिष तें विष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहि पर विपति विशेखी ॥
जिन्हहि राम तुम प्रान पियारे । तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

स्वामि सखा पितु मातुगुरु जिन्हके सब तुम तात ।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्हकर मनु टीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहि जेही । तेहि उर बसहु सहित वैदेही ॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई । प्रिय परिवार सदनु सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ लउ लाई । तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥
सरगु नरकु अपवरगु समाना । जहँ तहँ देख धरे धनुबाना ॥
करम वचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि के उर डेरा ॥

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

एहि विधि मुनिवर भवन देखाये । वचन सप्रेम राम मन भाये ॥[१]

{ २२०—१ से २८
{ २२१—१ से ११

[१] इस प्रकरण में भी अध्यात्मरामायण की छाया है । देखिये अयोध्याकाण्ड पृष्ठ सर्ग श्लोक ५४ से ६३ ।

भगवान् के निवासयोग्य ये चौदह भवन बताकर बाल्मीकि जी के मुख से गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्तों और भक्ति के साधनों के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कह दी हैं। सावन्त जी अपने नोट्स में इस स्थानों के विषय में कहते हैं कि "ये प्रभु की प्राप्ति के चौदह साधन हैं, या यों कहिये कि ये चौदह प्रकार की भक्तियाँ हैं।" (मानसपीयूष अयोध्याकाण्ड ६६६ पृष्ठ)। बाबू रामदास जी गौड़ का मत है कि इन चौदह साधनों में उभय प्रकार की नवधा भक्तियों का समन्वय हो गया है। उनके कथानुसार शवरी को कही गई (अर्थात् अध्यात्मरामायणोक्त) नवधा भक्ति का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—(१) सत्सङ्ग (२) कथा में रति (३) मानरहित गुरुभक्ति (४) कीर्त्तन (५) जपभजन (६) सन्तवृत्ति (७) अनन्यवृत्ति (८) सन्तोषवृत्ति और (९) भगवदवलम्ब। भागवत-प्रोक्त नवधा भक्ति से श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण तथा दास्य इन चारों का अन्तर्भाव क्रमशः द्वितीय, चतुर्थ पञ्चम तथा सप्तम भेद में (अर्थात् कथा में रति, कीर्त्तन, जपभजन और अनन्यवृत्ति में) हो जाता है। शेष रही पञ्चधा भक्ति। सो उन पाँच साधनों को अध्यात्मरामायणोक्त उपर्युक्त नौ साधनों के साथ मिला देने से चौदह प्रकार के साधन हो जाते हैं। इन चौदह प्रकार के साधनों का नामकरण उन्होंने इस प्रकार किया है :—

(१) श्रवणम् (२) रूपासक्ति (३) (कीर्त्तनम्) (४) पूजासक्ति (५) नामासक्ति (६) ज्ञानवृत्ति (७) भगवदवलम्ब (८) सन्तवृत्ति (९) सर्वस्वभाव (१०) तितिक्षावृत्ति (११) कार्पण्यवृत्ति (१२) वैराग्यवृत्ति (१३) अनन्यवृत्ति और (१४) शुद्ध प्रेमासक्ति।[1]

"श्रीरामचरितमानस की भूमिका" नामक ग्रन्थ में गौड़ महोदय ने

---

[1] देखिये मानसपीयूष अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ६६७

श्रवणादिक नव भक्तियों के साथ दर्शनोभिलाषी को सम्मिलित करके लिखा है कि "इन दसों के सिवा मानसकार ने स्थितप्रज्ञावस्था, शरणागति, निष्केवल प्रेम, निष्काम सदाचार, यह चार उपासनाएं भी सम्मिलित की हैं। गोस्वामी जी की अपनी उपासना इन चौदह रसों की अपूर्व स्वादु और तोषदायक खिचड़ी थी"। (प्रथम संस्करण ३०६ पृष्ठ।)

व्यक्तिगत रूप से हमारा अनुमान तो यह है कि चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान् ने जब चौदह वर्षों तक बन में निवास करना अङ्गीकार किया तब उनके पूछने पर बाल्मीकि जी ने पहिले चौदह प्रकार के भक्त-हृदय रूपी भवन ही दिखाये हैं फिर कहीं चित्रकूट की चर्चा की है। इसलिये इस प्रकरण में चौदह प्रकार के भक्तों ही की चर्चा है जो इस भाँति है :—

(१) श्रवणानन्दी (२) दर्शनानन्दी (३) भजनानन्दी (४) सेवानन्दी (५) गुरुभक्तिपूर्वक जपासक्त जीव (६) निर्विकार (७) अनन्यशरणागतिवान् सन्त (८) कामिनीकांचन में अनासक्त सन्त (९) भगवान् ही को सब कुछ समझनेवाले (१०) परहित-व्रती (११) निमग्न विश्वासी सेवक (१२) ऐश्वर्यत्यागी भक्त (१३) मुक्ति के लिये भी अलोलुप सेवक और (१४) निरीह सहज स्नेही।

भक्तों के लक्षणों की चर्चा में साधनों की बात आप ही आप आ जाती है। इसलिये इस प्रसङ्ग को हम साधनों की चर्चा के साथ बराबर जोड़ सकते हैं। परन्तु इसे उभय प्रकार नवधा भक्तियों का समन्वय करने वाली चतुर्दशधा भक्ति पद्धति का प्रकरण मानना गोस्वामी जी के अभिप्राय के साथ खींचतान करना ही होगा। गौड़ जी के उपर्युक्त

कथनों पर हमने खूब विचार किया और अन्त में हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[1]

साधनों के सम्बन्ध में दो प्रसङ्ग और भी हैं जो देखने योग्य हैं। एक है ज्ञानदीपप्रकरण में भक्तिमणि की प्राप्ति का प्रसङ्ग और दूसरा है मानसरोग के उन्मूलन में भक्तिसजीवनी बूटी के सेवन का प्रसङ्ग। वे दोनों प्रसङ्ग इस प्रकार हैं :—

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाइ पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥
पावन परबत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भावसहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
५०२—२५ से २७
५०२—१,२

रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो येहि भाँति बनइ संजोगा॥
सदगुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान स्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाही। नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं॥
५०५-३ से ६

प्रथम प्रसङ्ग में (१) सद्ग्रंथानुशीलन (२) सुमति (३) विरति-विवेक और (४) सद्भाव का चर्चा है। दूसरे प्रसङ्ग मे (१) गुरुवाक्य

[1]प्रयत्न करने पर भी हम उभय प्रकार की नवधा भक्तियों के गौड़ महोदय कथित चौदह साधनों को उन्हीं के द्वारा बताए हुए वाल्मीकि प्रोक्त चौदह साधनों से अथवा रामचरितमानस की भूमिका मे बताये हुए चौदह साधनों से ठीक ठीक मिला नहीं पाये। ठोंकठाक कर जोड़ तोड़ भिड़ा देना दूसरी बात है।

में विश्वास (ज्ञान) (२, विषयों से निवृत्ति (वैराग्य) और (३) श्रद्धापूर्ण हरिभक्ति की चर्चा है। इन दोनों प्रसंगों मे ज्ञान और वैराग्य को— विवेक और विरति को—पर्याप्त-महत्व दिया गया है। पुरजन-गीता में भी विप्रपूजा (ज्ञान) और शंकरभक्ति (वैराग्य) की बात कही गई है। लक्ष्मण जी के प्रति कहे गये भक्तियोग में विप्रपूजा (ज्ञान) और मन विषय विरागा (वैराग्य) की बातें आ ही गई हैं। साथ ही :—

> विरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
> जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥
>
> —५०३-६ १०,

का उल्लेख छठे परिच्छेद मे किया ही जा चुका है। इन प्रसंगों को देखने से विदित होता है कि गोस्वामी ने ज्ञान और वैराग्य को भी भक्ति के साधनों मे अच्छी प्रधानता दी है।

गोस्वामी जी ने हरिभक्ति को यद्यपि विशेषतः भगवत्कृपासाध्य ही कहा है तथापि भगवत्कृपा सम्पादन के लिये कुछ क्रियाओं की चर्चा करके वे उसे क्रियासाध्य भी बना देते हैं। इस प्रकार कृपा और क्रिया दोनो ही हरिभक्ति के साधन बन जाती है। गोस्वामी जी कहते हैं कि भक्ति के लिये प्रीति, प्रीति के लिये प्रतीति और प्रतीति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। और यह ज्ञान तभी आ सकता है, जब भगवान् की कृपा हो।[1] वे अन्यत्र कहते हैं कि भगवदनुराग के लिये विवेक और विवेक के लिये सत्संग आवश्यक है तथा यह सत्संग रामकृपा के बिना

---

[1] रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥
४८३ पू. से ७

एकदम दुर्लभ है।[1] एक और स्थल पर उन्होंने लिखा है कि सत्संग के बिना हरिकथा नहीं, हरिकथा के बिना मोह नहीं जाता, मोह गये बिना रामपद में दृढ़ अनुराग नहीं होता और दृढ़ अनुराग बिना भक्ति (भगवान् की प्रसन्नता) नहीं सिद्ध होती। यह सत्संग तभी प्राप्त हो सकता है, जब भगवत्कृपा की ओर इस ओर हो जाय।[2] इसी प्रकार के अनेक स्थल हैं जिनमें भगवत्कृपा का पूर्ण महत्त्व व्यक्त होता है। अब इस कृपा के सम्पादन में जिन क्रियाओं की चर्चा गोस्वामी जी ने की है उनकी बानगी इस प्रकार है :—

मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥
९४-२६

अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह। २९९-११

मिलत कृपा तुम पर प्रभु करिहीं। उर अपराध न एकहु धरिहीं॥
३६८-२७

गिरजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥
३७४-१६

---

[1] होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
२०६-७

बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥४-२१

[2] बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा किये जोग जप ग्यान विरागा॥
४७०-७ से ९

अन्त विशुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
४७३-२१,

उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेमा।
राम कृपा नहिं करहिं तस जसि निहकेवल प्रेम ॥ ४३६-६,७
विनु विश्वासभगति नहि तेहि विनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा विनु सपनेहु जीव न लह विस्राम ॥
४८१-२०,२१

ताहि भजिय मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहि पाई ॥
५०९-१०

यदि भक्ति को एकदम क्रियासाध्य बता दिया जावे तो अनेक प्रकार के अनर्थ होने की सम्भावना है। सबसे बड़ा अनर्थ तो यह है कि इस पद्धति में भगवान् के औदार्य के बदले अपने प्रयत्न पर ही अभिमान होना स्वाभाविक हो जाता है। उससे मिलता जुलता दूसरा अनर्थ यह है कि जब हमें अपने प्रयत्न में सिद्धि नहीं मिलती तब असन्तुष्ट होकर नास्तिक सा बन जाना भी हमारे लिये स्वाभाविक हो जाता है इस सम्बन्ध में हमने "गीतासार" के पृष्ठ ६३, ६४ और ६५ में जो लिखा है उसे यहाँ प्रसंगानुकूल कुछ फेरफार के साथ दुहरा देना अनुचित न होगा। (१) "यदि हम गुरु के समक्ष प्रयत्न करेंगे तो हमें ज्ञान मिल जायगा" और "यदि गुरु की कृपा होगी तो हमे ज्ञान मिल जायगा" —इन दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य तो हमारे कर्तव्यों का महत्त्व सूचित करता है और उस क्रिया में हमारा ध्यान गुरु के महत्त्व की ओर बहुत ही कम जाता है। दूसरे वाक्य में हमारा ध्यान गुरु ही पर रहता है। हमें शान्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति तभी होगी, जब हमारा पूर्ण लक्ष्य ईश्वर की ओर होगा न कि अपनी शरणागति के क्रिया की ओर। जो लोग धर्मग्रन्थ देखकर ही भक्ति और शरणागति के तरह तरह के विधान रचा करते हैं और परिणाम मे विमान को अपने पास न आते देख ईश्वर को ही कोसने लगते हैं, वे इस 'कृपा' वाली बात को न जानने के कारण सच्ची भक्ति तक पहुँच ही नहीं पाते।

(२) हम अल्पदर्शी हैं और ईश्वर सर्वदर्शी है। हम अपना भूत भविष्य नहीं जानते, इसलिये शान्ति इत्यादि की प्राप्ति के लिये हमें किस अंश तक प्रयत्न करना चाहिये, यह हमे विदित नहीं होता। एक मनुष्य शीघ्र ही सिद्धि पा जाता है, दूसरा जन्म जन्मान्तर तक प्रयत्न करता रहता है तब भी नहीं पाता। अतः यदि कृपा का नाम न लिया जाय तो हम अपने प्रयत्नों का परिणाम देखकर निराश हो जा सकते हैं। यदि कृपा की ओर ध्यान रखा गया तो हमें बराबर सन्तोष बना रह सकता है क्योंकि प्रभु की प्रसन्नता कब होगी इसके लिये तो कोई समय निर्धारित हो ही नहीं सकता। (३) यदि हम स्वार्थभावना से किसी की सेवा करेंगे तो उसकी कृपा प्राप्त करना कठिन ही रहेगा। ईश्वर तो सर्वज्ञ है। उससे हमारी स्वार्थभावना कैसे छिप सकती है ? इसलिये अपनी स्वार्थभावना द्वारा उसका पूर्ण कृपापात्र बनना प्रायः असम्भव ही है। भले हो वह हमारे प्रयत्नो के अनुसार हमें मन चाहे फल दे दे, परन्तु वह हम पर पूर्णतः प्रसन्न हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनकी प्रसन्नता के लिये तो निष्कपट हृदय से निःस्वार्थ शरणागति आवश्यक है। तभी उसकी कृपा होगी। इसलिये आचार्यों ने क्रिया की अपेक्षा कृपा पर जोर दिया है। (४) भगवान् के यहाँ दूकानदारी तो है नहीं कि जितने पैसे ले उतने ही की चीज़ दें। बड़े बड़े जप तप की उनके दरबार में कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य चाहे भयंकर से भयंकर पापी हो और अपनी कमजोरियों के बोझ को चाहे वह दुलङ्घ्य समझ रहा हो, फिर भी वह सच्चे हृदय से परमात्मा की ओर अग्रसर हो जाय तो वे दौड़कर सहायता के लिये उपस्थित हो जाते हैं। बच्चा आँगन में पड़ा हुआ है और माँ अट्टालिका पर बैठी काम कर रही है; मानों उसे बच्चे की कोई चिन्ता ही नहीं; परन्तु जब वही बच्चा माँ के लिये व्याकुल होकर रोता हुआ सीढ़ियों पर चढ़ने का उपक्रम करता है, तब माँ दौड़ कर उसे गोद मे उठा लेती है और

उस बच्चे को अवशिष्ट सीढ़ियाँ तय करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। यही तो वह मार्ग है, जिस पर चलकर सुदामा ने तीन मुट्ठी चावलों के बदले त्रैलोक्य की वसुधा पाई थी। यही तो वह पथ है, जिसके लिये 'पैये फल चार फूल एक दै धतूरे को' कहा गया है। इसीलिये आशीर्वाद से भरी हुई भगवत्कृपा की बात पर भक्तों का इतना अधिक अनुराग रहा करता है।

यदि भक्ति को एकदम कृपासाध्य ही बता दिया जावे तो भी अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना है। पहिला अनर्थ तो यह है कि ऐसे विचारों वाला व्यक्ति किसी प्रकार के प्रयत्न पर जोर देगा ही नहीं। वह तो निकम्मा आलसी और किंकर्तव्यविमूढ़ सा ही बना रहेगा। दूसरा अनर्थ यह है कि यदि उसने प्रयत्न किया भी तो "हे भगवान् कृपा करो" 'हे राम कृपा करो" इसी तरह की प्रार्थनाओं को प्राधान्य देता जायगा लोकसग्रह की ओर तो उसका ध्यान जाना ही कठिन है।

(१) इस संसार का यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि जो जैसा करेगा सो तैसा भरेगा। कर्मचक्र का नियम इतना अटल माना गया है कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी इस कर्मवाद के साथ जुड़ जाना पड़ा है। हम अगले जन्म के कर्मों के फल इस जन्म में भोग रहे हैं और इस जन्म के कर्मों के फल इसी जन्म में नहीं वरन् अगले जन्मों तक भोगेगे। यह सिद्धान्त भारतीय सनातनधर्म का मेरुदण्ड है। अब, यदि भक्ति एकदम कृपासाध्य मान ली जावे तब तो यह सिद्धान्त एकदम तहस नहस ही हो जावेगा। यह स्थिति किसी भी विचारशील व्यक्ति की दृष्टि में समुचित नहीं कही जा सकती।

(२) भक्ति जब केवल कृपासाध्य है और वह कृपा एकदम निर्हेतुक है तब भगवान् केवल एक उच्छृङ्खल शासक ही माने जा सकते हैं जो 'राम' पर तो कृपा कर दें और 'श्याम' को कष्ट भुगताते रहें, 'हरि' को तो एकदम तार दें और 'गोविन्द' को चौरासी लाख योनियों का

चक्कर दिलाते रहें। जब दुनिया के सभी जीव उनके हैं तब इसका क्या मतलब है कि किसी पर तो निष्कारण कृपा हो जाय और किसी की ओर ये आँख उठाकर देखें तक नहीं। उनकी निर्हेतुकी कृपा के साथ संसार की इस विषमता का सामञ्जस्य कैसे होगा?

(३) भक्ति सबको एक बराबर तो मिला नहीं करती। वह तो व्यक्ति विशेष ही को मिलती है। इसलिये कृपासाध्य भक्ति का मार्ग व्यक्तिपरक मार्ग अथवा "साधुमत" का ही मार्ग ठहरा। लोकमत के मार्ग की वहाँ गुञ्जाइश ही कहाँ। जिस प्रकार भगवान् ने राम, श्याम और मोहन पर कृपा करके अपनी भक्ति प्रदान कर दी उसी प्रकार मुझ पर भी कृपा कर दें; बस यही इच्छा रखकर भक्त साधुमत में दीक्षित होता है। उसे संसार के अन्य जीवों की चिन्ता ही नहीं हो सकती।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ एक ओर :—

अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारन रहित कृपाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु छाँड़ि कपट जंजाल॥ १००-११,१२

कारन बिनु रघुनाथ कृपाला। ३१९-१२

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरिहि कृपा पाव कोइ कोई॥३३७-२४

आदि बातें लिखकर "कृपा के सिद्धान्त को अङ्गीकार किया है वहाँ दूसरी ओर :—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोगु सब भ्राता॥
२०५-२४

करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
२५५-४

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ हित परलोकु नसाना॥
काल रूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥
४६२-१,२

आदि लिखकर "क्रिया" के सिद्धान्त को भी पूरी तरह स्वीकार किया है। वास्तव में क्रिया के बिना कृपा नहीं हो सकती और कृपा के बिना क्रिया के फल की सिद्धि भी नहीं हो सकती। बीज और वृक्ष की भाँति कृपा और क्रिया अन्योन्याश्रित हैं। इसीलिये गोस्वामी जी जहाँ एक ओर कहते हैं कि कृपा के बिना भक्ति नहीं मिल सकती[1] वहाँ दूसरी ओर कहते हैं कि भक्ति के बिना कृपा भी नहीं मिल सकती[2]। गोस्वामी जी कहते हैं कि परमात्मा अवश्य निर्हेतुक कृपाशील है परन्तु जीव अपने ही कृत्यों से अपने को उसकी कृपा से वंचित रखता है[3]। जिसके हृदय में कपट की आड़ होगी वह ईश्वर की कृपा पा ही नहीं सकता[4]। जो स्वतः भ्रान्त होगा वह तत्त्व के वास्तविक रूप को कैसे देख सकता है[5]। जो जड़ हिम बनकर उस प्रभाकर के पास पहुँचना चाहेगा वह अवश्य ही गल जायगा[6]। परमात्मा तो प्रत्येक

---

[1] देखिये पृष्ठ ४८३ पंक्ति ५ से ७।

[2] देखिये पृष्ठ ४३६-६, ७ तथा ४८३-२०, २१

[3] करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ हित परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥
४६८-१, २

[4] जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥
३६३ २०

[5] चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥
इत्यादि ५६-१७

[6] तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेश कै नाईं॥
४६-१७, १८

जीव में अपना सहज स्नेह अर्पित किये हुए हैं।[१] जीव चाहे तो उस स्नेह को बढ़ावे और चाहे तो उसे माया की नश्वर वस्तुओं में नष्ट हो जाने दे। कृपा और क्रिया के सिद्धान्तों का सुन्दर सामञ्जस्य इससे बढ़कर शायद ही और कहीं दिखाया गया हो। कर्मसिद्धान्त कहता है कि पाप करोगे तो उसके फलभोग स्वरूप नरक अवश्य मिलेगा। कृपा का सिद्धान्त कहता है कि भगवान् की शरण में नरक का भय ही न रहेगा। बड़े बड़े पापी भी शरणागत होकर कृपापात्र बन गये और इस प्रकार नरक से बच गये हैं। सामञ्जस्य का सिद्धान्त बताता है कि 'भाई शरणागति के समय जो पापकृत्यों के सम्बन्ध का पश्चात्ताप होता है यही तो उस पाप का फलभोग है और भविष्य में निश्छल और निष्पाप बनने की जो प्रतिज्ञा होती है वही तो उस पापकर्म को काटने वाला पुण्यकर्म है। इसलिये यदि तुम कर्मचक्र के इस रास्ते को पकड़ोगे तो तुम्हें विशेष कष्ट न उठना पड़ेगा और तुम नरकयातनाओं की असीम पीड़ा से बच सकते हो, क्योंकि पहिले रास्ते में तो केवल तुम्हारे कर्मों के चक्कर की ही बात थी और इस दूसरे रास्ते में तुम भगवान् की निर्हेतुक सहायता के अधिकारी भी तो बन रहे हो।" कर्मचक्र ही भगवान् का न्याय है और निर्हेतुक कृपा ही उनकी दया। न्याय और दया का सामञ्जस्य जब तक ठीक ठीक न होगा तब तक भक्ति-सिद्धान्त का रहस्य ठीक ठीक समझ में आ ही नहीं सकता। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस में दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य करके बड़गल तिङ्गल आदि सभी सम्प्रदाय वालों को समेट लिया है।

भक्ति के लिये भगवत्कृपा अनिवार्य साधन है ही। परन्तु वह साधन तो ईश्वराधीन है। इसलिये भक्ति के साधनों की चर्चा में

---

[१] ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १०२-२०

जीवाधीन साधनों अर्थात् क्रियाओं ही का विशेष उल्लेख होता है। यह सच है कि भक्ति के ऐसे साधनों की कोई सीमा नहीं परन्तु यह भी सच है कि ऐसे सब साधन समान महत्ववाले भी नहीं रहा करते। कुछ साधन एकदम गौण हैं उनके बिना भी काम चल सकता है। कुछ साधन इतने प्रधान हैं कि वे भक्ति की प्राप्ति के लिये एकदम अनिवार्य हैं। उनके बिना भक्ति सध ही नहीं सकती।[1] गोस्वामी जी के बताए हुए ऐसे अनिवार्य साधन इस प्रकार हैं :—

(१) मानव शरीर

गोस्वामी जी कहते हैं कि शरीर के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना (४८६-१६)। शरीर में मानव शरीर सर्वश्रेष्ठ है।

१गोस्वामी जी एक ओर —

जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

४८६-७,८

लिखकर साधनों की लम्बी सूची बताते हैं, दूसरी ओर —

कहहु भगति पथु कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥

४६३-२३

लिख कर कई साधनों का गौणत्व बता देते हैं।

वे—

बिनु सतसंग न हरि कथा। ४७०-७ मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। ४००-६ आदि लिखकर सत्संग तथा प्रभुप्रेम सरीखे साधनों की अनिवार्यता भी स्पष्ट कर देते हैं।

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। ४६२-२४,२५
कालहि करमहि ईश्वरहि मिथ्यादोष लगाइ[1] ॥४६३-१,२

मानव देह द्विज वपु तो देवताओं के लिये भी दुर्लभ वस्तु है।
चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुरलभ पुरान स्रुति गाई॥४६५-७
इसलिये इस शरीर को पूरी तरह स्वस्थ, सबल और समुन्नत बनाये रखकर इसका भरपूर सदुपयोग करना चाहिये।

(२) श्रद्धा और विश्वास

गोस्वामी जी ने कहा है :—
श्रद्धा बिना धरमु नहिं होई—४८३-१५
वे यह भी कहते हैं कि :—

कवनिउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा। ४८३-१९
बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।४८३-२०

इसलिए श्रद्धा और विश्वास तो अनिवार्य साधन हुए ही।

(३) निश्छलता और लोकसेवा

भगवान् राम कहते हैं :—
जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥

---

[1] यहाँ भी कृपा और क्रिया का सामञ्जस्य देखिये। मानव शरीर की प्राप्ति भगवान् की कृपा का फल है। देखिये पृष्ठ ४६२ पंक्ति ८। इस शरीर को पाकर परलोक सँवारना हमारी क्रिया का परिणाम होगा। देखिये पृष्ठ ४६३—पंक्ति ११, १२

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ॥
३६३-२०,२१

गोस्वामी जी भी—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई ॥
४६३-२४

को भक्ति का अनिवार्य लक्षण कहते हैं।

यह तो हुआ निश्छलता का हाल। अब लोकसेवा के विषय में देखिये।

मानसकार कहते हैं :—

सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। ५०२-११
सेवक सों जो करइ सेवकाई। १२५-७
करई स्वामिहित सेवक सोई। २४८-१२
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। २८६-९
सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥
४६२-२२

सो अनन्य असि जाके मति न टरहि हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवन्त ॥ ३२९-१६,१७.

लोक रक्षक परमात्मा का हित अथवा अनुशासन लोकसेवा में है इसलिये लोकसेवा बिना सेवक कैसा और सेवकभाव के बिना भवसन्तरण अथवा अनन्यभक्ति का भाव कैसा ?

(४) विवेक और वैराग्य

कहीं कहीं तो गोस्वामी जी ने इनकी आवश्यकता को गौणता दे दी है और कहीं एकदम प्रधानता दी है। सत्सङ्ग के प्रसंग में वे कहते हैं—"संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।" ६-११ प्रीति के प्रसङ्ग में वे

कहते हैं "जाने बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।" ४८३-६

इस तरह तो हुई ज्ञान की अनिवार्यता। अब वैराग्य की अनिवार्यता बताते हुए वे कहते हैं—

तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन विस्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम॥ ३६४-१८,१६
ताहि कि सम्पति सगुन सुभ सपनेहु मन विश्राम।
भूत द्रोह रत मोह बस राम विमुख रतकाम॥ ४११-८, ९
निज सिद्धान्त सुनावहुँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
४८१-१३

इस सम्बन्ध में हम छठें परिच्छेद में विशेष लिख आये हैं इसलिये यहाँ इतना ही पर्याप्त है। संक्षेप में यही समझ लेना चाहिये कि व्यापक अर्थ वाले विरति और विवेक—साधनरूप से स्वतन्त्र मार्ग बन जाने वाले वैराग्य और ज्ञान—भले ही गौण हों परन्तु अपने प्रकृत अर्थवाले विरति और विवेक की अनिवार्य आवश्यकता गोस्वामी जी को सर्वथैव मान्य थी।

(५) प्रभुप्रेम नामजप और सत्संग

रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥
३२३-७

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग जप ग्यान विरागा॥
४७०-६

आदि वाक्य प्रभुप्रेम की अनिवार्य आवश्यकता बता ही रहे हैं।

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि विशेष नहि आन उपाऊ॥
१६-३

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा॥
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥
५०९-७. ८

आदि लिखकर गोस्वामी जी ने नामजप की अनिवार्यता स्पष्ट ही कर दी है। तथा—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
४-१९. २०

सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
४-२२

बिनु सतसंग न हरि कथा—४७०-७
सबकर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई॥
५०३-५

सदृश पंक्तियाँ लिख कर गोस्वामी जी ने सत्संगति की भी अनिवार्य आवश्यकता बता दी है।

इन अनिवार्य साधनों में शरीर तो ईश्वर ही की देन है। इसलिये उसका सम्बन्ध विशेषतः हमारी क्रिया से नहीं वरन् परमात्मा की कृपा से है। शेष ९ साधनों में[1] श्रद्धा और विश्वास नामजप के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं, निश्छलता और लोकसेवा का प्रभुप्रेम में अन्तर्भाव हो जाता है और विवेक वैराग्य सत्सङ्ग के उपाङ्ग से बन जाते हैं। अतः नामजप, प्रभुप्रेम और सत्सङ्ग ही प्रधान क्रियात्मक साधन शेष रहते हैं। हृदय से (मनसा) प्रेम, मुख से (वाचा) नामजप और क्रिया से (कर्मणा) सत्सङ्ग; इन्हीं; तीन सर्वश्रेष्ठ साधनों में शेष सभी साधन समा जाते हैं। इन तीनों साधनों का परस्पर संबंध

[1] गोस्वामी जी की-यह निराली नवधा भक्ति बड़े मार्के की है।

भी ऐसा है कि किसी एक साधनपथ पर आरूढ़ होने से शेष दोनों साधन आप ही आप सिद्ध हो जाते हैं। इनमें से किसी एक की सम्यक् साधना करने से मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है। इसलिये यदि इस परिच्छेद में कथित अनेकानेक साधनों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता तो कम से कम इन तीन साधनों का कुछ विस्तृत वर्णन किसी प्रकार भी अप्रासङ्गिक न होगा। गोस्वामी जी ने भी इन तीनों साधनों का विस्तृत वर्णन जी खोलकर किया है।

प्रेमासक्ति

गोस्वामी जी ने चातक और मीन को प्रेमासक्ति का प्रतीक माना है।

जग जस भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥

२६१-१

वे कहते हैं कि बाधा उपस्थित होने पर जो क्षीण हो गया वह प्रेम ही क्या है[1]।

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

२४९-१९ से २१

यह प्रेम जीव के लिये एक स्वाभाविक वस्तु है क्योंकि वह ब्रह्म

---

[1] अपने ५४ वे और ५५ वें भक्तिसूत्रों में नारद जी ने भी प्रेम के सम्बन्ध की परिभाषा मे उसके प्रतिक्षण वर्धमान और अविच्छिन्न भाव पर काफी जोर दिया है। वे कहते हैं—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपं। ५४

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति॥

का अंश होने से उसका 'सहज संघाती' और सहज स्नेही है।[1] विशुद्ध ब्रह्म तो उसके लिये अदृश्य रहता है इसलिये वह दृश्यमान ब्रह्म (जगत्) की वस्तुओं से प्रेम करने लग जाता है। और नहीं तो कम से कम अपने व्यक्तित्व पर तो वह अवश्य ही प्रेम करने लगता है। इसी व्यक्तित्व के लिये वह धन दौलत कपड़े लत्ते घर द्वार बाग-बगीचे नौकर चाकर कुटुम्ब कबीले आदि जोड़ता रहता है। व्यक्तित्व के पोषण और वर्धन के लिये (आत्मरक्षा और वंशविस्तार की मूल प्रवृत्तियों की चरितार्थता के लिये) कांचन और कामिनी की ओर आकर्षण होना भी स्वाभाविक है। गोस्वामी जी ने इसीलिये प्रेम का रहस्य समझाने के लिये इन तीन आसक्तियों को (शरीर-सम्बद्ध व्यक्तित्व के लिये आसक्ति, काञ्चन के लिये आसक्ति और कामिनी के लिये आसक्ति को) उपामानरूप से चुना है। वे कहते हैं:—

सेवत लषन सीय रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि ॥२२५-४
कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम ॥ ५१०-३॥

इस सादृश्य का रहस्य समझाते हुए डाक्टर बड़थ्वाल महोदय कहते हैं:—

"वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं। उनका भला या बुरा होना उनके आलम्बन पर निर्भर है। जो वासना पुत्र कलत्र धन इत्यादि की ओर आकृष्ट होकर मोह कहाती है और बन्धन का कारण

---

[1] ईश्वर अंस जीव अविनासी। ५००-६
ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती। १५-३
ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १२०-२०

होती है, वही भगवान् की ओर आकृष्ट होने से उपासना या भक्ति कहाती है और जीव की मुक्ति का कारण हो जाती है।"[1]

आलम्बन की महत्ता के सम्बन्ध में तो गोस्वामी जी ने जितना कहा है उससे अधिक शायद ही और कोई कुछ कह सका हो। प्रेम की सार्थकता इसी में है कि वह "सचराचर रूप राशि भगवन्त" की ओर अर्पित हो।[2] भगवान् स्वतः ही व्यक्तिमय आराध्य की बात न कह कर सर्वभूतमय आराध्य की ओर अति प्रेम करने को कहते हैं।[3] जो सच्चे भगवत्प्रेमी रहते हैं वे तो "निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।"[4] संसार की वस्तुओं में आसक्ति का पाठ पढ़कर मनुष्य वे सब आसक्तियाँ भगवान् की ओर अर्पित कर दे तभी तो उसके प्रेम की सार्थकता है।[5]

आलम्बन की इस महत्ता को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि सच्चा प्रेमी वह है जो लोकसेवक हो। भगवान् सदैव श्रुतिसेतु के पालक

---

[1] देखिये "हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप" कल्याण भाग [illegible]६ संख्या ४ पृष्ठ ८३८

[2] सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवकु सचराचर रूपरासि भगवन्त॥ ३२९-१६,१७

[3] सदा सरबगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम। ४११-१६

[4] उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
४९७-१४,१५

[5] जननी-जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कइ ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डो

कहे गये हैं ।[1] इसलिये उनका प्रेमी वही है जो लोकरक्षा के निमित्त कार्य करे। 'प्रेम का परिचय प्रेमी के प्रीति निमित्त कर्म करने से होता है, केवल कहने से नहीं ।[2] परहितव्रत की इसीलिये इतनी महिमा है[3] क्योंकि वह भगवत्प्रेम का ही दूसरा रूप है ।

यह बात नहीं है कि आराध्य की विश्वरूपता पर ही गोस्वामी जी ने समूचा जोर दिया हो। हम पहिले ही बता आए हैं कि गोस्वामी जी ने अपने आराध्य के त्रैविध्य की भरपूर चर्चा की है इसलिये उन्होंने व्यक्तित्व-विशिष्ट परमात्मा से भी प्रेम करने की चर्चा की है। भगवान् का व्यक्तित्व कैसा है इसके सम्बन्ध में गोस्वामी जी कहते ही हैं कि "जिन्ह के रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥ (११२-२२) ४। सुन्दर से सुन्दर और आकर्षक से आकर्षक रूप कैसा हो सकता है तथा उस रूप की किस प्रकार भिन्न भिन्न झाँकियाँ हो सकती हैं इन वर्णनों से तो समूचा रामचरितमानस ही भरा पड़ा है। जिस व्यक्ति की रुचि जिस झाँकी और जिस रूप में हो वह उसी ओर अपनी प्रेमवृत्ति अर्पित कर दे ।

यह सार्वभौम नियम है कि जिसका जिस पर सत्य स्नेह होता है वह उसे अवश्य मिलता है ।[5] फिर भगवान् तो पुनीत प्रेम के अनुरागी

---

[1] तुम पालक सन्तत श्रुति सेतू ॥ २ ६-१०

[2] चौधरी रघुनन्दन प्रसाद कृत भक्तियोग पृष्ठ १२६

[3] परहित सरिस धरम नहिं भाई ॥ ४६१-२५

[4] तन्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवन्स्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥

भागवत ३ । २४ । ३१

[5] जेहि कै जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥
१२० ६

रहा करते हैं[1] इसलिये इस मार्ग से उनकी प्राप्ति निश्चित ही है। परन्तु कठिनता यह है कि (उनकी अप्रत्यक्षता के कारण और व्यवधान रूप जगत् की प्रत्यक्षता के कारण) उनकी ओर अचल अनुराग होने नहीं पाता। यदि संसार की किसी वस्तु की ओर हमारा अचल अनुराग हो गया है तब तो प्रयत्नपूर्वक आलम्बन बदल देने से काम चल जायगा और यदि अनुराग की अचलता हम आई ही नहीं है तो फिर वैधी और रागात्मिका भक्तिपद्धतियों में बताये हुए उपायों आदि द्वारा हम अनुराग के भाव को उसका सकने और उसे अचल बना सकते हैं। नामजप के उपाय को गोस्वामी जी ने दोनों स्थितियों के लिए प्रशस्त माना है उससे न केवल आलम्बन की स्पष्टता होती है वरन् उस आलम्बन के साथ सान्निध्य भी बढ़ता है[2] जिसके कारण उस ओर क्रमशः श्रद्धा, सङ्ग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि आसक्ति, भाव और प्रेम[3] का प्रदुर्भाव होता है[4]।

[1]राम पुनीत प्रेम अनुगामी। १७१-२२

[2]सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विसेखे॥

१५-१५

[3]आदौ श्रद्धा ततः सङ्गः ततोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततने प्रेमाभ्युदचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥ भक्तिरसामृतसिंधु

[4]महर्षि शाण्डिल्य ने भी अपने भक्तिसूत्र में "सम्मान बहुमान प्रीतिविरहेतर विचिकित्सा महिमख्याति तदर्थ प्राणस्थान तदीयता सर्वतद् भावा प्रतिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्" ॥ २।१।१८ लिख कर बताया है कि हरिनामस्मरण से परमात्मा की ओर क्रमशः सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर विचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थ प्राणस्थान, तदीयता, सर्वतद्भाव, अप्रातिकूल्य आदि की वृद्धि होती है।

कई आचार्यों ने प्रेम के सेव्य सेवकभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुर (दाम्पत्य) भाव में तारतम्य दिखाने की चेष्टा की है और परतर को पूर्वतर से श्रेष्ठ कहा है। परन्तु यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो भगवद्विषयक माहात्म्यज्ञान इन श्रेष्ठतर कहे जाने वाले भावों में कम ही होता चला जाता है। इसीलिये तो सख्यभाव वात्सल्यभाव और दाम्पत्य भाव वाले भक्तिमार्ग धीरे धीरे सांसारिकता के दलदल में फँसते गये और उनके उपास्य राधाकृष्ण अधिकांश में एक में सामान्य नायक नायिका के रूप मे रह गये। सेव्यसेवकभाव में इस धोखे का डर नहीं क्योंकि उस प्रकार के प्रेमपात्र में प्रेमभात्र की महत्ता का ज्ञान सदैव सम्मुख रखना अनिवार्य है। फिर, सेव्यसेवकभाव को सीढ़ी तै किये बिना श्रेष्टतर कहे जाने वाले भावों पर दृढ़ स्थिति भी तो कठिन ही है। यदि किसी विशेष अधिकारी ने यह स्थिति प्राप्त भी कर ली तो उसका प्रयत्न अपवाद ही कहावेगा, लोकमत की दृष्टि से सामान्य नियम नहीं इसीलिये गोस्वामी जी ने सेव्यसेवकभाव को पूरी महत्ता देते हुए कहा है 'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि।" (५०२-११)

सेवकसेव्यभाव से बहुत मिलता जुलता साधन है प्रपत्तिमार्ग। आराध्य की ओर यदि हमारा प्रेमाकर्षण सुदृढ़ नहीं है तो न सही। यदि हम उसकी शरण हो जाने की ही भरपूर चेष्टा कर लें तो हम उसका प्रेम आप ही आप पा जावेंगे। यह मार्ग सबके लिये खुला हुआ है। अन्य कोई सहारा यदि पास न हो और यही एक सहारा हो तो भी कृतकृत्यता के लिये वह हर तरह पर्याप्त है। भक्त सुतीक्ष्ण कहते हैं—

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यानु मन माहीं ॥
नहि सतसङ्ग जोग जप जागा। नहि दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥
एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥

३०४-९ से ११

शरणागति के लक्षण वायुपुराण में बड़ी सुन्दरता से दिये गये हैं। वहां लिखा है—

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथः।
आत्मनिःक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भगवान् को जो बातें रुचें वही करने का सकलप, उन्हे जो बातें अरुचिकर हों उन्हें दूर करने का निश्चय, वे हमारी रक्षा करेंगे इसका विश्वास, साहाय्य के लिये उनसे प्रार्थना; अपना समूचा भविष्य उन पर छोड़ देना और अपने को उनका एक अकिंचन सेवक मात्र मानना। (दीन की भाँति गर्वहीन होना) यही षड्विधा शरणागति कहलाती है[1]। इसे ही प्रपत्तिमार्ग कहते हैं।

भगवान् शरणागतवत्सल हैं इसीलिये वे करोड़ों विप्रों के बध करने वाले महापातकी को भी उसके सब अपराध बिसार कर अपनी शरण में ले लिया करते और उसकी रक्षा किया करते हैं[2]। परन्तु कोई पातकी

---

[1]यद्यपि गोस्वामी जी ने शरणागति के इन छहों अङ्गों का कहीं स्पष्ट विवेचन नहीं किया है तथापि मानस के कई प्रसङ्गों मे यह षड्-विधा शरणागति ध्वनित होती है। ऐसे प्रसङ्गों में एक यह है—

जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुता उर लाये। कपट कुरङ्ग सङ्ग धर धाये॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आज बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥ ३६३-१ से ५.

[2]कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥
३६३ १७

गये सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि। ३५४-२७

उनकी शरण जा ही नहीं सकता जब तक कि वह अपना हृदय निर्मल निश्छल न करले ।[१] जब उसे अपने पातकों के लिये पश्चात्ताप होगा और भविष्य के लिये "अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्" होगा तभी तो वह शरणागति का अधिकारी होगा। ऐसा मनुष्य निश्चय ही अपनाया जाने योग्य है।

विभिन्न परिस्थितियों में प्रेमभाव की विभिन्न लहरें (आसक्तियों) प्रकट हुआ करती हैं। कभी कभी तो वह इतना गुप्त रहता है कि विरह की ठोकर के बिना उसके अस्तित्व का पता तक नहीं चलता। भरत के प्रेम ही को देखिये। जब तक विरह की ठोकर न लगी तब तक कुछ पता भी न था कि उनका प्रेम राम के लिये कैसा था। वह ठोकर लगते ही उनके एक एक श्वासोच्छ्वास से अनुराग की धाराएँ चारों ओर उमड़ पड़ीं। जिसे विरह की महिमा और प्रेम का स्वरूप देखना हो वह मानस के भारतचरित का अनुशीलन करे।[२] विरह ही वह वस्तु है जो प्रेमपात्र की ओर ध्यान की एकाग्रता बढ़ाकर अनुराग को और भी प्रबल कर देती है। जब तक मनुष्य विरह में व्याकुल होना ही न जानेगा, तब तक प्रेम का रस वह पा ही कैसे सकता है। असल में तो प्रेम और प्रेमपात्र दोनों ही आनन्द का उल्लास होने के कारण अभिन्न हैं।[३] विरह में भी प्रेमानन्द तो मिलता ही रहता है इसलिये वियोगावस्था में भी संयोगावस्था निहित रहा करती है। विरह के इस रहस्य को समझने वाले लोगों ने विरह की प्रशंसा में न

---

[१] जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सम्मुख आव कि सोई।

३६३-२०

[२] प्रेम अमिय मन्दरु विरह भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटे सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुबीर॥ २६२-१६, २०

[३] प्रेम हरी को रूप है वे हरि प्रेमस्वरूप॥ रसखान।

जाने क्या क्या कह डाला है।[1] मुक्ति का निरादर करके भक्ति का द्वैतभाव बनाये रखना भी तो विरह की महिमा ही द्योतित करता है।

प्रेम ही वह जल है जिससे हृदय का मल धोया जाता है।[2] इसके बिना हृदय शुद्ध हो ही नहीं सकता। यह प्रेम चाहे प्रपत्तिमार्ग से सुदृढ़ किया जाय चाहे विरहमार्ग से चाहे और किसी मार्ग से। परन्तु इतना निश्चित है कि इसे सुदृढ़ करना ही चाहिये। सुदृढ़ करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि यह सुदृढ़ प्रेम परमात्मा की ओर अर्पित हो न कि जगत् के नश्वर क्षुद्र पदार्थों की ओर। प्रेम की इस क्रिया में जहाँ एक ओर निश्छलता अनिवार्य है वहाँ दूसरी ओर लोकसेवा भी अनिवार्य है। यदि इन दोनों में से एक भी बात कम हुई तो समझिये कि वह प्रेम प्रभुप्रेम नहीं है। यही समूचे कथन का सारांश है।

नामजप

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने जप ही को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा है और उसे अपना ही रूप बताया है।[3] आगमग्रन्थ तो जप के प्रभाव के लिये पुकार पुकार कर कहते हैं "जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात सिद्धिर्नसंशयः।"

जप की सिद्धि के लिये मंत्रतत्त्व, देवतत्त्व, गुरुतत्त्व, आत्मतत्त्व और मनस्तत्त्व का पूरा पूरा विचार करके पक्का अनुष्ठान करना पड़ता है तब सफलता मिलती है। इस कलियुग में इतनी सब बातों का पूरा

---

[1] विरहा विरहा मत कहौ विरहा है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै सो घट जान मसान॥ कबीर

[2] प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई॥
४६५-३

[3] यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। गीता अध्याय १० श्लोक २५।

विचार होना बहुत कठिन है। अनधिकारियों के हाथों पड़कर मन्त्रों की दुर्गति न होने पावे इसलिये आगम के आचार्यों ने "गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः" की भी दुहाइयाँ दी हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसीलिये पुराणों के स्वर में स्वर मिलाते हुए जपयज्ञ को त्रेतायुग का साधन बताया है और इस कलियुग के लिये केवल नाम का आधार ही स्थिर किया है।[1]

गोस्वामी जी ने युगधर्म की चर्चा करके परिवर्तनशील अवस्था के अनुसार व्यवस्था का विधान रच दिया है। प्रगतिशील और परिवर्तनशील-जगत् में एक ही नियम सर्वत्र और सर्वदा उपयुक्त नहीं हो सकता। इसीलिये समय को देखते हुए गोस्वामी जी ने योग और तप का संयमपूर्ण कष्टप्रद ज्ञानमार्ग सतजुगी जीवों के लिये, कर्मकाण्डमय इष्टापूर्त का संग्रह-त्याग-पूर्ण वैदिक मार्ग त्रेतावालों के लिये, मठ मन्दिर मूर्ति आदि को प्राधान्य देने वाला पौराणिक पूजामार्ग द्वापर वालों के लिये और नामस्मरण तथा कीर्तनवाला सरलमार्ग कलियुगी जीवों के लिये बताया है। यह बात नहीं है कि किसी एक युग में एक ही प्रकार की मनोवृत्तिवाले मनुष्य रहते हों। प्रत्येक युग में चारों युगों की वृत्तिवाले मनुष्य मिल सकते हैं। यही नहीं प्रत्येक मनुष्य में की चारों युगों की वृत्तियाँ समय-समय पर आविर्भूत हो जाया करती है।[2] परन्तु सर्वसाधारण के लिये वही नियम उपयुक्त समझा जाता है।

---

[1] ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां श्रद्धयार्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ केशव कीर्तनात्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखं।
द्वापरे हरिचर्यायां कलौ तद् हरि कीर्तनात्॥ आदि

[2] देखिये पृष्ठ २७ पंक्ति २१ से २८॥ पृष्ठ ४६८ पंक्ति १२ से १४। पृष्ठ ४६० पंक्ति ११ से २२॥ और पृष्ठ ४६१ पंक्ति ३ से ८।

जो उस युग का विशेष धर्म हो। इसलिये नाम-स्मरण वाला नियम यद्यपि चारों युगों मे मान्य है तथापि इस कलियुग में तो वह विशेषतः मान्य है। "कलि विशेषि नहिं आन उपाऊ"।[१]

जिस प्रकार मन्त्रों की संख्या अपरिमित है उसी प्रकार भगवान् के नामों की संख्या भी अपरिमित है। उन सब मन्त्रों और नामो मे "राम" की विशेष महिमा गाई है।[२]

वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममंत्रः फलाधिकाः ॥

रामार्चनचंद्रिका २५ पृष्ठ

गाणपत्येषु शैवेषु शाक्त सौरेष्वभीष्टदः।
वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममंत्राः फलाधिकाः ॥

रामोत्तरतापिन्युपनिषद् ॥ श्लोक ४

यथैव वटवीजस्थः प्राकृतश्च महान्द्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥

रामपूर्वतापिन्युपनिषद् (द्वितीय)

---

[१]नहिं कलि करमु न भगति विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥

१८-२

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु विचार।
श्री रघुनाथ नाम बिनु नाहिन आन अधार ॥

४३८-२३, २४

यह कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप व्रत पूजा।
रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय रामगुन ग्रामहिं ॥

५०१-७, ८

[२]कई आचार्यों ने ॐ, नारायण, कृष्ण, हरि आदि नामों की भी सुन्दर व्याख्या करके उनका भी बड़ा माहात्म्य बताया है।

वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममंत्रः फलाधिकः।
मंत्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः॥

अगस्त्यसंहिता।

जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमंत्रांश्च पार्वति।
तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥

पद्मपुराण।

सप्तकोटि महामंत्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परो मंत्रो राम इत्यक्षरद्वयम्॥

वृद्ध मनुस्मृति।

यावद् वेदार्थ गर्भं प्रणवि जगदुदाधारभूतं सविन्दु।
सुव्यक्तं रामबीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्ट षड्व्याप्तिमेदम्॥
रेफारूढत्रिमूर्ति प्रचुरतर महाशक्ति विश्वोभिदानं।
शश्वत् संराजते यद्विविध सकल संभासमानप्रपञ्चम्॥
श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर श्लोक १२ पृष्ठ ४०

आदि आदि प्रमाणों से "राम" मन्त्र की महिमा भली भाँति प्रकट हो रही है। हनुमन्नाटककार कहते हैं :—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां।
पाथेयं जन्ममुक्षोः सपदि परपद प्राप्तये प्रस्थितस्य॥
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां।
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूयते रामनाम॥

यह कथन किसी प्रकार अत्युक्तिपूर्ण नहीं क्योंकि "राम" इस छोटे से शब्द में बड़े आचार्यों ने न जाने कितना अर्थ भर दिया है। श्रीरामानन्द स्वामी (वैष्णवमताब्ज भास्करकार) का कथन तो हमने ऊपर दे दिया है। रामरहस्योपनिषद्, रामपूर्वतापिन्युपनिषद्, रामोत्तर-

तापिन्युपनिषद् तथा तारसारोपनिषद् में इस शब्द के जो जो रहस्य बताए गये हैं वे वहीं देखने योग्य हैं। श्रीरामपटलकार कहते हैं :—

रकारार्थो रामः सगुण परमैश्वर्य जलधि—
मकारार्थो जीवः सकलविधि कैंकर्यनिपुणः
तयोर्मध्याकारो युगलमथ सम्बन्धमनयो —
रनन्यर्हि ब्रूत त्रिनिगयस्वरूपोऽयमतुलः ॥१॥ (पृष्ठ ९७)

रामार्चनचंद्रिकाकार का कहना है :—

रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति।
सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते॥
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः।
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगो विद्धि तत्प्राणयोजनम्॥
रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमकारयोजनं।
मकरोऽभ्युदयार्थत्वान् सा मायेति च कीर्त्यते॥
अयमेवान्तमुत्सज्याकारमेकाक्षरो मनुः।
सोऽयं बीजस्य हेतुः स्यात्समायं ब्रह्म तूच्यते॥
सविन्दु सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दु रूपवान्।
ज्योतिस्तस्य शिखारूपं नादः सा प्रकृतिर्मता॥
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायं ब्रह्मस्त्वतः।
बिदुनादात्मकं बीजं बह्नि सोमलता मता॥
अग्नी सोमात्मकं विश्वं रामबीजे प्रतिष्ठितं।
यथैव बटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥ (पृष्ठ २५-२६)

श्रीमहारामायण में लिखा हुआ है :—

रकारोऽनलबीजं स्याद् ये सर्वे बाडवादयः।
कृत्वा मनोमलं सर्व भस्म कर्म शुभाशुभम्॥

अकारो भानुबीजं स्याद् वेदशास्त्र प्रकाशकम् ।
नाशयत्येव सद्दीप्त्या या विद्या हृदये तमः ॥
मकारश्च न्द्रबीश्च पीयूषपरिपूर्णकं ।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥

(मानसपीयूष बालकाण्ड पृष्ठ ३२३)

इसी प्रकार के न जाने कितने प्रमाण इस महामंत्र की महिमा में दिये जा सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि नारद जी ने भगवान् से यह वरदान ही माँग लिया था कि :—

"राम सकल नामन्ह तें अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका ॥"

३२३-२७

इसलिये वे जहाँ पर नाम की वन्दना करते हैं वहाँ इसका समूचा रहस्य ही समझा देते हैं। वह पूरा प्रकरण भली भाँति मनन करने योग्य है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

मर्यादापुरुषोत्तम का राम नाम (कृशानु की तरह सम्पूर्ण वासनाओं को भस्म कर देने वाले) वैराग्य (भानु की भाँति सम्पूर्ण तत्त्वों का बोध करानेवाले प्रकाशवान्) ज्ञान और (हिमकर की तरह शीतलता देनेवाली) भक्ति का हेतु है। उसमें सृष्टि स्थिति और प्रलय के सम्पूर्ण तत्त्व निहित हैं। वह ॐ के समान निर्गुण का प्रतीक होकर भी गुण निधान भगवान् का अभिव्यञ्जन करता है। इसलिये वह अनुपम है।

उसकी महिमा के विषय में देवाधिदेव महादेव, प्रथम पूजा के अधिकारी गणाधिपति और कवियों में अग्रगण्य आदि कवि-वाल्मीकि सरीखे महानुभाव प्रमाण हैं। केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियों में अग्रगण्य आदिशक्ति जगदम्बिका भी उसकी महिमा का लोहा मान चुकी हैं।

इस नाम से भक्ति सार्थक होती है और उससे भक्त की उन्नति होती है इसलिये भक्तरूपी शालि के लिये इन दो अक्षरों को यदि भक्तिवर्षा के सावन और भादों महीने कहा जाय तो अनुचित न होगा।

ये दोनों वर्ण मधुर और मनोहर हैं। ये सुलभ हैं सुखद हैं और लोक तथा परलोक में कल्याण करने वाले होकर हृदय की दो आँखों के समान हैं। ये कहने के लिये दो हैं। वास्तव में तो ब्रह्म और जीव की भाँति सहज संघाती होकर ये एक ही हैं।

नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। फिर भी नाम श्रेष्ठ है क्योंकि नामी (प्रभु) उसके अनुगामी बन जाते हैं (नाम लेने से प्रभु की प्राप्ति हो जाती है।) यद्यपि नाम और रूप दोनों ही परमात्मा की उपाधियाँ है (उसकी माया के चमत्कार हैं) तथा किसी आचार्य ने नाम को किसी ने रूप को प्रधानता और पूर्वता देकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसको बड़ा और किसको छोटा कहा जाय, फिर भी विचार करने से यही जान पड़ता है कि नाम श्रेष्ठ है। नाम से तो रूप की कल्पना की जा सकती है और नामस्मरण से स्नेह का प्रादुर्भाव होने पर रूप की झाँकी भी हृदय में प्रकाशित हो जाती है परन्तु नाम के बिना रूप का पूरा परिचय (उसकी अन्य पदार्थों से विशेषता आदि का सम्यक् ज्ञान) न तो स्वतः को हो सकता है और न दूसरे को ही कराया जा सकता है। (स्वतः को चाहें कुछ हो भी जाय परन्तु दूसरों के आगे वह अनुभव तो "गूँगों का गुड़" ही रहेगा।)

परमात्मा निर्गुण भी है सगुण भी है। निर्गुण का पंथ अलग है सगुण का अलग है। उन दोनों का प्रबोध करानेवाला यदि कोई एक पदार्थ है तो वह यह नाम ही है। यही उन दोनों के बीच का साक्षी भी है और दोनों के साथ जीव के भावों का सम्बन्ध स्थापित करानेवाला दुभाषिया भी। इसलिये भीतर और बाहर (आत्मकल्याण और

लोककल्याण के पथ में) प्रकाश फैलाने के लिये नाम रूपी मणि को ही जिह्वास्थ करके देहली दीपक बना लेना चाहिये। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों ने इसे अपनाया है। योगी लोग भी तो इसी के बल पर जाग्रत् रहा करते हैं।

परमात्मा का नाम उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों (भावों) से बढ़कर है। जिस तरह अग्नि—तत्त्व अलक्षित रूप से विश्व में (लकड़ियों में) भी व्याप्त है और प्रज्वलित होकर लक्षितरूप से एकदेशीय भी बन जाता है उसी प्रकार निर्गुण और सगुण परमात्मा का हाल है। 'अग्नि" कहने से जिस प्रकार दोनों तरह की अग्नियों का बोध होता है उसी प्रकार "राम" कहने से ब्रह्मराम और दाशरथि-राम दोनों का बोध होता है। अब देखिये रामनाम ब्रह्मराम से किस प्रकार बड़ा है। सच्चिदानन्द ब्रह्म तो प्रत्येक हृदय में विराजमान है फिर भी लोग उसके आनन्द का सीकर भी न पाकर "दीन दुखारी" ही रहा करते हैं। वह उपेक्षित रत्न की भाँति दबा पड़ा रहा करता है। परन्तु नाम ही के निरूपण से और उसी के प्रयत्न से वह आनन्दमय ब्रह्म इस प्रकार जाग उठता है जैसे रत्न से उसका मूल्य। रामनाम दाशरथि राम से किस प्रकार बड़ा है इस सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि दाशरथि राम ने वानर भालुओं का सेना एकत्र कर न जाने कितने परिश्रम से सेतु बनाया परन्तु नाम के तो स्मरण मात्र से भवसागर के समान महासागर एकदम सूख जाता है। नाम की यह वरदायक महिमा जानकर ही शतकोटि रामचरित्र से छाँटकर भगवान् शंकर ने इस नाम को ही अपना हृदयहार बनाया है। वे ही क्यों, शुक, सनकादिक, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, हनुमान, यहाँ तक कि अजामिल, गज, गणिका तक ने नाम ही से कृतकृत्यता पाई है। अधिक कहाँ तक कहा जाय बस यही समझ लीजिये कि स्वयं राम भी अपने इस नाम के पूरे गुण नहीं गा सकते।

इस कलि में तो भगवान् का यह नाम ही कल्याण निवास कल्पतरु है जिसके स्मरण मात्र से तुलसीदास जी भाँग से तुलसीतरु बन गये। यद्यपि चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में लोग नाम जपकर विशोक हुए हैं तथापि कलि में तो केवल यही एक अवलम्ब है जो परम अभिमतदाता है। इसे कलिकालनेमि के लिये हनूमान् अथवा कलिहिरण्यकशिपु के लिये नरसिंहरूप समझना चाहिये।

संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि भाव कुभाव अनख आलस्य किसी प्रकार नाम का जप करने से दशों दिशाओं में मंगल ही मंगल होता है।[१]

'भाव कुभाव अनख आलस्य'' की ये बातें सुनकर कोई यह न मान बैठे कि यंत्रवत् 'राम राम' चिल्लाने मात्र से मुक्ति हो जायगी। बहुतों ने गोस्वामी जी पर यह दोष लगाया है कि उन्होंने नामस्मरण पर आवश्यकता से अधिक जोर दे दिया है और :—

"राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिनहि न पाप पुंज समुहाहीं॥
२४५-१४

'तुलसी रा के कहत ही बिनसत पाप पहार।
बहुरि न आवन देन को देत मकार किवार'' ॥

सरीखे वाक्यों पर लोगों ने कहकहे लगाये हैं। यदि ऐसे सज्जनगण गोस्वामी जी की उक्तियों का पूर्वापर सम्बन्ध मिला लेने की चेष्टा कर लिया करें तो गड़बड़ का कोई अवसर ही न आवे। गोस्वामी जी स्पष्ट कहते हैं कि—नामस्मरण से स्नेह की वृद्धि होती है[२] और स्नेह की

---

१ देखिये पृष्ठ १४ पंक्ति १३ से २३, पृष्ठ १५ पंक्ति १ से २४, पृष्ठ १६ पंक्ति ४ से २७ पृष्ठ १७ पंक्ति १ से १६, पृष्ठ १८ पंक्ति १ से ६।

२ सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥
१५-१५

वृद्धि हुए बिना न तो हृदय निर्मल होता है और न परमात्मा ही मिलते हैं[1]। इसलिये यदि कोई चाहे कि भगवान् की ओर स्नेह बढ़ाये बिना केवल "राम राम" कहकर मुक्ति पा लेगा तो उसका प्रयास ही निष्फल है। 'राम राम सब कोइ कहै ठग ठाकुर अरु चोर, बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नन्द किशोर।"[2] फिर, श्रद्धा और विश्वास के बिना तो सिद्ध लोग भी स्वान्तस्थ ईश्वर को नहीं देख पाते हैं।[3] इन दोनों साधनों के बिना किसी प्रकार का धर्म किसी प्रकार की सिद्ध होना ही संभव नहीं।[4] तब इनके बिना नामजप का साधन भी किस प्रकार फलप्रद हो सकता है? यदि श्रद्धा और विश्वास साथ हैं तो नामजप से भगवत्प्रेम की वृद्धि होना अनिवार्य है।

प्राचीन आचार्यों ने नामापराध से बचाकर ही नामजप करना अभीष्ट बताया है। मुख्य नामापराध दस हैं; यथा :—(१) सत्पुरुष निन्दा (२) नामों में भेदभाव (३) गुरुनिन्दा (४) शास्त्रनिन्दा (५) हरिनाम में अर्थवाद को कल्पना (६) नाम का सहारा लेकर पाप करना (७) धर्म, व्रत, दान, यज्ञादि के समान नाम को भी

---

[1] प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहूँ न जाई। ४६५-३

निर्मल मन जन मोहिं पावा। मोहिं कपट छलछिद्र न भावा॥ २६३-२१

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। ४७०—६

[2] यह दोहा प्रसिद्ध है परन्तु हमें गोस्वामी जी के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में यह नहीं मिला।

[3] देखिये पृष्ट १ पंक्ति ३, ४।

[4] सद्धा बिना धरमु नहिं होई। ४८३-१५

कवनिउ सिद्धि कि बिनु विस्वासा। ४८३-१

सामान्य साधन मानना (८) अश्रद्धालु को नामोपदेश करना (९) नाम का माहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और (१०) अहंता ममता आदि विषयों में लगे रहना।[1] गोस्वामी जी ने भी नामस्मरण के साधक और बाधक विषयों की चर्चा करके नामापराधों की ओर संकेत किया है। वे कहते हैं :—

असु प्रभु दीनदयाल हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु छाँड़ि कपट जञ्जाल ॥१००-११-१२

राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करहु सेवकाई॥
१९९-४, ५

दीपसिखा सम जुवति तनु मनु जनि होसि पतङ्ग।
भजहि राम तजि कामु मदु करहि सदा सतसङ्ग।
३२५-२५, २६

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ॥
सब परिहरि रघुबीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त॥
३६१-१६, १७

परिहरि मान मोह मदु भजहु कोसलाधीस॥ ३६१-२७
अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम ॥४६१-१५
अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद॥
४८३-२२, २३

सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥
४९०-१८, १९

---

[1] देखिये कल्याण भाग १ संख्या ३ पृष्ठ १६७

इन पंक्तियों में सफेद टाइप में छपे हुए पद ध्यान देने योग्य हैं।

नामापराध दूर करने के लिये नाम ही प्रधान साधन माना गया है।[1] नाम जपते रहने से कभी न कभी श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि उमड़ ही पड़ेंगे। इसीलिये गोस्वामी जी ने भाव, कुभाव, अनख, आलस्य में भी नाम जपना मङ्गलप्रद बताया है।

इस सम्बन्ध में एक बात भी ध्यान रखने योग्य है। मन्त्रों की शक्ति प्रबल रहा करती है। "मन्त्र परम लघु जासु बस विधि हरि हर सुर सर्व" (११६-४)। आजकल के भौतिक विज्ञान वाले चाहे इस बात को न मानें परन्तु जब कि हम लोग आज दिन भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि सर्पविष सरीखी भयंकर भौतिक वस्तु केवल मंत्रबल से न जाने कैसे सत्वहीन होकर अन्तर्धान हो जाती है तब कारण नहीं है कि हम मन्त्रों की शक्ति पर क्यों न विश्वास करें। गोस्वामी जी राम नाम को महामन्त्र कहते हैं और इसे प्रत्यक्ष सिद्ध बताते हैं[2] तब फिर यदि उन्होंने निश्चय के साथ कह दिया कि इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से दशों दिशाओं में मङ्गल होता है तो आश्चर्य की बात ही कौन सी है? दूसरे मन्त्रों के लिये कड़े कड़े नियमों वाले अनुष्ठान चाहिये। इस नाम जप के सम्बन्ध में तो कहा गया है :—

न देश काल नियमः शौचाशौच विनिर्णयः।

---

[1] नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघं।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थ-कराणिहि॥
कल्याण भाग २ पृष्ठ १६० सं० ३

[2] महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥ १४-१५-
भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरे तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥ विनय०

परं संकीर्तनादेव राम रामेतिमुच्यते ॥

कल्याण भाग २ संख्या १ पृष्ठ ८२

इसलिये गोस्वामी जी के समान श्रद्धालु लोकहितैषी का इस साधन पर बहुत अधिक जोर देना नितान्त स्वाभाविक था।

नाम महिमा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार, जो कल्याण भाग २ संख्या १ पृष्ठ ६९ में है, देखने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं:—

"नाम की महिमा के बारे में तुलसीदास ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रखा है। द्वादशमन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोहजाल में फँसे हुए मनुष्य के लिये शान्तिप्रद हैं इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले उस मन्त्र पर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्ति का अनुभव ही नहीं है और जो शान्ति की खोज में है उसको तो अवश्य राम नाम पारस मणि बन सकता है। ईश्वर के सहस्र नाम कहे हैं उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं गुण अनन्त हैं इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है परन्तु देहधारी के लिये नाम का सहारा अत्यावश्यक है। और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी राम नाम रूपी एकाक्षरमन्त्र का सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारण में एकाक्षर ही है। और ॐ कार और राम में कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम महिमा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है श्रद्धा से अनुभवसाध्य है।"

चञ्चल मन अकसर एक ही मन्त्र पर बँधा नहीं रह सकता। जिस तरह जिह्वा छः रसों के लिये चटपटाती रहती है, उसी तरह मन भी नौ रसों के लिये लोलुप बना रहता है। इसलिये आचार्यों ने जप के साथ कीर्तन की भी व्यवस्था की है। कीर्तन में ईश्वर के गुणों और उनकी लीलाओं का गान होने से हृदय को अनेकानेक रस मिलते हैं, भावों की उड़ान के लिये अनेकानेक अवसर मिलते जाते हैं, मनकुरंग को चारों चौकड़ी भरने और इस प्रकार उछल कूद से

अघाकर नामजप पर स्थिर हो जाने का स्थान मिलता है। गोस्वामी जी ने इसीलिये राम नाम का वृहत्संकरण रूप यह रामचरितमानस रचकर लोगों के सामने रख दिया है। मानस क्या है इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि हृदय की सुमति में स्थित जो वेदपुराणादि सद्ग्रन्थ थे उनसे प्रेमभक्ति तथा सगुण लीला संयुक्त राम सुयश खींचकर सन्त लोगों ने उस रस द्वारा सुकृति की वृद्धि की है। वही सुयश हमारे श्रवणमार्ग से होकर हमारी स्मरणशक्ति द्वारा एकत्र किया गया है। और इस प्रकार हमारे हृदय में स्थिर होकर मानसरोवर के समान लहरा रहा है। इसी मानसरोवर से रामचरित चर्चा रूपी सरयू निकल पड़ी हैं।[1] वे कहते हैं कि वे तो निमित्तमात्र के लिये कवि बन गये हैं, असल में तो शम्भु के प्रसाद से जो सुमति हुलसी उससे रामचरितमानस आप ही आप बाहर लहरें मारने लगा है।[2] हम पहिले ही कह आये हैं कि उनका मानस भगवान् राम का वाङ्मय तनु है। इसलिये जो इस पर श्रद्धा और विश्वास रख कर इसका सहारा लेगा वह निःसन्देह भक्ति और मुक्ति सभी कुछ पा लेगा।[3]

---

[1] देखिये मानस का सुर-सरि रूपक।

[2] संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी ॥

२१-१६

[3] रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोगु।
रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जपु जोगु ॥ ३८५-२३ २४
मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जो यह कथा निरन्तर सुनहिं मानि बिश्वास ॥ ५०७ २३;२४
रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्वान।
भाव सहित सो यह कथा करउ स्रवन पुट पान ॥ ५०८-१७,१८

सत्सङ्ग

गोस्वामी जी ने सत्सङ्ग पर बहुत अधिक जोर दिया है। यही सब मुद मङ्गलों का मूल है।[१] मति कीर्ति गति भूति भलाई आदि जो कुछ प्राप्य वस्तुएँ हैं सब सत्सङ्ग के ही प्रभाव से मिलती हैं। लोक (सर्वसाधारण का वर्तमानकालीन अनुभव) और वेद (विशेषज्ञों का शास्त्रसिद्ध अनुभव) दोनों ही इस बात की साक्षी देते हुए कहते हैं कि सतसङ्ग के अतिरिक्त दूसरा उपाय है ही नहीं।[२] सत्संग के बिना न तो विवेक का ही सम्यक आविर्भाव होता है न संशयों का तिरोभाव होता है।[३] उसके बिना कोई भी मनुष्य न तो हरिकथा का रस ही प्राप्त कर सकता है और न उसे किसी तरह भक्ति ही मिल सकती है।[४] गोस्वामी जी वस्तुओं का सु अथवा कु होना, लोगों का ज्ञानी अथवा अज्ञानी

---

[१]सत सङ्गति मुद मङ्गल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।
४-२२

[२]मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानव सतसङ्ग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
४१६, २०

[३]बिन सतसङ्ग विवेक न होई। ४-२१
तबहिं होहिं सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसङ्गा।
४७०-२

[४]बिनु सतसङ्ग न हरि कथा। ४७०-७
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई॥
५०३-५

भगति सुतन्त्र सकल सुख खानी। बिनु सतसङ्ग न पावहिं प्रानी॥
४६३-१७

होना तथा इस संसार में लाभ अथवा हानि का सब सिलसिला क्रमशः सत्संग और असत्सङ्ग पर ही निर्भर करते हैं।[१] उनके मत में सत्संग से बढ़कर कोई लाभ और सुख ही नहीं है।[२] इन्हीं सब कारणों से उन्होंने अपनी भक्तिपद्धति के साधनों में सर्वप्रथम सम्मान सत्संग को ही दिया है।[३]

गोस्वामी जी के मत में स्वर्ग और अपवर्ग का समग्र सुख भी लव सत्संग की बराबरी नहीं कर सकता।[४] बात यह है कि सत्संग में तो आत्मा से आत्मा का मेल होता है और सत् के इस मेल से हमारी आत्मा की उत्क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है, इसलिये इसका लव परमाणु भी बाहरी सुखों से (ऐसे सुखों से जिनमें केवल भोग ही भोग है, आत्मा की उत्क्रान्ति की बात नहीं) बढ़कर ही है। फिर चाहे वे बाहरी सुख स्वर्ग और अपवर्ग के से ही क्यों न हों।

गोस्वामी जी कहते हैं कि सत्संगरूपी तीर्थराज में स्नान (मजन) करने से कौवा कोयल हो जाता है और बक हंस बन जाता है। इस

---

[१]ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग ॥ ७-१३, १४
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥३३५-१६
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु वेद विदित सब काहू ॥
७-८

[२]गिरिजा सन्त समागम सम न लाभ कछु आन ॥ ५०७-१३
सन्त मिलन सम सुख कहुँ नाहीं ॥५०३-२३

[३]प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ॥ ३२०-१३

[४]तात स्वर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तुल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥३४७ ११, १२

स्नान का फल इसी काल में (इसी जन्म में) मिल जाता है। परलोक (मरणान्तर) का रास्ता देखने की जरूरत तक नहीं रहती।[१] जो वंश और वृत्ति अर्थात जन्म और कर्म दोनों दिशाओं में काला मनुष्य है वह सत्संग के प्रभाव से उज्ज्वल कर्म वाला बन जाता है—भीतर बाहर दोनों तरह से काला कौआ मधुरालापी (भीतर से उज्ज्वल) कोयल बन जाता है; और उज्ज्वल जन्म तथा कुत्सित कर्म वाला बक तुल्य मनुष्य भीतर बाहर से उज्ज्वल हंस की तरह हो जाता है।

सत् का अर्थ होता है परमात्मा, इसलिये सत्सङ्ग का अर्थ हुआ ब्रह्मसाक्षात्कार। सत् का दूसरा अर्थ है सज्जन, इसलिये सत्सङ्ग का अर्थ हुआ सज्जनों का संग। सत् का तीसरा मतलब होता है सतोगुणवर्धक पदार्थ, इसलिये सत्सङ्ग का अर्थ हुआ ग्रंथावलोकन, तीर्थसेवा आदि सद्विषयों की ओर प्रवृत्ति। गोस्वामी जी ने सत्संग से यद्यपि तीनों प्रकार का अर्थ लिया है तथापि विशेषरूप से वे सज्जनों के संग को ही सत्संग कहते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र से भक्तिमाधुर्ययुक्त कथा सुधा को निकाल कर सर्वसाधारण को बाँटने वाले इस दुनिया में यदि कोई हैं तो ये सन्त सज्जन लोग ही हैं।[२] यदि भगवान समुद्र हैं तो ये उसके मधुरस को सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर देने वाले मेघ हैं; यदि भगवान् अगम्य मलयज चन्दन हैं तो सन्त वह दक्षिणी वायु हैं जो उसका सौरभ लाकर सर्वत्र बिखरा देती है।[३] इसीलिये सन्तों की महिमा

---

[१]मज्जन फल देखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥
४-१५

[२]ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान सन्त सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़इ भगति मधुरता जाहि॥ ५०३-७,८

[३]राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा॥
५०३, ४

परमात्मा से भी अधिक कही गई है। ऐसे सन्तों का सङ्ग परम वांछनीय है। भले ही वे मौन रहें; उनका अलक्षित प्रभाव सत्संगी जीव पर पड़े बिना रह नहीं सकता। उनका प्रभाव हमारे हृदय में श्रद्धा और विश्वास की अवश्यमेव वृद्धि करता और इस प्रकार अलक्षित रूप से वह हमें नाम स्मरण के सच्चे रस का रसिक बना देता है।

सत्संग के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है। एक तो विवेक की और दूसरे (वैराग्य के प्रधान आधार) पुण्यपुञ्ज (धर्माचरण) की। गोस्वामीजी कहते हैं पुण्यपुञ्ज के बिना तो सन्तों का मिलना ही सम्भव नहीं—और विवेक के बिना उनकी परख होना कठिन है। जब तक परख न होगी तब तक उनका संग्रह और त्याग कैसा? और जब तक देख परख कर उनका संग्रह त्याग आदि न हो तब तक भवसन्तरण की चर्चा ही क्या है?[1]

गोस्वामी जी ने सन्तों की सूची में न केवल साधुओं को वरन् कुछ देवताओं को, प्राचीन महात्माओं को, गुरु को, ब्राह्मणों को, मित्रों को, पितरों को और यहाँ तक कि तीर्थ आदि सत्पदार्थों को भी सम्मिलित कर लिया है। यदि सत्संग के लिये वास्तविक सन्त नहीं मिल रहे हैं तो ब्राह्मण ही सही, क्योंकि गोस्वामी जी के मत में सत्संग का आधार

---

[1]पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता॥

४६३-१८

अस विवेक जब देइ विधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥

७-९

तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

६-११

सन्त असन्तन्ह के गुन भाखे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥

४६२५

पुण्यपुञ्ज है और पुण्यपुञ्ज का आधार विप्रपूजा है।[1] यदि घर बैठे सन्त अथवा सत्पात्र ब्राह्मण नहीं मिल सकते हैं तो तीर्थों में जाकर हम सात्विक वातावरण का अनुभव करें। अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग, रामेश्वर, काशी और नैमिषारण्य की महिमा इसीलिये गोस्वामी जी ने जी खोलकर कही है। कोई यह न समझ ले कि तीर्थ में स्नान करने मात्र से मुक्ति अथवा सत्सङ्ग का सर्वस्व मिल जायगा, इसलिये गोस्वामी जी कहते हैं :—

तब रघुपति रावन के सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि जिमि तीरथ कर पाप॥[1] ४२२,२३,२४

यह उक्ति ठीक उसी प्रकार है जैसी नास्तिक ब्राह्मण के त्याग में निम्नलिखित उक्तियाँ :—

---

[1] पुन्य पुन्ज मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता॥
पुन्य एक जग महँ नहि दूजा। मन क्रम बचन विप्रपद पूजा॥
४६३-१८,१६

[2] तीर्थ का पूरा फल तभी है जब वहाँ जाकर मनुष्य पापवासना ही छोड़ दे। यदि वह तीर्थ में भी अथवा तीर्थ करके भी पाप करेगा तो वे पाप और भी अधिक प्रचण्डरूप से अपना फल दिखावेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

अन्यत्र हि कृत पापं तीर्थमासाद्य गच्छति।
तीर्थे तु यत्कृते पापं वज्रलेपो भविष्यति॥
(वाराहपुराण-मथुरामाहात्म्य)

अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितं।
तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥
(मानसपीयूष लङ्काकाण्ड ७६५ पृष्ठ)

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते सब मानयहिं राम के नाते ॥
१६८-२२

जरहु सो सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ ॥ २४२-६,७

ऐसे कथन भी स्पष्टतया घोषित करते हैं कि सत्संग का आधार विवेक और वैराग्य पर होना चाहिये तभी वह पूर्ण फलप्रद हो सकता है ।

सत्संग के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने दो बातें बड़े मार्के की कही हैं । एक तो यह कि वह "मन लाई"[1] किया जाय और दूसरी यह कि वह "बहुकाल" तक किया जाय ।[2] यदि मन लगा कर बहुत समय तक सत्संग किया जाय तो उसका असर होना और हमें लाभ पहुँचना अवश्यंभावी है । "सन्त आध्यात्मिकता का सूर्य है जिससे ज्ञान की किरणें समस्त जगत् के ऊपर पड़ती हैं । जिन्होंने अश्रद्धा का आतपत्र नहीं धारण किया है (छाता नहीं ओढ़ा है) वे उनसे संजीवनी शक्ति खींच सकते हैं ।"[3] यह संजीवनी शक्ति बात की बात में नहीं खिंच आ सकती । वे विरले ही भाग्यवान् हैं जो स्वल्प सत्संग से ही कृतकृत्यता प्राप्त कर लेते हैं । सामान्य जीवों के लिये तो यही उचित है कि वे सत्संग करते जायँ । जब कि रस्सी के आने जाने से कुएँ की जगत के पत्थर पर भी चिह्न पड़ जाते हैं[4] तब बहुकाल तक महात्मा के संपर्क का असर हमारी आत्मा पर कैसे न होगा ।

---

[1] जो नहाइ चह यहि सर भाई । सो सतसंग करउ मन लाई ॥
२४-१६

[2] तबहिं होहिं सब संसय भंगा । जब बहुकाल करिय सतसंगा ॥
५७०-२

[3] देखिये कल्याण के सन्तांक पृष्ठ ८१८ में बड़थ्वाल महोदय का लेख

[4] रसरी आवत जात तें सिल पर परत निशान । (कस्यचित्कवेः)

हमने इन तीन साधनों का जो विवेचन किया है उसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि विवेक और वैराग्य पर टिके हुए सत्संग के द्वारा श्रद्धा विश्वासमूलक नामस्मरण की ओर रुचि होती है और उस ओर प्रवृत्त होने से हृदय में ऐसे भगवत्प्रेम की वृद्धि होती है जो निश्छलता और लोकसेवा के भावों से विरहित कदापि नहीं रह सकता।[1] सामान्यतः साधनों का यद्यपि यही क्रम देखा जाता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस नियम का कोई अपवाद नहीं। वास्तव में ये सब साधन एक दूसरे का प्रवर्धन भी करते हैं और एक दूसरे से प्रवृद्ध भी होते हैं। इसलिये इन सब साधनों की एक साथ अथवा इनमें से किसी एक साधन को भली भाँति ग्रहण कर लेना कल्याणेच्छु साधक के लिये पर्याप्त है। इन सब साधनों में सब से सरल और सुलभ साधन है नामस्मरण अथवा राम नाम जिसकी महिमा गाते हुए गोस्वामी जी ने कभी थकने तक का नाम नहीं लिया है।

---

[1] हमारी समझ में जैसा कि हम पहिले कह आये हैं गोस्वामी कथित तीसरे प्रकार की अथवा यों कहिये कि प्रधान प्रकार की नवधा भक्ति यह है जिसके अंग हैं (१) विवेक (२) वैराग्य (३) सत्संग (४) श्रद्धा (५) विश्वास (६) नामस्मरण (७) निश्छलता (८) लोकसेवा और (९) प्रभु-प्रेम।

अष्टम परिच्छेद

तुलसीमत की विशेषता

गोस्वामी जी ने अपने नाम से कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। यह उनकी सज्जनता थी, क्योंकि साम्प्रदायिकता में आखिर संकीर्णता आ ही जाती है। कबीर, नानक आदि सन्तों ने हिन्दू मुसलमान आदि अनेक धर्मवालों को एक करने की चेष्टा की और परिणाम यह हुआ कि वे धर्म तो बने ही रहे साथ ही कबीरपन्थ नानकपन्थ आदि नये पन्थ (सम्प्रदाय) और बढ गये। सब को समेट कर चलने की उत्कट इच्छा रखते हुए भी गोस्वामी जी ने कदाचित् इसीलिये न तो साम्प्रदायिक आचार्यत्व का प्रदर्शन करके अपनी कोई गद्दी ही चलाई और न खण्डन मण्डन की शैली अपनाकर वे इधर उधर दिग्विजय ही करते फिरे। उन्होंने कोई नई बात कहने का दावा भी नहीं किया और जो कुछ कहा वह श्रुतिसम्मत ही कहा। उनकी नवीनता यदि कुछ थी तो वह केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी। परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने जो सिद्धान्त रामचरितमानस द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिये हैं उन पर उन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई है। इसलिये यदि हम उन सिद्धान्तों के समूह को "तुलसीमत" कह दें तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।

तुलसीमत एकदम श्रुतिमत है। इसलिये यह उन कल्पित मतों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता जिन्हें गोस्वामी जी ने अपने कलिधर्म-

वर्णन में खूब फटकारा है।[1] इस मत को ग्रहण करने के लिये न तो किसी प्रकार के साम्प्रदायिक विधि विधान की आवश्यकता है और न अपने परम्परागत धर्म अथवा सम्प्रदाय को ही त्यागने की जरूरत है। इसीलिये तुलसीमत एक सुश्रृंखलित मत होकर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता को अखिल भारतीय संस्कृति की नस नस में प्रविष्ट कराके सार्वभौम भाव से इस प्रकार विराज रहा है कि सर्वसाधारण को गुमान तक नहीं होता कि तुलसीमत नाम का भी कोई सम्प्रदाय हो सकता है।

तुलसीमत जिस उद्देश्य को सामने रखकर प्रचारित हुआ है उसी उद्देश्य को लेकर रामकृष्ण मिशन के सज्जन, थियासाफी के प्रेमीगण, आर्यसमाज के कार्यकर्ता महोदय आदि आदि अपनी अपनी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु उनके सिद्धान्तों को वह लोकप्रियता नहीं मिल पाई है जो तुलसी मत को मिली है। इसका प्रधान कारण यह है कि तुलसीमत न केवल स्वतः बहुत उत्तम तत्त्व है वरन् वह बहुत उत्तम ढङ्ग से कहा भी गया है।

तुलसीमत के तत्त्वों का विवेचन तो हम पिछले परिच्छेदों में पर्याप्त रूप से कर ही आये हैं। इसलिये इस परिच्छेद में उसके प्रकाशन के ढङ्ग पर ही प्रकाश डालना सर्वथा समुचित जान पड़ता है। फिर भी सारांश रूप से यदि तत्त्वविवेचन की चर्चा करते हुए हम इस मत की महत्ता पर भी कुछ कह दें तो अनुचित न होगा। उत्तम विषय का पिष्टपेषण सर्वथैव अवाञ्छनीय नहीं रहा करता।

तुलसीमत की महत्ता के तीन प्रधान कारण हैं। वे इस प्रकार हैं:—

---

[1] दम्भिन्ह निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पन्थ ॥४८७-१२
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
४८७ १७ आदि

(१) उसमें बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर सामञ्जस्य है

पण्डितम्मन्य जीव अपना तर्क भिड़ाए बिना किसी बात को स्वीकार कर लेना नहीं चाहते। जब यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है तब तत्सिद्धान्तों का भी खण्डन करके अपनी ही बात पर अड़े रहना उन्हें आह्लादकर जान पड़ता है। ऐसे तर्क का नाम है दुष्ट तर्क अथवा कुतर्क। यह तर्क व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टियों से हेय है। सत् तर्क सदैव प्रशंसनीय है क्योंकि तत्त्वज्ञान इसी तर्क के द्वारा होता है। यदि भक्ति और भगवान् के मामलों में तर्क का कोई स्थान ही न हो तो अपनी अपनी समझ के अनुसार मतमतान्तर स्थापित करने वालों में लट्ठबाजी होते रहना अनिवार्य हो जायगा। यही नहीं, पंडा पुजारी पुरोहित पीर पादरी आदि का बाहरी बाना धारण करने वाले ढोंगी व्यक्तियों को अपने दंभाचार के प्रचार का पूरा अवसर भी मिलता रहेगा। स्नान पूजा--पाठ आदि के बाह्य आचारों में सर्वसाधारण का मन खींचने की अच्छी शक्ति रहती है, परन्तु मठ मूर्ति मन्दिर महन्त देश वेष आदि की ऐसी बाहरी बातों ही को सब कुछ मान बैठना और इनके चक्कर में पड़कर 'मैं ब्राह्मण हूँ तू शूद्र है; मैं शुद्ध हूँ तू अशुद्ध है; मैं चक्रांकित दीक्षित हूँ तू निगुरा है' इत्यादि कथन ही को परमधर्म समझ बैठना नितान्त विवेकहीनता है। तुलसीमत में ऐसी विवेकहीनता को कहीं स्थान नहीं है। गोस्वामी जी तो मुक्ति अथवा भक्ति के लिये बाह्य साधनों की अनिवार्यता स्वीकार ही नहीं करते। नामजप के अतिरिक्त और किसी बाह्य साधन को उन्होंने विशेष महत्त्व दिया ही नहीं।

तुलसीमत के बुद्धिवाद की विशेषता यह है कि उसने अद्वैतमत को भली भाँति अपना लिया है। विचारों की संकीर्णताएँ यदि किसी

दार्शनिक सिद्धान्त द्वारा भली भाँति दूर की जा सकती हैं तो वह अद्वैत सिद्धान्त ही है। बुद्धि को पूर्ण सन्तोष यदि मिल सकता है तो अद्वैत सिद्धान्त से ही। नास्तिकों को यदि कोई मुँहतोड़ उत्तर देकर भगवान् की सत्ता का निश्चय करा सकता है तो वह अद्वैत सिद्धान्त वाला ही है। अद्वैत सिद्धान्त के द्वारा ही हम राम, रहीम और गाड की एकता स्थापित कर सकते हैं। सायुज्य मुक्ति इसी सिद्धान्त की खास चीज है। इस मलायतन संसार की अपूर्णताओं पर यदि हम पूर्ण विजय प्राप्त कर सकते हैं तो इसी सिद्धान्त के सहारे। यदि हम अद्वैत को विशिष्ट ही समझे रहें या द्वैत बनाये रहे तो संसृतिचक्र से हटना किस प्रकार सम्भव होगा? जहाँ संसृतिचक्र है वहाँ पाप ताप कभी न कभी अपना प्रभाव दिखा ही देंगे। इसलिये अद्वैत मत ही से चित्त का पूर्ण समाधान होता है। शंकराचार्य की भाँति गोस्वामी जी भी भक्ति को मुक्ति की स्थिरता का प्रधान साधन मानते हैं। यदि अन्तर है तो केवल इतना ही कि शंकराचार्य विशेषतः मुक्ति के लिये ही भक्ति की व्यवस्था देते हैं और गोस्वामी जी--भक्तिमाधुर्य के लिये ही भक्ति करना अच्छा बतलाते हैं। जो लोग भगवत् प्रेम के आनन्द ही में मस्त रहकर अपने व्यक्तित्व का—अपने अहंकार का—एकदम विगलन नहीं कराना चाहते वे भी धन्य ही हैं क्योंकि वे आखिर माया के दुखमय अविद्या-रूप से तो मुक्त हो ही चुकते हैं। उनका अस्तित्व यदि स्वतः उनके कल्याण के लिये नहीं तो जगत्कल्याण के लिये अवश्य आवश्यक है। यह ठीक है कि भक्ति माया का एक अंग है[1] और परमात्मा का सगुण

---

[1]हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहंगवर॥
४७८-६-७

व्यक्तित्व—उनका अवतार—"अनध्यस्त विवर्त है"[1] इसलिये जीव का अन्तिम आदर्श निर्गुण ब्रह्म ही है और अन्तिम ध्येय मुक्ति ही है; परन्तु यह भी तो ठीक है कि अनध्यस्त विवर्त के सहारे हमको तत्वबोध हो ही जाता है और भक्ति के सहारे हमें मुक्ति "अनइच्छित" "बरिआई" मिल ही जाती है। इसलिये गोस्वामी जी ने यदि भक्ति को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे अद्वैत सिद्धान्त से हट गये हैं।

कारपेण्टर महोदय का आक्षेप है कि भारतीय दर्शनिकों की भाँति गोस्वामीजी ने भी पाप के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया।[2] तुलसीमत की बुद्धिवाद ही कैसा यदि यह प्रश्न अछूता छूटा रहता। गोस्वामी जी ने स्पष्ट ही लिखा है :—

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करमफल दाता॥
४६२-१, २

गोस्वामीजी ने पापी को रोग कहा है और मोह को उन सब रोगों का मूल बताया है (देखिये मानस रोग प्रकरण)। इसलिये परम सद्वैद्य की भाँति वे विशिष्ट रोगों को नहीं वरन् सभी रोगों के मूल कारण को ही भली भाँति स्पष्ट कर रहे हैं और उसके नष्ट करने का उपाय बता रहे हैं। रक्तविकार वाले मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होते रहने-वाले व्रणों की अलग अलग चिन्ता करने के बदले यही सदैव अच्छा है कि उसके रक्तविकार को तो दूर करा देने की चिन्ता की जाय। रक्त-विकार दूर करने की चेष्टा करते ही वे फोड़े आप ही आप अच्छे होने लगेंगे। इस मलायतन नश्वर संसार में महा मोह का विध्वंस करके

[1] देखिये चतुर्थ परिच्छेद

[2] देखिये पृष्ठ १६७

अशान्ति (पापतापहीनता) किस प्रकार प्राप्त कर ली जाय, इसी प्रश्न के ऊहापोह में तो तुलसीमत का समूचा बुद्धिवाद लगा हुआ है।

हृदयवाद की पहली विशेषता है अभिलषित विषय की ओर लगन। उसकी दूसरी विशेषता है इस लगन की बाधक परिस्थितियों में भी अविचलता। उसकी तीसरी विशेषता है प्रतिकूल विषयों के परित्याग के लिये पर्याप्त मनोबल। गोस्वामी जी के हृदयवाद की पहिली दो विशेषताएँ अनुराग के विवेचन मे और तीसरी विशेषता वैराग्य के विवेचन में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रही हैं।

गोस्वामी जी कहते हैं कि अपने भगवान् की ओर लगन ऐसी पक्की हो जैसी कामी, लोभी और अविवेकी को कामिनी, काञ्चन और अपने शरीर की ओर रहती है।[1] वे विघ्नों से ठीक उसी प्रकार अविचलित रहने की बात कहते हैं जिस प्रकार चातक अपने ही प्रेम-पात्र की जफाकारियों"—वज्र और ओले की मारों—से अविचलित रहा करता है। वे तो कहते हैं कि तापने से जिस प्रकार सोने की दमक दूनी होती जाती है उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों का सन्ताप पाकर प्रेम के रंग में भी दूनी दमक आनी चाहिये।[2] रामभक्ति के बाधक जितने पदार्थ हैं उन सबसे मुँह मोड़ लेने मे उन्हें जरा भी हिचक नहीं।[3] अर्थ धर्म और काम की बात ही क्या है वे तो निर्वाण तक को ठुकरा देने की क्षमता रखते हैं।[4] जिस विषय को ग्रहण किया उसे अनुकूल प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में अभिन्न बनाये रखना और उसके

---

[1]देखिये पृष्ठ ५१० पंक्ति ३; ४ और पृष्ठ २२५ पंक्ति ४

[2]देखिये पृष्ठ २४६ पंक्ति १६ से २१

[3]देखिये पृष्ठ ३३१ पंक्ति १६, १७

[4]देखिये पृष्ठ २४२ पंक्ति १५; १६

का जैसा समन्वय उन्होंने किया है वह हम पहिले लिख ही आये हैं। यह उन्हीं की खूबी है कि उन्होंने जहाँ एक ओर सर्वोत्कृष्ट हृदयवाद को विवेक के सुदृढ़ आसन पर सस्थापित कर रखा है वहाँ दूसरी ओर चरम सीमा तक पहुँचे हुए बुद्धिवाद को वे वैराग्य की अचल अटल नींव से हिलने नहीं देते।

लोकधर्म में जो आवश्यकता विवेक की है वही वैराग्य की भी है। वही धर्म विश्वधर्म कहा जा सकता है जो वैराग्य पर स्थित हो। वैराग्य के बिना विश्व में पक्की शान्ति स्थापित ही नहीं हो सकती। यदि हर-एक मनुष्य ईश्वर की सहायता से, अथवा योगमार्ग इत्यादि के द्वारा अपनी ही बढ़ी हुई शक्ति की सहायता से, सुखसम्पत्ति ऐश्वर्य विभूति समेटना प्रारंभ कर दे तो फिर बाकी लोगों का क्या हाल हो? कोई तो ऐश्वर्यशाली स्वामी हो जाय और कोई साधनहीन सेवक बनने के लिये बाध्य किया जाय। विज्ञान की वर्तमान वृद्धि यही दशा तो दिखला रही है। जापान यदि अपनी ओर सब कुछ समेट लेना चाहता है तो इटली अथवा जर्मनी अपनी ओर। इसका परिणाम है संहार और विनाश। रावण के समान तपस्वी तथा याज्ञिक और कौन होगा, परन्तु उसका तप और उसके यज्ञ याग उसकी ऐश्वर्यवृद्धि और अजेयता के लिये थे इसलिये उसके द्वारा जगत् में सङ्कट ही उपस्थित हुआ और अन्त में भगवान् को उसके यज्ञ का विध्वंस कराना पड़ा। जो व्यक्ति अनासक्ति योग द्वारा धर्माचरण करता है—विषयों में वैराग्यशील रह कर कर्तव्य कर्म करता है—वही सच्चा धार्मिक है। यह वैराग्य हृदयवाद की विशिष्ट वस्तु है। परन्तु ऐसा वैराग्य भी यदि विवेक की आँच में तपाया जाकर खरा न कर लिया जाय तो वह हमारे लिये भ्रामक सिद्ध हो सकता है। वैराग्य का यह अर्थ नहीं है कि अपने कल्याणमय और अभावहीन जीवन से ही विरक्ति कर ली जाय। दुःखों और सङ्कटों का आह्वान करना वैराग्य नहीं और न उनसे त्रस्त होकर भाग निकलना ही

वैराग्य है। अपने जीवन को सुदृढ़ बनाना और अपनी परिस्थिति को अपने वास्तविक उत्कर्ष के अनुकूल बनाना तो प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होना चाहिये। निष्क्रियता और वैराग्य में बड़ा अन्तर है। मुर्दे की शान्ति और जीवनमुक्ति की शान्ति में आकाश पाताल का सा भेद है। हमारे लिये वही वैराग्य उपयुक्त है जो हमें जीवनमुक्त की सी शान्ति दे न कि मुर्दे की सी। हमें तो वह वैराग्य चाहिये जो लोकसेवा का साधन बनकर रहे। जगत् राममय है इसलिये लोकसेवा ही सच्ची रामसेवा है। परन्तु यह भली भाँति तभी सम्भव है जब मनुष्य विषयसुखों की आशाएं छोड़ दे। ऐसे धर्मशील व्यक्ति के पास विषयसुख और सम्पत्तियाँ ठीक उसी प्रकार आप ही दौड़ी चली आवेंगी जिस प्रकार समुद्र के पास बिना बुलाए नदियाँ दौड़ी चली आती हैं।

बुद्धिबल कितना भी प्रबल हो, फिर भी वह हृदयबल की अपेक्षा न्यून ही कहा जावेगा। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि "बुद्धिबल से हृदय बल सहस्र: अधिक है[1]।" मनुष्य अपने बुद्धिबल के सहारे भले ही अद्वैत सिद्धान्त स्थिर करले, युगधर्म सरीखी अनमोल बातें ढूँढ़ निकाले, लोकसेवा के सामान परम धर्म निश्चित कर ले, परन्तु यदि उसके पास हृदयबल नहीं है तो वह निकम्मा ही बना रहेगा। शैतान भी वेदतत्त्व पर लम्बी स्पीच झाड़ सकता है। दुर्योधन ने इसीलिये तो स्पष्ट कहा है कि "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।" जिसके पास हृदयबल है गौतम बुद्ध की तरह उसे रोग, वृद्धत्व और मृत के केवल एक ही एक उदाहरण पर्याप्त हैं। स्वल्प उत्तेजना से ही वह अद्वितीय कर्मयोगी और लोकोपकारी बन सकता है। परन्तु सद्विवेकहीन हृदयवाद भी खतरे से खाली नहीं है। लोकसेवा ही की बात देखिये। यदि वह कोरे

[1] धर्मपथ पृष्ठ १२१

हृदयवाद की प्रेरणा का परिणाम होगी तो लोकसेवक के हृदय में जनता की उपेक्षा को सहन कर सकने की शक्ति कदापि न प्रदान कर सकेगी। हम जिस जनता की सेवा करना चाहते हैं वही कई अवसरों पर हमारे विरुद्ध हो जाती है। हमें कई अवसरों पर शान्ति की रक्षा करते करते शान्ति ही का संहार करने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसे अवसर पर हमारा विवेक ही हमारे काम आता है जो बताता है कि लोकसेवा का मूल केवल साम्यवाद सरीखे सिद्धान्तों में ही नहीं है वरन् वह प्रभुप्रेम सरीखे अटल सिद्धान्त में है। गोस्वामी ने अपने मत में हृदयवाद और बुद्धिवाद का जैसा सुन्दर सम्मिश्रण किया है वह देखने, परखने और अनुभव करने की वस्तु है।

(२) वह सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध रूप है

समुद्र की विशालता से प्रभावित होकर भर्तृहरि जी ने कहा है :—

> इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीय द्विपा-
> मितश्च शरणार्थिनः शिखरि पत्रिणः शेरते।
> इतोऽपि बडवानलः सह समस्त संवर्तकै-
> रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिंधोर्वपुः॥

ठीक यही हाल हिन्दूधर्म का है। न जाने कितने मतमतान्तर इस "वितत, ऊर्जित और भरसह" धर्म के अन्दर समाये हुये हैं। जब कि महाभारत के समय भी—

> श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्नाः
> नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
> धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

की घोषणा करनी पड़ी थी तब आज दिन, जबकि नये नये पन्थों की संख्या सीमा को भी पार सी कर गई है, संक्षेप में इस विशाल हिन्दू-धर्म के किसी सुश्रृंखलित रूप की चर्चा कर देना प्रायः असम्भव ही है। आस्तिक, नास्तिक, निराकारवादी, साकारवादी, साधुमतवाले, लोकमतवाले, वाममार्गी, दक्षिणमार्गी, लोपन्थी, वेदपन्थी आदि, आदि न जाने कितने विभिन्न सम्प्रदायों से ओतपोत होकर यह धर्म अनिर्वचनीय सा बन गया है।

महर्षि वेदव्यास ने भी इसकी विभिन्नताएँ देखकर सभी सम्प्रदायों के अन्तिम ध्येय की ओर लक्ष्य रखते हुए कहा है :—

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग् धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

(महाभारत, भीष्मस्तवराज)

भारतीय आचार्यों ने धर्म का व्यापक अर्थ लिया है। अपने अपने धर्म के बिना वस्तु का वस्तुत्व ही स्थिर नहीं रह सकता। अग्नि का धर्म है दाहिकाशक्ति और मनुष्य का धर्म है मनुष्यता। यदि दाहिकाशक्ति हट जाय तो अग्नि का अग्नित्व ही न रहे। यदि मनुष्यता चली जाय तो वह मनुष्य एक द्विपद पशु मात्र रह जावे। यह मानव धर्म ही भारतीय भाषा और भारतीय भावों के द्वारा व्यक्त होकर सनातनधर्म के नाम से अभिहित हुआ है। इस धर्म का कोई एक आचार्य नहीं। यह तो मानव समाज की आदिम अवस्था से लेकर अब तक विकसित होता और विभिन्न धर्मप्रवर्तकों के तत्वों को आत्मसात् करता चला आ रहा है। इसीलिये वह सनातन धर्म कहाता है। प्रगतिशील संसार की नूतन परिस्थिति में जब कभी इसके कोई पुरातन सिद्धान्त अनुपयोगी सिद्ध होते हैं तभी उनके तिरोभाव का क्रम प्रारम्भ हो जाता है और जिन लोगों ने ऐसे सिद्धान्तों के कारण ही सनातन धर्म को हेय

मानकर इसके विरोध में अपना नूतन पन्थ चलाने की चेष्टा की थी, उन्हीं के चलाए हुए धर्म को (सम्प्रदाय को) अपना ही एक अङ्ग बनाकर वह फिर भी पूर्व की भाँति जीता जागता रहता है। सनातन हिन्दू धर्म की ऐसी विशालता का यही प्रधान कारण है।

सनातन हिन्दू धर्म में भारतीय संस्कृति और मानव धर्म दोनों का मेल है। भारतीय संस्कृति के कारण तो वह हिन्दू-राष्ट्रीयता स्थापित किये हुये है और मानवधर्म के सिद्धान्तों के कारण यह इतने इतने आघात सहकर भी अमर बना हुआ है। संसार के आगे इसकी वास्तविक महत्ता भारतीय संस्कृति के कारण नहीं किन्तु मानवधर्म के कारण है। यह मानवधर्म जिस खूबी और गहराई के साथ सनातन हिन्दूधर्म में व्यक्त हुआ है वह देखने और समझने की वस्तु है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं :—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवकु सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥३२९-१६, १७

इतना ही नहीं, वे इस निश्चय के अनुसार अखिल संसार के जड़चेतन सभी पदार्थों को सम्मान देते हुए कहते हैं :—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पदकमल सदा जोरि जुग पानि ॥ ७-७१, १८
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल वासी ॥
सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥
७-२१, २२

इन विचारों वाला व्यक्ति निश्चय ही 'सचराचर रूप' 'भगवन्त' की सेवा में प्रवृत्त होकर यदि एक ओर "सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई ॥" (४६३-२४) धारण करेगा तो दूसरी ओर "उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय

देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध ।" (४६७-१४, १५) के तत्त्व को समझता हुआ मानवेतर जीवों को भी अपने स्वार्थ के लिए उत्पीड़ित न करना चाहेगा और सादगीवाले जीवन के साथ त्यागपूर्ण मार्ग में अभिरुचि रखेगा। यही हिन्दूधर्म का परम महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

वास्तविक मानवधर्म के साथ ही साथ भारतीय वातावरण के अनुसार जो बहुत सा व्यावहारिक धर्म इस सनातन हिन्दू धर्म में समाविष्ट हो गया है उसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन आवश्यक रहा करता है। तुलसीमत की खूबी यह है कि उसमे व्यावहारिक धर्मों के ऐसे परिवर्तनों की ओर पर्याप्त प्रेरणा रहते हुए भी खण्डन मण्डन का बवण्डर नहीं उठाया गया है। व्यावहारिक धर्म में प्रधान समझे जाने वाले "रोटी और बेटी" (भोज और विवाह अथवा आहार औ विहार) के प्रश्नों का मूल है जाति भेद की प्रथा। गोस्वामी जी को अभीष्ट था कि सभी जीव "राममय" समझे जाकर समाज पुरुष के आवश्यक और उपयोगी अङ्ग माने जायँ। उसमें जातिगत वैषम्य अमिट न माना जाय। इस बात के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए "अब जनि करेहि विप्र अपमाना। जानेसु सन्त अनन्त समाना" (४६४-१८) कहा है, वहाँ दूसरी ओर शूद्रों को—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥
२४५-१८, १६

कोटि विप्रवध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥३६३-१०
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
३२०-६

आदि बातें कह कर यह बता दिया है कि वे हरिजन यदि आस्तिक हैं तो ब्राह्मण के अपमान की कौन कहे, ब्राह्मण के वध के पाप से भी

मुक्त हो सकते हैं और ब्राह्मणों के बराबर ही सम्मान्य माने जा सकते हैं। इस कथन में प्रत्यक्षत: जातिभेद की वर्तमान प्रथा के विरुद्ध कोई तीखी उक्ति नहीं है तथापि यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ठ हो जाता है कि गोस्वामी जी के मतानुसार जन्मना चाहे वर्णवैषम्य, कुल-वैषम्य जाति वैषम्य आदि आदि हो भी जाय परन्तु कर्मणा हर कोई व्यक्ति उच्चातिउच्च वर्ण कुल अथवा जातिवाले व्यक्तियों की बराबरी पा सकता है। व्यावहारिक धर्म की दूसरी प्रधान देन है सनातन हिन्दू धर्म का बाह्याचार। प्रत्येक महान् धर्म में तत्त्वज्ञान, आस्तिकता और बाह्याचार के स्पष्ट दर्शन हो सकते हैं। तत्त्वज्ञान तो सभी धर्मों में प्रायः एक सा है। आस्तिकता भी प्रायः एक सी ही है यदि अन्तर है तो केवल नाम रूप आदि की कल्पनाओं में। बाह्याचार अवश्य अपने अपने देश की परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग है।[1] किसी को मन्दिर पसन्द है किसी को मसजिद और किसी को गिरिजा। कोई अजान देना पसन्द करता है कोई शङ्ख बजाना और कोई घण्टे की गूँज उत्पन्न करना। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय सनातन हिन्दू धर्म के बाह्याचारों पर चारों ओर से विषम आघात हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने युगधर्म की चर्चा करके बाह्याचारों को जिस खूबी से अन्य युगों के धर्म बताकर इस युग के लिए सदाचारमूलक नामस्मरण की प्रधानता रख दी है वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है। उनके इस कथन में न तो खण्डन मण्डन और विरोध के झंझट ही उठने पाये और न धर्मान्धता का ही अथवा गतानुगतिकता का ही कोई सवाल रह गया।

वेदानुकूल शब्दों और भावों के द्वारा ही मानवधर्म की चर्चा

---

1. डाक्टर भगवान दास महोदय ने अपने "दी युनिटी इन एशियेटिक थाट" नामक निबन्ध में विभिन्न धर्मों के इन बाह्याचारों में भी बहुत साम्य दिखाया है।

करके तथा रामावतार पर पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हुए गोस्वामी जी ने सनातन हिन्दू धर्म के भारतीय संस्कृति वाले अंश की भी पर्याप्त रक्षा की है। इस विषय पर हम विस्तार के साथ लिख आये हैं। इसलिये यहाँ संकेतमात्र पर्याप्त है।

तुलसीमत न केवल मानवधर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ बातों को ही समेटे हुए है वरन् वह गीता से लेकर गांधीवाद तक समग्र धर्म-प्रवर्त्तकों से सत्सिद्धान्तों को भी अपनी गोद में खिला रहा है। गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का जप, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्तिभावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभ का बालरूप आराध्य, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाममहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्मसमाज को ब्रह्मकृपा, आर्यसमाज का आर्य सङ्गठन और गांधीवाद की सत्य अहिंसामूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि-आदि सभी कुछ तो उसमें है ही साथ ही मुसलमानों का मानवबन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा कारुण्य से पूर्ण सदाचार भी उसमें क्रीड़ा कर रहे हैं।

इन्हीं सब कारणों से तुलसीमत सनातन हिन्दूधर्म का विशुद्ध रूप बनकर सभी सम्प्रदाय वालों के लिये सम्मान्य हो रहा है।

(३) वह नकद धर्म है।

स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक व्याख्यान में नकद धर्म और उधार धर्म की सुन्दर विवेचना की है। जिस धर्म का प्रत्यक्ष फल हमें इसी जन्म में न मिले वह उधार धर्म है। अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में इस लोक के कर्तव्यों को भुला बैठना बुद्धिमानी नहीं। वह उधार धर्म की बात है। गोस्वामी जी ने इसीलिये स्वर्ग के लालच को कभी

प्राधान्य नहीं दिया। उनका धर्म एकदम नकद धर्म है, क्योंकि वह न केवल सदाचारमूलक है वरन् उसमें साधुमत और लोकमत का सुन्दर सम्मेलन भी है। उसका प्रचार ही लोक हित की दृष्टि से किया गया है। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी जी की श्रुतिसम्मत हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है"। और "शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है"। (तुलसी ग्रन्थावली तृतीय भाग पृष्ठ १३८)

लोकहित के लिये गोस्वामीजी का तरीका भी साम्यवादियों अथवा क्रान्तिकारियों का सा नहीं है। यद्यपि वे नास्तिक को भी अपने मत में पर्याप्त आश्रय दे देते हैं, तथापि उनकी लोकसेवा आस्तिकता से भिन्न नहीं। वे केवल हृदय की प्रेरणा से ही लोकसेवा की ओर नहीं झुक रहे हैं, वरन् उसमें बुद्धि की प्रेरणा का भी पर्याप्त योग दे रहे हैं। वे लोकसेवा को विभुसेवा का सर्वप्रधान अङ्ग बताते हुये भी उस विभु के नाते अपने विरोधी व्यक्तियों अथवा सिद्धान्तों का भी उसी सौम्यभाव से स्वागत करने को तैयार हैं।

अपने आचार में परिस्थिति के अनुकूल किस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिये, इधर उधर के लोकों की बातें छोड़कर अपने ही पास 'सचराचर' रूप से किस प्रकार भगवान् को देख लेना चाहिये, भक्ति के आनन्द के ही लिये किस प्रकार "सब तज हरिभज" वाला सिद्धान्त ग्रहण करना चाहिये, लोकमत की चरितार्थता और पारस्परिक संगठन के लिये किस प्रकार सत्सङ्ग सरीखे सुन्दर उपायों का अवलम्ब लेना चाहिये, तथा ससारसेवा को ही विभुसेवा का प्रधान रूप मानकर किस प्रकार व्यवहार और परमार्थ को एक कर लेना चाहिये आदि-आदि बातों की चर्चा करके गोस्वामी जी ने अपने मत को स्पष्ट ही नकद धर्म बना दिया है।

तुलसीमत की उत्तमता पर इतना ही लिखकर अब हम उसकी

उक्ति के उत्तम ढङ्ग पर कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं। गोस्वामी जी के कथन का ढङ्ग इतना महत्त्वपूर्ण है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उनको ऐसी असामान्य लोकप्रियता का कारण उनका तुलसीमत है अथवा उनका काव्य-कौशल। बड़थ्वाल महोदय कहते हैं कि "मनःप्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है, अभिव्यंजना के क्षेत्र में वही साहित्य हो जाता है"। (देखिये कल्याण भाग ९ संख्या ४ पृष्ठ ८३६)। इस सिद्धान्त के अनुसार गोस्वामी जी की परम भावुकता ने दोनों क्षेत्रों में कमाल किया है। उसने उन्हें न केवल परम भक्त ही बनाया वरन् परम कवि भी बना छोड़ा और इन दोनों के सुन्दर सामञ्जस्य ने ही तुलसीमत के ऐसे अपूर्व लोकरञ्जक रूप की सृष्टि की है। गोस्वामी जी की कला पर बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है और अब भी उस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। हमारे निबन्ध का विषय दूसरा है, इसलिये हम तो उस कला के कतिपय प्रधान अङ्गों का परिचय मात्र ही दे सकेंगे और वह भी तुलसीमत की विशेषता का दिग्दर्शन कराने के नाते।

क्विनाइन में रोगनाशक शक्ति है अवश्य, परन्तु वह तब तक सुग्राह्य नहीं होती जब तक उस पर शक्कर की लपेट न लगाई जाय। इसी प्रकार सनातन हिन्दूधर्म का सारभूत सिद्धान्त गोस्वामी जी की कला की लपेट पाकर ही इतना सुग्राह्य हो उठा है। गांधी जी ठीक ही कहते हैं कि "भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने बहुत अधिक भाग लिया है। तुलसीदास के चेतनमय रामचरितमानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत् और शुष्क बन जाता। पता नहीं कैसे क्या हुआ, परन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास जी की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती।" (धर्मतत्त्व पृष्ठ ७५)

गोस्वामी जी की उक्ति की उत्तमता को हम दो भागों में विभक्त

करते हैं। पहिला भाग है काव्य और दूसरा है इतिहास अथवा कथा। काव्य के कारण लोकोत्तर आनन्द मिलता है जिससे वर्ण्य विषय रोचक हो उठता है और कथा की लपेट के कारण तत्त्वबोध सुग्राह्य हो जाता है। कबीर की पद्धति में तत्त्व के साथ काव्य की (विशेषकर छायावाद के से काव्य की) प्रधानता थी, सूर की पद्धति में काव्य के साथ इतिहास (कथानक) की। चन्द आदि कवियों की वीरगाथा-पद्धति में आध्यात्मिकता का पता तक न था। जायसी की सूफी सम्प्रदाय वाली पद्धति मे सब कुछ होते हुये भी वेदानुकूलता न थी। गोस्वामी जी ने इन सब पद्धतियों के सुन्दर तत्त्वों को समेट कर अपनी कला के लिये न केवल भारतीय इतिहास का सर्वोत्तम कथानक ही चुना वरन् उसकी लपेट के साथ ही साथ काव्य के कमनीय अङ्गों की अपूर्व माधुरी से अज्ञविज्ञ सभी को मुग्ध भी कर दिया परन्तु साथ ही अपने प्रकृत वर्ण्य विषय—आध्यात्मिक तत्त्व—की प्रधानता को कहीं भी शिथिल नहीं होने दिया।

गोस्वामीजी का शब्दकोष इतना विशाल है जितना हिन्दी के किसी भी अन्य कवि का न होगा। उन्होंने हजारों संस्कृत प्राकृत तथा विभिन्न भाषाओं के शब्दों का बड़े अधिकार के साथ प्रयोग किया है। जिस कवि का शब्दकोष जितना विस्तृत होगा वह उतने ही सौष्ठव के साथ अपने भावों को प्रकट कर सकेगा। किसी अधिकारी कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती करना और उनके अर्थों को निर्धारित करके कवि के मनोगत भावों का पता लगाना भी बड़ा उपयोगी अनुसंधान-कार्य है। अंग्रेजी मे शेक्सपियर और मिल्टन के शब्दों पर कई सज्जनों ने इस प्रकार का परिश्रम किया है। वह दिन दूर नहीं है हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयत्न प्रारंभ होंगे। हमने कई रामायणी सज्जन देखे हैं जो खास खास शब्दों के सम्बन्ध मे यह बता सकते हैं कि वे रामचरितमानस में कितनी बार किन किन अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं। गोस्वामी जी

का शब्दभाण्डार विशाल होने के साथ ही साथ इतना गंभीर भी है कि कई टीकाकार कई शब्दों का अर्थ करने में चक्कर खा गये हैं। गोस्वामी जी की शब्दावली को लेकर जितना विचार कीजिये उतना ही नया मसाला मिलता चला जाता है।

गोस्वामी जी का शब्दस्थापन भी मार्के का बन पड़ा है। कहाँ किस प्रकार के शब्द का प्रयोग होना चाहिये इस कला में गोस्वामी जी परम पटु हैं। उपयुक्त पात्र के लिये उपयुक्त भाषा मानों आप ही आप उनके हृदय से उमड़ पड़ती है। कठिन और सरल शब्दों का कुछ ऐसा अपूर्व सुयोग उनकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में पाया जाता है कि अपढ़ गँवार से लेकर परम ज्ञानी तक सभी इसमें अपना मनोरञ्जन पा जाते हैं। श्री बाबूराम युक्तिविशारद जी ने "सबकर मत खगनायक एहा" के १,६७५,१८६ अर्थ बताये हैं जो 'तुलसी सूक्तिसुधाकरभाष्य' नाम से अलग ग्रंथाकार प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार लगभग सत्रह लाख अर्थों को प्रकट करनेवाला यद्यपि विशेषतः बाबूराम जी का अपूर्व मस्तिष्क ही है तथापि इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी का शब्दस्थापन भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखता क्योंकि इस पंक्ति में यदि शब्दों का वैसा सम्बन्ध स्थापन न हुआ होता तो बाबूराम जी का मस्तिष्क भी इतने अर्थों की उद्भावना करने में कदाचित् ही सक्षम हो सकता। गोस्वामी जी का एक दोहा है—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसी के वृन्द तहँ देखि हरष कपिराइ॥ ३७४-२१,२२

इस दोहे में "नव" शब्द पर विचार कीजिये। यह अकेला एक शब्द उस गृह के स्वामी के भूत, भविष्य, वर्तमान, सुकृतरहस्य को खोले दे रहा है। "नव" का अर्थ "झुका हुआ" होता है। अतएव झुके हुए तुलसी के वृन्द बताते हैं कि गृही ने भूतकाल में बहुत सुकृत किया था जिसके कारण वर (फल) प्रदानार्थ तुलसी झुक पड़ी है 'नव" का अर्थ

"नौ" भी होता है। अतएव तुलसी के ६ वृन्द यह बताते हैं कि गृही इस लोक से अन्तिम प्रयाण के समय देह के नवों द्वारों के लिये पहिले ही से तुलसी की व्यवस्था किये ले रहा है। "नव" का तीसरा अर्थ "नया" भी होता है। अतएव इस अर्थ में नूतन तुलसीवृन्द यह बताते हैं कि गृही का वर्तमान भाव भी सुकृतपूर्ण है (क्योंकि उसने हाल ही में ये वृक्ष लगाये हैं) और इस प्रकार का त्रिकाल सुकृती जीव इस गृह में निवास कर रहा है। ऐसे अनेकों उदाहरण उनके शब्दस्थापन के सम्बन्ध में दिये जा सकते हैं। यह सुप्रसिद्ध है ही कि गोस्वामी जी के मानस की प्राय: प्रत्येक पंक्ति में "सीताराम" रूपी अक्षर चतुष्टय का कोई न कोई अक्षर अवश्य विद्यमान् होगा। यह भी गोस्वामी जी के शब्दास्थापन का चमत्कार है क्योंकि ऐसी खूबी रहते हुए भी कहीं भी न तो शब्दों की खींचतान है और न कोई भरती का शब्द ही रखा गया है।

शब्दस्थापन अथवा पदयोजना की ही भाँति गोस्वामी जी की वाक्य-रचना का हाल है। कई वाक्य इस खूबी के साथ कहे गये हैं कि वे सुनते ही याद हो जाते और लोकोक्तियों का काम देने लगते हैं। वहुतों में इतना अपूर्व रचनाकौशल है कि देखते ही बनता है। भगवान् राम परशुराम जी से कहते हैं :—

विप्र वंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डराई॥
१३०-१७

इस वाक्य के मृदु और गूढ वचन सुनकर ही परशुधर-मति के पँटल खुल गये थे।[1] इसलिये यदि इसके मृदु (माधुर्यभावयुक्त) और गूढ़ (ऐश्वर्यभावयुक्त) अर्थों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि

---

[1] सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के। उघरे पटल परशुधर मति के॥
१३०-[illegible]

इसी एक सीधे सादे वाक्य के चार चार सुन्दर अर्थ निकल रहे हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) (राम के क्षत्रिय शरीर को प्रधानता देनेवाला मृदुभाव)—

"विप्रवंश की ऐसी महत्ता है कि जो क्षत्रिय आप लोगों को (ब्राह्मण लोगों को) डरकर चलता है वही वास्तव में अभय होता है।"

(२) (परशुराम के ब्राह्मण शरीर को प्रधानता देनेवाला मृदुभाव)—

"विप्रवन्श की इसीलिए इतनी प्रभुता है कि वह आपको (वैष्णव अन्श को) डरता हुआ (आस्तिक्यभावयुक्त होता हुआ) इस संसार में अभय रहता है।"

(३) (राम के ब्रह्मत्व की दृष्टि से गूढ़भाव)—

'यह विप्रवंश ही की ऐसी प्रभुता है जिसके कारण अभय ब्रह्म (जो अभय है वह भी) आप से डर रहा है—ब्रह्मण्यता को मर्यादा संस्थापन के लिए ही मैं अभय ब्रह्म होकर भी आपका मुलाहिजा करता चला जा रहा हूँ।"

(४) (परशुराम के विष्णुत्व की दृष्टि से, गूढ़ भाव)—

"विप्रवंश स्वीकार करके आप ऐसी प्रभुता दिखा रहे हैं ? (आपको तो शान्ति ही दिखानी चाहिये। आपको समझ रखना चाहिये कि) जो प्रत्यक्ष में आपको डर रहा है वह वास्तव मे अभय है।"

"प्रथम दो अर्थों में भगवान् ने परशुराम को मान देकर अपना मार्दव प्रकट किया और शेष दो अर्थों में उन्हें नसीहत देकर अपना गूढ़त्व (दिव्यभाव) प्रकट किया है।

ऐसे ऐसे वाक्यों के इसी प्रकार अनेकानेक अर्थ निकल सकते हैं जो शब्दों को तोड़े मरोड़े बिना—उनका विच्छेद किये बिना अथवा उनका अप्रचलित अर्थ ढूँढे बिना ही—स्पष्ट हो जाते हैं।

वाक्यरचना के समान गोस्वामी जी का प्रबन्धसौष्ठव भी कमाल का है। किस प्रसंग को कहाँ किस प्रकार सामने लाना चाहिये यह गोस्वामी जी को खूब अच्छी तरह मालूम था। कथा को कहाँ किस प्रकार बढ़ाना और किस प्रकार घटाना, कहाँ वर्णनात्मक क्रम रखना और कहाँ नई नई घटनाएँ जोड़ देना यह सब विषय उन्हें हस्तामलकवत् था। ऐसे प्रत्येक प्रसंग में उनका न केवल मनोविज्ञान सम्बन्धी परम पंडित्य प्रदर्शित हो रहा है वरन् उनका अद्वितीय कलाकारत्व भी स्पष्ट हो रहा है। कई स्थलों में तो पूरे प्रसंग के प्रसंग चमत्कारिक अर्थों से भरपूर जान पड़ते हैं। वाटिका-प्रसङ्ग ही का हाल देखिये। हमने एक बार सुना कि "चातक कोकिल कीर चकोरा" वाली पंक्ति में पक्षियों के बहाने भक्तों की चर्चा की गई है।[1] इसलिए ध्यानपूर्वक हमने फुलवारी लीला का पूरा प्रकरण देखा और यह पाया कि अथ से इति तक उसमें आध्यात्मिक अर्थ भी भरा पड़ा है। मानसरूपक में गोस्वामी जी ने लिखा है "सन्त सभी चहुँ दिसि अँवराई। स्रद्धा रितु बसन्त सम गाई।" (२३-१८) वाटिका प्रसंग में भी वे बाग के साथ बसन्त का योग करके कहते हैं "भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसन्त रितु रही लोभाई।" (१०६-२३) साथ ही इस बाग के लिए वे "आराम" शब्द का प्रयोग करते हैं[2] जिसका संस्कृत के अनुसार अर्थ हो सकता है 'आसमन्तात् रामः यस्मिन्' अर्थात जो रामप्रेम से ओतप्रोत है। तब प्रत्यक्ष ही वह 'बाग-बर" श्रेष्ठ सन्तसमाज हुआ। जनक (पितामह ब्रह्म) की अयोनिजा कन्या

१ बैजनाथ जी पाँच पक्षियों का भाव यह लिखते हैं कि "अर्थी जिज्ञासु ज्ञानी आर्त और प्रेमी ये पाँचों भक्त पक्षी, का रूप धर आ बैठे हैं और अपने अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं।" मानसपीयूष बाल काण्ड पृष्ठ १७११।

२ परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत ॥ १०७-५

है जीवात्मा। यदि वह परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहे तो उसे सत्संग करना चाहिये। यद्यपि उसका अन्तिम आराध्य है निगुर्ण ब्रह्म तथापि सत्सग में उसे निगुर्ण और सगुण (श्याम राम और गौर लक्ष्मण) दोनों का साक्षात्कार होता है। जिस सन्तसमाज में सीतारूपी परम अधिकारिणी जीवात्मा पहुँची थी वह परम उन्नत समाज होना ही चाहिये। उसने भगवान के उभय रूपों की कृपा पहिले ही से प्राप्त कर ली थी। ऐसा हुए बिना वह जीवात्मा-परमात्मा का इतना मधुर मेल करा ही कैसे सकती थी। वह परम उन्नत सन्तसमाज जगतकल्याण की संरक्षक (भू-प) थी। उसके स्त्री पुरुष सभी षड्गुणोपेत थे। उसके प्रत्येक व्यक्ति शोभन सुमन फल और पल्लव (मन वाणी और कर्म) युक्त होकर भी नम्र (नव) थे। अपनी दैवी सम्पति के आधिक्य से वे देवताओं को भी रूखा (क्षुद्र) बना रहे थे। उसमें न केवल ऊर्ध्वगामी (विहग) साधक भक्त लोग (आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी लोग) ही चेष्टाशील हो रहे थे वरन् सिद्ध भक्त (परमात्मा ने 'मोर'-मेरा-कहकर जिनका पक्ष धारण कर लिया है वे) भी मस्ती में थिरक से रहे थे। इस सन्तसभा के मध्य में तो रामचरितचर्चा का मनोज्ञ सरोवर था ही। उस सरोवर तक पहुँचने के साधन (सोपान) भी महत्त्वपूर्ण और महामूल्यवान थे। उस सरोवर में भक्ति (विमल सलिल) वैराग्य (सरसिज ज्ञान (खग) और योग (भृंग) के तत्त्वों का भी समावेश निश्चित ही था अथवा यों कहिये कि सतयुग विमल सलिल) त्रेता (सरसिज बहुरंगा) द्वापर (जलखग – जिनका रंग श्यामलता की ओर विशेष झुका रहता है) और कलि (काले भृंग) की समग्र विभूतियों ऐश्वर्य स्पष्ट ही था। ऐसे रामचरित-चर्चायुक्त सन्तसमाज (बाग तड़ाग) को देखकर परमात्मा परम प्रसन्न हुआ करते हैं। और वे स्वतः वहाँ प्रकट होकर अपने कृपा कटाक्ष निरीक्षण से समूचे समाज को तृप्त कर देते हैं। इसी प्रकार का परम

रोचक आध्यात्मिक अर्थ पूरे के पूरे प्रकरण में भरा पड़ा है।[1] आचार्य शुक्लजी ने यथार्थ ही कहा है कि "जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिन्दी के और किसी कवि में वह प्रबन्ध-पटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है।" तुलसी ग्रन्थावली तृतीय खंड २२५ पृष्ठ ।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा की रचना में—गोस्वामीजी ने पूरी स्वच्छ

---

[1]हमने निम्नलिखित पंक्तियों के रहस्य की ही कुछ बानगी ऊपर दी है :—

भूप बाग बर देखेउ जाई । जहँ बसन्त रितु रही लोभाई ॥
लागे विटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना ॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये । निज संपति सुर रूख लजाये ॥
चातक कोकिल कीर चकोरा । कूजत बिहग नटत कल मोरा ॥
मध्य भाग सर सोह सुहावा । मनि सोपान विचित्र बनवा ॥
विमलसलिल सरसिज बहुरंगा । जलखग कूजत गुंजत भृंगा ॥
बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बन्धु समेत ।
परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत ॥ १०६-२३से२५
१०७-१से५

द्वितीय पंक्ति मे 'ब' अक्षर छः बार आया है जो बिटप और बेलि (नारीऔरनर) को षड्गुणोपेत बताकर कह रहा है कि उस सन्तसमाज के स्त्री पुरुष सभी (१) सुभग (२) शुचि (३) सन्त (४) धर्म्मशील (५) ज्ञानी और (६) गुणवन्त थे। देखिये :—

पुर नर नारि सुभग सुचि सन्ता । धरम शील ग्यानी गुणवन्ता ॥
१०१-८

यह पंक्ति भी उसी जनकपुर के स्त्री-पुरुषों के लिये कही गई है जहाँ का ह 'बागवर' है।

न्दता से काम लिया है उसी प्रकार देशी भाषा की रचना में भी उन्होंने स्वच्छन्दता ही दिखाई है। उनकी रचना में कहीं सन्त के साथ पन्थ की तुक भिड़ी हुई है कहीं सीता के साथ चिन्ता मिली दिखाई देती है। कहीं यतिभङ्ग का दृश्य है तो कहीं मात्रा की कमी अपना अस्तित्व प्रकट कर रही है। परन्तु कवि की ऐसी स्वच्छन्दता रहते हुए भी मानस की देशी भाषा बड़े ही परिमार्जित रूप में एकदम व्याकरण समस्त होकर निकली है।- "प्रश्न" सरीखे शब्द का स्त्रीलिंग में व्यवहार करना ऐसी बात है जिसे हम उनकी भाषा का डिठौना मान सकते हैं। "मर्म वचन जब सीता बोला" सदृश वाक्यों में व्याकरण की कोई अशुद्धि है ही नहीं। "भाषा" पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था वैसा और किसी हिन्दी कवि का नहीं।..... 'अवधी' और 'व्रज' काव्यभाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था।[१] फिर भी उन्होंने मानस के लिये अवधी भाषा को उपयुक्त समझा है अवधी एक तो गोस्वामी जी की निज की भाषा थी दूसरे वह उस स्थान की भाषा थी जहाँ रामचन्द्रजी ने जन्म धारण करके अपनी लीलाएँ की थीं। इसलिये गोस्वामी जी ने इसी भाषा को अपने भावों का माध्यम बनाया। राम की नगरी अयोध्या के सम्बन्ध से उस भाषा की ओर प्रत्येक रामभक्त की रुचि होना स्वाभाविक है। इसलिये व्रज-भाषा को छोड़ गोस्वामी जी ने इसे ही ग्रहण किया। वे अपने वर्ण्य सिद्धान्तों को विलास की प्रत्येक सामग्री से अलग रखना चाहते थे। इसलिये सूर और केशव की भाषा उन्होंने स्वीकृत नहीं की। जायसी ने अवधी में पहिले से प्रबन्धकाव्य रच दिया था। वह शैली उन्हें पसन्द आई इसलिये उन्होंने भी वही शैली स्वीकार कर ली।

न जाने कितने प्रान्तों के कितने शब्द गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ

---

१ आचार्य शुक्ल जी—तुलसी ग्रन्थावली तृतीय भाग पृष्ठ २३५.

में रखे हैं। हिन्दी भाषा की पाचनशक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो "रामचरितमानस" देखा जावे। भाषा के प्रसाद ओज माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। शब्दों की अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों के चमत्कार देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। मुहाविरों दा सफल प्रयोग, उनका मूल्य और उनकी हृदयहारिता देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। अर्थरूपी असंख्य नृत्यप्रकारों के लिये अक्षररूपी तालगति का सच्चा अवलम्ब देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। जहाँ जब जैसा भाव जिस तरह प्रकाशित करना है उसके अनुकूल शब्द वहीं मानो हाथ जोड़े खड़े हैं। उनकी भाषा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि द्वैतवादी विशिष्ठाद्वैतवादी आदि आदि सभी प्रकार के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों वाले सज्जन भी अपना अपना मनोऽभिलषित अर्थ निकाल लेते हैं और गोस्वामी जी की ओर समान रूप से अनुरक्त हो जाते हैं। यह उनकी भाषा ही का प्रभाव है कि उनकी पक्तियों के नित्य नये अर्थ निकलते चले जा रहे हैं और फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अब कोई नया टीकाकार नई बात लेकर सामने न आवेगा। आचार्य शुक्ल जी ठीक ही कहते हैं कि "सब से बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्यरचना की निर्दोषता) जो हिन्दी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पाई जाती।" (तुलसी ग्रन्थावली भाग ३ पृष्ठ २३६)।

गोस्वामी जी के भाव जिस उत्तमता से अभिव्यक्त हुए हैं उस पर तो जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। थोड़े से शब्दों मे वहुत से भाव भरकर, रख देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। कहीं कहीं तो उनका एक एक छन्द सौ सौ प्रबन्धों के बराबर हो गया है। हमने "गुनी गरीब ग्राम नर नागर........" (१८११ से १४) वाले प्रसंग में तीन ही चार पक्तियों के भीतर एक सज्जन को समूची राजनीति

समझाते हुए सुना था। एक दूसरे सज्जन ने "रामकाज करि-फिरि मैं आवहुँ .." वाले प्रसङ्ग की दो ही पंक्तियों में वक्तृत्वकला के सब पहलू झलका दिये थे। गोस्वामी जी का एक सोरठा है —

तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि-भाव प्रिय।
जन-गुन-गाहक राम दोषदलन करुनायतन ॥१५६-१७-१८

इस सोरठे में जो कुछ कहा गया है उसे समझा कर कहने के लिये एक लम्बी वक्तृता भी पर्याप्त नहीं है। पुत्र स्नेह कर्तव्यनिष्ठा सीता की गुणावली का कथन, सीता के प्रति राम का व्यवहार भविष्य में कैसा हो इसका पूर्ण संकेत, इत्यादि बातें इस ढङ्ग से कह दी गई हैं कि उनसे स्नेह तथा कर्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व का चित्र बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। उनका एक दोहा है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥७१-१३, १४

एक ही वस्तु के लिये तीन तीन उपमायें! सामान्य लोग कह देंगे कि यह तो भरती की रचना हुई। परन्तु इन तीन उपमाओं में कितना रहस्य भरा हुआ है यह विचार करने से ही विदित होता है। भगवान् में साध्य और साधना की पूर्णता है यह बात प्रकट करने के लिए ही गोस्वामीजी ने, जान पड़ता है, इन तीन उपमाओं का प्रयोग किया है। साध्य में आधिभौतिक पूर्णता के लिये जल, स्थल और गगन के सुन्दरतम पदार्थ (सरोरुह, मणि और नीरधर) चुन लिये गये, आधि-दैविक पूर्णता के लिये त्रिदेवों के विशिष्ट चिह्नों का उल्लेख कर दिया गया (कमलोद्भव ब्रह्मा के लिए सरोरुह का विशिष्ट चिह्न, कौस्तुभधारी विष्णु के लिए मणि का विशिष्ट चिह्न और गङ्गाधर शङ्कर के लिये नीरधर का संकेत बताया गया), और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये सरोरुह से सत् की (क्योंकि ऐश्वर्य की आधारभूत लक्ष्मी और जगद्रचना

के आधारभूत ब्रह्म की उत्पत्ति उसी से है), मणि से चित् की (क्योंकि उसका धर्म है प्रकाश, दुर्लभता, उपयोगिता आदि) और नीरधर से आनन्द की (क्योंकि रसमय होने से वह आनन्दमय है) झाँकी दिखाई गई। नील वर्ण आकाश की सी अनन्तता और समुद्र की सी गंभीरता का द्योतक है। जो वास्तव में अवर्ण है वह अपनी विशालता और अनन्तता के कारण नीला जान पड़ता है। इस प्रकार "नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर श्याम" में साध्य की पूर्णता प्रकट की गई है। अब साधन की पूर्णता इस प्रकार है कि सरोरुह कर्ममार्ग का द्योतक है क्योंकि विधि (कर्मचक्र) का प्रवर्तन यहीं से माना जाता है, मणि ज्ञान मार्ग का द्योतक है (अपने प्रकाशधर्म दारिद्र्यनिवारणादि धर्म के कारण) और नीरधर भक्तिमार्ग का द्योतक है (रससम्पत्ति के कारण)। नील वर्ण वह है जिसमें सब वर्णों का लय हो। इसलिये नीलवर्ण परमात्मा में ही सब साधनों की पूर्णता और परिसमाप्ति है वह विषय भी इसी एक पंक्ति से बता दिया गया है।

गोस्वामी जी की भावुकता के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में बहुत सुन्दर बातें कही हैं। वे कहते हैं कि "जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन के प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंग का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है" (पृष्ठ १५२) आगे चलकर वे कहते हैं "यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति

शील है तो हर्ष पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसीदास जी के हृदय में बिंबप्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।" गोस्वामी जी को ऐसी ही भावुकता से विभूषित रहने के कारण उनका मत इस प्रकार प्रत्येक हृदय में अपना घर कर रहा है।

गोस्वामी जी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनका सम्पूर्ण मानस एक ऐसे दिव्य रस से भरा हुआ है जिसके विषय में वे स्वयं कहते हैं कि 'रामचरित जे सुनत अघाहीं, रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं'। (४६६-१६)। उनके वृहद्ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति में कुछ न कुछ रसचमत्कार विद्यमान है। सामान्यतः नीरस प्रतीत होने वाली पंक्ति में भी कथाप्रसङ्ग का वह प्रवाह मिलेगा जिसमें रसतरंगें आप ही आप उछल रही होंगी। फुलवारी-लीला में उन्होंने शृंगाररस का जैसा मर्यादापूर्ण विशुद्ध और हृदयग्राही अवतार कराया है वैसा संसार के बहुत ही कम कवियों से बन पड़ा है। नारदमोह, शिवविवाह, सूर्पणखा प्रस्ताव आदि के प्रसङ्गों में बहुत ही ऊँची कोटि का हास्यरस भरा हुआ है। रामवनगमन के प्रसंग में तो करुणारस मूर्तिमान होकर बह निकला है। राम के मनुष्य और ब्रह्मत्व का स्थल पर एकत्र उल्लेख कर गोस्वामी जी ने अद्भुतरस का सुन्दर निर्वाह किया है। वीर भयानक रौद्र और वीभत्स रसों के ऊँचे उदाहरणों का मजा चखना है तो उनका युद्धवर्णन देखिये। शान्तरस की अनुपम माधुरी से तो समूचा ग्रंथ ही लबालब भरा है। काकभुशुंडि का आख्यान इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखने योग्य है। गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर नवरसों का माधुर्य एक ही जगह समेट कर रख दिया है। विचार करने पर ऐसे स्थलों में अनोखा ही मजा आता है। यहाँ एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। सुन्दरकाण्ड में वे लिखते हैं :—

कनक कोटि विचित्र मनि कृत सुन्दरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनइ।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहि बनइ॥
बन बाग उपवन बाटिका सर कूप बापी सोहही।
नर नाग सुर गन्धर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहि बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥
करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुदिसि रच्छहीं।
कहुँ महिस मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु यक है कही।
रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहहि सही॥

२४६-१६ से २७

विचित्रता के कारण पहिली दो पंक्तियों में अद्भुतरस और बहुरूपी (देखिये "कोउ मुखहीन विपुल मुख काहू" सरीखे वर्णन वाले) राक्षसों के कारण दूसरी दो पंक्तियों में हास्यरस विद्यमान है ही पाँचवीं पंक्ति में शृंगाररस और छठीं में करुणारस है क्योंकि 'नर नाग सुर गन्धर्व' कन्यायें छीनकर ही लाई गई थीं।[1] मल्लों के कारण सातवीं पंक्ति में वीररस है, तर्जना के कारण आठवीं में रौद्ररस विकटतन भटों के कारण नवीं पंक्ति में भयानकरस है और अनर्गल भक्षण के कारण दसवीं पंक्ति में बीभत्सरस ओतप्रोत है। रहा शान्तरस सो वह शेष दो पंक्तियों में जिस खूबी के साथ प्रकट किया गया है वह देखते ही बनता है। ऐसे

[1] देव-जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति वरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर वर नारि॥

८६ १५, १६

सफल कलाकार का सिद्धान्त यदि लोक में इस प्रकार प्रचार पावे और समादृत हो तो आश्चर्य ही क्या है।

गोस्वामी जी के काव्य में अलङ्कारविधान भी परम मनोरम बन पड़ा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी ग्रन्थावली की प्रस्तावना में (१) भावों की उत्कर्ष व्यञ्जना में सहायक अलङ्कारों (२) वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कारों (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कारों और (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलङ्कारों की अच्छी बानगी दिखाई है। मिश्र-बन्धु महोदयों ने :—

जे पुर गाँव बसहिं मगमाहीं। तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं।
पुन्यपुञ्ज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर वासी॥
२१४-५ से ८

इन पंक्तियों के सम्बन्ध में लिखा है कि "इनमें जितना साहित्य का सार कूट-कूट कर भरा है उतना शायद संसार सागर की किसी भाषा के, किसी पद्य में, कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी है इन पंक्तियों का सा स्वाद क्या अंग्रेज़ी क्या फारसी, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या संस्कृत, किसी भी भाषा में कहीं नहीं पाया"। (हिन्दी नवरत्न द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५२)। इन्हीं पंक्तियों के काव्य-कौशल को अपने विनोद की भूमिका में स्पष्ट करते हुए वे (१) सम्बन्धातिशयोक्ति (२) द्वितीय अर्थान्तरन्यास (३) सार (४) पदार्थावृत्ति दीपक (५) काकु (६) उदात्त (७) वृत्यनुप्रास (८) वीप्सा (९) चतुर्थ प्रतीप (१० अधिक अभेद रूपक (११) समुच्चय (१२) विकस्वर और (१३) अप्रस्तुत प्रशंसा – इस प्रकार के तेरह

अलङ्कारों का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि "दो छन्दों में साहित्य के दस गुणों में से-श्लेष, माधुर्य और ओज छोड़कर सभी वर्तमान हैं। इतने गुणों का एक स्थान पर मिलना प्रायः असम्भव है"। (देखिये मिश्र बन्धुविनोद भाग १ भूमिका पृष्ठ ३७)। जैसी सुन्दर और असरदार उपमाएँ लिखने मे गोस्वामी-जी समर्थ हुए हैं वैसी उपमाएँ अन्यान्य साहित्य के ग्रन्थों में भी दुर्लभ हैं। अपने सरसरि-रूपक में भी उन्होंने अपनी उपमाओं की विशेषता का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[१] उनका उपमालङ्कार ही कहीं रूपक कहीं उत्प्रेक्षा कहीं दृष्टान्त होकर बैठा है। उनके लिखे हुए साङ्गोपाङ्ग रूपक एकदम बेजोड़ हैं। ऐसे रूपकों के दर्शन ग्रन्थ में अनेकानेक स्थलों पर होते हैं। वर्ण्यविषय इन अलङ्कारों के सहारे पर एकदम खिल उठता है। सामने मानो चित्र खड़ा हो जाता है। एक बार हमने जयरामदास जी 'दीन' को 'जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी' (३४८६) वाली उपमा का विश्लेषण करते हुए सुना था। विभीषण के सम्बन्ध में वह उपमा कितनी अच्छी बैठी है इसका रहस्य उन्होंने दस बारह प्रकार से इस खूबी के साथ समझाया था कि समग्र श्रोता आनन्दमुग्ध हो गये थे। एक मौलवी साहब को "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" (१०७-१७) वाली आलङ्कारिक उक्ति इतनी अच्छी जँची कि वे लगभग घण्टे भर अपनी परिस्थिति भूलकर उसी आनन्द में झूमते रहे थे। मिश्रबन्धुओं ने ठीक ही कहा है कि 'इनकी रचनाओं के प्रति पृष्ठ, प्रति पंक्ति बल्कि प्रति शब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है'। (हिन्दी नवरत्न द्वितीय संस्करण पृष्ठ ११६-१२०)। और, तारीफ यह कि अलङ्कारों ही की कौन कहे सभी प्रकार के काव्यगुण, जान पड़ता है स्वाभाविक रूप से

---

[१] राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
२३-६

उनकी रचना में हाथ बाँधे चले आ रहे हैं। गोस्वामी जी ने किसी भी अलङ्कार अथवा किसी भी अन्य काव्यगुण अथवा उपयुक्त शब्द के लाने के लिए कभी कोई विशेष प्रयास किया हो ऐसा कहीं भी नहीं जान पड़ता। कई स्थलों पर तो अलङ्कारादि काव्यगुण इस खूबी से बैठ गये हैं कि जान पड़ता है कि स्वतः कलाकार का भी उनके अस्तित्व का पता नहीं लगने पाया था।

चरित्र-चित्रण में भी गोस्वामी जी ने कमाल ही किया है। जो चरित्र बड़े-बड़े सत्कवियों की कमल से भी धुँधले ही होकर निकले हैं वे गोस्वामी जी की कलम का संयोग पाकर एकदम उज्ज्वल होकर चमक उठे हैं। दशरथ जी ही की ओर देखिये। वाल्मीकि रामायण के दशरथ जी कहते हैं :—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्यमाम् ॥

अयोध्याकाण्ड स० ३४ श्लोक २६

अध्यात्म-रामायण के दशरथ कहते हैं :—

स्त्रीजितं भ्रान्त हृदयमुन्मार्ग परिवर्तिनम्।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत् ॥६९॥
एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन ॥

अयो० स० ३ श्लोक ६९ और ७० पूर्वार्ध

रामचरित मानस के दशरथ जी कहते हैं :—

सुनि सनेहबस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥
सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। रामु चराचर नायकु अहहीं ॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय विचारी ॥
करइ जो करमु पाव फलु सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई ॥

औरु करइ अपराध कोउ, और पाव फलु भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानइ जोगु ॥
२००-४ से ८

मानसहंसकार ने ठीक ही कहा है कि "ऊपर के दोनों दशरथों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर दीख पड़ेगा कि उनका सत्यप्रेम पुत्रप्रेम के सामने बिलकुल ही लज्जित हो गया, अतएव उनकी धर्मनिष्ठा धूर्तता से कलंकित हो गई" (पृष्ठ १५७) परन्तु "गोस्वामी जी के दशरथजी में मनलज्जा, जनलज्जा, सत्यप्रियता, पिता पुत्र की मर्यादा राम सम्बन्धी आदर और प्रेम; कैकेयी के चिढ़ जाने का भय आदि के भाव कैसे मनोहर और मार्मिक रीति से दिखलाये गये हैं।" पृष्ठ १५८)। कौशल्या जी की ओर देखिये। वाल्मीकीय रामायण की कौशल्या जी कहती हैं :—

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहं।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितोवनम् ॥ २५ ॥
यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्राय मिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितांपतिः ॥ २८ ॥
अयोध्या० स० २१

अध्यात्म रामायण की कौशल्या जी कहती हैं :—

पितागुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेहमहं सुतम् ॥ १२ ॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लंघ्य नृपवाक्यतः।
तदाप्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम् ॥ १३ ॥
अयो० स० ४

रामचरितमानस की कौशल्या जी कहती हैं :—

"तात जाउ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका॥
राज देन कहि, दीन्ह बन, मोहिं न मो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचण्ड कलेसु॥
जौं केवल पितु आयसु ताता। तौं जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
(१८१-१३ से १९)

मानसहंसकार ठीक ही कहते हैं कि 'उन दोनों रामायणों में कौशल्या देवी अपने मातृत्व का अधिकार स्थापित करके और आत्महत्या का भय दिखलाकर रामजी को पित्राज्ञा से पराङ्मुख करने का प्रयत्न करती हैं। वाल्मीकि की कौशल्यादेवी तो एक कदम आगे ही बढ़ गई हैं क्योंकि वे रामजी को घोर नरक में डालने के लिये भी तैयार हो जाती हैं। राम-माता समझ कर उनका आदर कोई भी करेगा ही, परन्तु इन दोनों में से किसी पर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। हरएक के मुख से यही उद्गार निकलेगा कि इनमें से पहिली (अध्यात्म रामायणवाली) आत्मघातिनी है तो, दूसरी (वाल्मीकीय रामायणवाली) आत्मघातिनी होकर पुत्र को निरयदायिनी भी है" (पृष्ठ १६०) परन्तु "लोकसंग्रह के लिये गोस्वामी जी को वह कौशल्या देवी पसन्द हुई जो रामजी के अपने सब हक कैकेयी के चरणों पर शान्ति और स्वेच्छा से अर्पण कर दे, और जो स्वयं भरत जी की माता और रामजी की कैकेयी बन जावे।" (पृष्ठ-१६२)।[1] स्वयं रामजी की ओर ही देखिए। महर्षि वाल्मीकि जी के रामचन्द्र कहते हैं :—

---

[1] मानसकार की भाषा में हमने आवश्यकतानुसार कहीं कहीं कुछ परिवर्तन कर दिया है।

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥
अयोध्या० स० ११२ श्लोक १८

क्या गोस्वामी तुलसीदास जी भी भरत के समान भावुक भक्त को अपने राम के मुख से ऐसा रूखा जवाब दिला सकते थे ?

चरित्र-चित्रण के उत्कर्ष के लिये यदि घटनाओं में भी कुछ फेर-फार करने की आवश्यकता हुई तो गोस्वामी जी ऐसा करने में बिलकुल नहीं हिचके हैं। चित्रकूट की सभा में यदि जनकजी न पहुँचाये जाते तो अयोध्या की असामान्य घटनाओं के प्रति उनकी ऐसी विरक्ति आक्षेप योग्य ही कही जा सकती थी। जनकराज—सभा में परशुरामजी का प्रवेश भी ऐसी रोचक घटना है जो गोस्वामी जी के प्रबन्धकौशल का परम पाटव प्रकट किये बिना नहीं रहती। उन्होंने हर तरह से अपने प्रत्येक पात्र को सर्वाङ्ग सुन्दर और सजीव बना कर आँखों के सामने खड़ा कर दिया है। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं "स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्याकाण्ड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिन्दी कवि में नहीं पाते।" (प्रस्तावना १९८ पृष्ठ)। स्त्रियाँ ही क्यों पुरुषों के सम्बन्ध मे भी बहुत कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है। यदि मन्थरा का चरित्र अपने रंग का निराला है तो रावण का चरित्र भी अपने ढंग का अद्वितीय है। यदि कैकेयी अपनी विशेषता लिये हुए है तो निषादराज गुह भी अपनी अलग ही छटा दिखा रहे हैं। यदि सीता का अपना निराला माधुर्य है तो भरत और लक्ष्मण भी अपनी अपूर्वता उसी उज्ज्वलता के साथ प्रदर्शित कर रहे हैं। जिस ओर देखिये उसी ओर गोस्वामीजी की चरित्र-चित्रण-चातुरी पर चमत्कृत होना पड़ता है।

गोस्वामी जी ने अपने वर्णन के लिये जो कथानक चुना है उसके महत्ता के विषय में तो जितना कहा जाय उतना ही कम है। "कवि

की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है। जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं?" (आचार्य शुक्लजी—तुलसीग्रंथावली प्रस्तावना पृष्ठ १५२)। यह सिद्धान्तविषय है कि 'वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं। उनका भला या बुरा होना, उनके आलम्बन पर निर्भर है।" (कल्याण भाग ६ संख्या ४ पृष्ठ ८३६)। सो अपनी श्रद्धामय वासनाओं के अर्पण के लिये आदि कवि ने जिस सर्वतो मुखी उज्ज्वल आलम्बन की खोज करते हुए प्रश्न किया था :—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥ २॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः॥ ३॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
यस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥ ४॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतु परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम्॥ ५॥

(वा० रा० बालकाण्ड प्रथम सर्ग)

उसका उत्तर रामचरित ही में मिला और कहीं नहीं। "शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के सम्बन्ध द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है।" (तुलसी ग्रन्थावली, प्रस्तावना १६०-१६१)। "आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनों का सम्बन्ध रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अन्तर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिये और अपने सम्बन्ध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिये। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास

नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील हैं, परन्तु लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, जो सात्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्विकशीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ पर अपने पीछे दस पाँच आदमियों के बीच दस पाँच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायँगे। ऐसे ऐकान्तिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है" (आचार्य शुक्ल जी, तुलसी ग्र० प्रस्तावना १८७-१८८)। रामचरित का कथानक न केवल व्यक्ति के उन्नयन की सामग्री से भरपूर है वरन् समूचा समाज ही उसके द्वारा अपने उन्नयन के अनेकानेक साधन प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः तो यह समझना चाहिये कि धर्मतत्त्व की व्यावहारिक प्रक्रिया के प्रदर्शन के लिये ही रामचरित का कथानक इस संसार में अवतीर्ण हुआ है। तुलसीमत के स्पष्टीकरण के लिये यही एकमात्र उपयुक्त कथानक था क्योंकि सिद्धान्तरूप से तुलसीमत जिस बात को स्थापित करना चाहता है आचार रूप से वही बात रामचरित के कथानक ने कर दिखाई है। तुलसीमत और रामचरित परस्पर सम्बद्ध होकर एक दूसरे से इस प्रकार घुले मिले हैं कि वे एक दूसरे के आश्रित ही नहीं वरन् एक दूसरे के प्रतिरूप भी कहे जा सकते हैं।

कान्तासम्मित उपदेशप्रणाली[1] के लिये कथानक का सहारा लेकर चलना बहुत अच्छा माना गया है। अन्योक्तियाँ जितनी हृदयग्राहिणी और मर्मवेधिनी होती हैं उतनी स्मृतिवाक्यों की पंक्तियाँ नहीं। दृष्टान्तों के द्वारा और कहानियाँ कहकर हम जिस सरलता से किसी किसी सिद्धान्त को

---

[1] काव्य के लक्षण में "कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" की बात प्रसिद्ध ही है। प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेशप्रणाली की अपेक्षा कान्तासम्मत उपदेशप्रणाली बहुत प्रशस्त मानी जाती है।

हृदयङ्गम करा सकते हैं उस सरलता से शास्त्रीय पद्धति के द्वारा हम उस सिद्धान्त को हृदयङ्गम नहीं करा सकते। इस अभिप्राय से जो कथानक कहे जाते हैं उनका मुख्य उद्देश्य होता है अभीष्ट सिद्धान्त को हृदयङ्गम बनाना न कि कथानक की ऐतिहासिकता को स्पष्ट करना। इसलिये ऐसे कथानकों की सत्यता की माप निराली ही रहा करती है। जो कथानक सिद्धान्त को हृदयङ्गम बनाने में जितना सफल होगा वह उतना ही सत्य समझा जावेगा भले ही उसकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो। महात्मा गांधी कहते हैं कि "अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नहीं। सवाल यह नहीं है कि अजामिल हुआ था या नहीं, पर यह है कि ईश्वर का नाम लेता हुआ वह पार हो गया या नहीं। पौराणिक ने मनुष्य जाति के अनुभवों का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना करना इतिहास की अवहेलना करना है।" (धर्मपथ पृ० ५१, गोस्वामी तुलसीदास जी भी इस तत्त्व को भली भांति समझते थे इसलिये रामचरित के कथानक को उन्होंने कहीं भी "इतिहास" नहीं कहा है। मानव प्रकृति एक बार जिसको महत्ता प्रदान करती है उसकी महिमा उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये वह नये नये तर्क और भाव भी सम्मिलित करती जाती है और इन तर्कों और भावों के लिये यदि उस पदार्थ के रूप गुण क्रिया या इतिहास में कुछ परिवर्तन भी करना पड़े तो वह बेधड़क कर देती है। गोस्वामी जी ने अपने रामचरित के कथानक के साथ भी यही किया है। उसे अपने सिद्धान्तों के अनुकूल सर्वाङ्ग सुन्दर बनाकर वे कहते हैं :—

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहि जे ग्यानी। नहिं आचरज करहि अस जानी॥
राम कथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायण सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥
राम अनन्त अनन्त गुन, अमित कथा विस्तार॥
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार॥
२१-१२ से १६

इस प्रकार गोस्वामी जी ने बड़े कौशल के साथ जहाँ एक ओर इतिहास और कल्पना का सर्वाङ्गसुन्दर सम्मेलन करा दिया है वहाँ दूसरी ओर कथानक के ऐसे ही सर्वाङ्गसुन्दर सम्मिलित रूप की ओर भावुक भक्तों की श्रद्धा भी अक्षुण्ण रख ली है। भगवान् रामचन्द्र अवश्य ही ऐतिहासिक महापुरुष थे परन्तु उनके चरित्रों का जो कथानक रामचरितमानस में प्रकट हुआ है वह समूचा का समूचा इतिहास की दृष्टि से सत्य है अथवा नहीं इस प्रश्न पर विचार किये बिना भी हम कह सकते हैं कि वह भावना दृष्टि से एकदम सत्य है क्योंकि वह तुलसीमत के सर्वथा अनुकूल होकर उसको सरलतापूर्वक हृदयङ्गम कराने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर चुका है। ऐसे सुन्दर और सच्चे कथानक की लपेट में इस कलापूर्ण ढङ्ग से कहा जाने के कारण ही तुलसीमत आज प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी भारतीय के हृदय में इस प्रकार घर किये हुए है।

"तुलसी के मानस से रामचरित की जो शीलशक्ति सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवनव्यापकता ने तुलसीमत की वाणी को राजा, रङ्क, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पण्डित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया। किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—सम्पत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में जहाँ देखिये, वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को

स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है, उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है. विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है दया से आर्द्र होती है. बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानवजीवन के महत्त्व का अनुभव करती है।" (आचार्य शुक्ल—प्रस्तावना पृष्ठ ४) 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारतहृदय भारतीकंठ भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।" (आचार्य शुक्ल—तु० ग्रं० तृतीय भाग—प्रस्तावना पृ० २४१)।

जिस अद्वितीय कलाकार के सम्बन्ध में हरिऔधजी ने यथार्थ ही कहा है कि ' कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला" (तु० ग्रं० तृतीय भाग द्वितीय लेख पृष्ठ ३) वह अपने तत्त्व सिद्धान्त की महत्ता का अनुभव करता हुआ अपने कलाकौशल को—अपने कवित्व को—गौणत्व ही प्रदान कर रहा है। तुलसी का कवित्व तुलसीमत के चरणों पर आप ही आप नतमस्तक हुआ जा रहा है। जिस मत की ऐसी महिमा है उसकी असाधारणता के विषय में जो कुछ कहा जाय थोड़ा ही है। लोककल्याणकारिणी हरिचर्चा ही को गोस्वामी जी ने काव्य का प्रकृत उद्देश्य माना है और आजीवन इसी साधना में रत रहकर उन्होंने अपने को यथार्थ ही सरस्वती का वर पुत्र सिद्ध कर दिया है। जो एक किम्वदन्ती के अनुसार, यौवन की नयी उमंग में भावोद्रेक की प्रबलता के कारण, साँप को रस्सी और मुर्दे को नाव समझ बैठे थे वे यदि आगे चलकर जगत् के सर्पभ्रम के भीतर की वास्तविक रस्सी देख लें और इस शरीररूपी मुर्दे को भवसागर की सच्ची नाव बना डालें तो क्या आश्चर्य ! जिनका भावोद्रेक यौवन में

भी इतना प्रबल था कि वह जगत् को एकदम रामायण बना रहा था वे यदि ज्ञानोदय के बाद अपने उसी भावोद्रेक के कारण जगत् को राममय देखने लगे तो क्या आश्चर्य ! गोस्वामी जी ने जैसी असाधारण भावराशि पाई थी वैसी ही विलक्षण कुशाग्र बुद्धि भी पाई थी। वे न केवल परम सन्त थे वरन् परम विद्वान् भी थे। उनमे श्रद्धा और तर्क का अपूर्व संयोग था। हृदय और मस्तिष्क के इसी अनुपम समन्वय के कारण उनकी साधना उत्तरोत्तर उन्नति करती गई और उन्नति करते-करते जब प्रौढ़ावस्था में वह इस रूप में आई कि जगत् कल्याण में संलग्न "स्व" के "अन्तःसुख" के लिये उमड़े बिना उससे न रहा गया तब मानस का मानसरोवर रामचरितमानस के रूप में बाहर बह आया। वह देश धन्य है जहाँ तुलसीदास के समान सन्तप्रवर कविसम्राट ने जन्म लिया और वह साहित्य धन्य है जिसके अंचल में तुलसीमत के अनुपम मूल्य से मूल्यवान् रामचरितमानस के समान अविनश्वर ग्रंथरत्न देदीप्यमान् है।